इस ग्रन्थ में गृहीत कल्पनाएँ

१. आस्तिक्य बुद्धि।
२. ऐहिक दृष्टि।
३. प्रगति-मान्यता।
४. संघटन और नियन्त्रण की आवश्यकता।
५. मनुष्य की समाजशीलता और सेवा भाव।
६. मनुष्य की स्वतन्त्रता और समता सम्बन्धी इच्छा।
७. परम्परा और परिस्थिति का महत्व।
८. ध्येयशीलता।
९. न्यायशीलता।
१०. मनुष्य का स्वार्थ भाव, परार्थ भाव और परमार्थ भाव।
११. स्वदेश-प्रेम।
१२. मानव जाति की एकात्मता।
१३. प्रयत्नवाद।
१४. नीति की आवश्यकता।

यह पुस्तक प्रस्तुत करने में जिन ग्रंथों से सहायता ली गई है, उनमें से कुछ ग्रंथों के नाम।

1 W H. Hadow · *Citizenship*; 1923 (Clarendon Press).

2. Herbert Fisher : *The Commonweal*, 1924. (Clarendon Press)

3 E. M. White . *The Philosophy of Citizenship*, (George Allen and Unwin) 1921

4 E M. White *The Teaching of Modern Civics*

5 E M. White . *The Foundation of Civics*, (Syndicate Publishing Co London)

6 L P Jacks *Constructive Citizenship*, (Hodder and Stoughton).

7 Sir Henry Jones *The Principles of Citizenship*; (Macmillan)

8 J S Lang · *Citizenship*, (Macmillan)

9 C. C Tayler and B F Brown · *Human Relatioons*; (Harper and Brothers)

10 J S. Mackenzie *Foundamental Problems of Life.*

11 R. M. MacIver : *The Elements of Social Science*

12 S V Puntambekar . *An Introduction to Civics and Politics*, (Indian Press, Allahabad).

13 S. V. Puntambekar *An Introduction to Indian Citizenship and Civilisation*; *2 Vols* (Nandkishore & Brothers, Benares).

14 Benjamin Jowett *Aristotle's Politics* (Clarendon Press)

15 Stephen Leacock *Elements of Political Science,* (Constable)

16 H J Laski *A Grammar of Politics*

17 A D Lindsay *The Essentials of Democracy*

18 C Delisle Burns *Political Ideals.*

19 G D H Cole *Social Theory* ; (New York)

20 F H Giddings' *Principles of Sociology,* (New York)

21 महाभारत, शांतिपर्व।

22. मानवधर्मशास्त्र (मनुस्मृति) ।

23 कौटिलीय अर्थशास्त्र ।

24 वात्स्यायन-प्रणीत कामशास्त्र ।

25 S Radhakrishnan *Hindu View of Life*

विषय-सूची

प्रस्तावना

हमारे आस-पास का संसार आजकल बहुत तेजी के साथ बदल रहा है और उसके अनुसार हमारा मन भी धीरे धीरे बदल रहा है। नवीन परिस्थिति और पुरानी परम्परा, नवीन नीति और पुरानी रीति के संयोग अथवा कलह से अनेक नई कल्पनाएँ और नये मेल पैदा हो गये हैं और हमें अपने चारों ओर उनका संचार होता हुआ दिखाई दे रहा है। आजकल उन लोगो की बहुत दुर्दशा हो रही है, जो सिर्फ पुरानी लकीर के फकीर हैं। परम्परा-प्रिय लोगों को बहुत असमंजस सी जान पड़ने लगी है। रूढि-भक्त लोग न तो किसी प्रकार का परिवर्त्तन होने देना चाहते हैं और न आगे बढ़ना चाहते हैं। उधर ध्येयवादी सब कुछ एक साथ ही सिद्ध कर लेना चाहते हैं। मध्यम वृत्ति के लोग संकोच और संशय के कारण कर्त्तव्यमूढ हो गये हैं। और स्वार्थी लोग जिधर अपना लाभ देखते है, उधर ही लुढक पड़ते हैं।

इस नवीन काल की प्रवर्त्तक बातें और कल्पनाएँ पाश्चात्य लोग यहाँ लाये हैं। उन लोगों मे पहले मुख्यतः व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकसत्ता स्थापित हुई और तब व्यक्तियों की समता, समाज-सत्ता और मानवी हित की कल्पनाएँ उत्पन्न हुई। इन सब बातों के द्वारा देश में प्रत्येक व्यक्ति की स्वतन्त्रता,

समता तथा सुख और संसार के प्रत्येक राष्ट्र को सत्ता, स्वतन्त्रता और सामर्थ्य प्राप्त करने में सहयता मिली। बस आजकल इन्ही कल्पनाओ की प्रवलता है। इसी लिए आज समाज में उच्च और नीच, धनवान और धनहीन, शिक्षित और अशिक्षित, अग्रज और अन्त्यज की कल्पनाओं की प्रशंसा करना कम हो गया है और उसके वदले में प्रत्येक मनुष्य के श्रम, सुख, सुभीते और निर्वाह का प्रमाण, उसके शरीर तथा मन की शक्ति के अनुसार और आवश्यकता के अनुसार, निश्चित किया जा रहा है। उसकी वाल्यावस्था की सभी चीजों (जैसे अन्न, वस्त्र, औषध, व्यायाम, शिक्षा आदि) की व्यवस्था समाज की ओर से हो रही है। साथ ही उसके लिए गृहस्थ-आश्रम मे उदर-निर्वाह करने के सव साधन, उसके राजकीय अधिकार और कर्त्तव्य और उसकी वृद्धावस्था तथा आरोग्य आदि की सारी चिन्ता करने की पूरी पूरी व्यवस्था और भार समाज के ऊपर रखने की कल्पना भी रूढ हो रही है। पाश्चात्य लोगों की इन नवीन कल्पनाओं और उनके अनुसार होनेवाले उनके संघटन के कारण हमारे यहाँ की प्राचीन काल की कौटुम्बिक, जातीय, आर्थिक, राजकीय और धार्मिक संस्थाएँ तथा विचार धीरे धीरे नष्ट हो रहे हैं।

इस प्रकार इस नवीन युग के सामान्य मनुष्यों के सामने यह प्रश्न सहज में ही उत्पन्न होता है कि हमारे लिए कौन सा कार्य और कौन सा व्यवहार उचित है। सामान्य मनुष्य के लिए इस

प्रश्न की मीमांसा करना बहुत ही कठिन होता है। इसलिए इस विषय का सांगोपांग विवेचन होना चाहिए। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो प्रत्येक मनुष्य के सामने सदा यह प्रश्न बना रहता है कि उत्तम कार्य और व्यवहार कैसा होना चाहिए। इसलिए एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता होती है जो यह बतलावे कि सामान्य मनुष्य का सार्वजनिक जीवन कैसा होना चाहिए। इसी को हम लोकनीतिशास्त्र या नागरिक नीतिशास्त्र कहेंगे। पर यह शास्त्र ऐसा होना चाहिए कि इसके उचित अध्ययन से और इसके अनुसार आचरण करने से प्रत्येक नागरिक का जीवन उत्तम और सुखकर हो।

नागरिक नीति जन-साधारण को सब प्रकार से अच्छी अवस्था में रखने और उनका हित करने और उनके सामाजिक अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से आकलन करने की ओर प्रवृत्त हुई है। उसमें मनुष्य के विशेष पद-प्राप्ति अथवा प्राधान्य का, उसके विशेष अंगों का, कला-कौशल का अथवा संस्कृति का, उसकी अन्तिम कार्यक्षमता, सामर्थ्य अथवा गुणों का विचार नहीं किया जाता। हाँ, उसमें सामान्य व्यावहारिक जीवन में दिखाई पड़ने-वाले सामाजिक गुणों और उस जीवन को सहायता पहुँचानेवाली संस्थाओं का स्वरूप निश्चित करके उनकी आवश्यकता, उनके प्रकार और उनके उपयोग का विवेचन किया जाता है। इस विवेचन में विशेष प्रकार के अधिकारी, गुणी, ज्ञानी अथवा व्यवसायी मनुष्यों

के कार्यों, अधिकारों और कर्त्तव्यो का विचार नहीं किया जाता। पर उन बातो का विचार अवश्य करना पड़ता है जिनकी आवश्यकता मनुष्य के सामान्य जीवन को सुखी, सुसंस्कृत और कार्यक्षम बनाने मे होती है। इससे सामान्य मनुष्य के जीवन के सुखकर और परोपकारी बनने में सहायता मिलती है। यदि समाज मे रहनेवाले विशेष गुणों, अधिकारों और व्यवसायोंवाले लोगों को छोड़ दिया जाय तो भी आजकल के लोकसत्ता के युग में इस प्रकार के विवेचन और व्यवस्थित वर्गीकरण की बहुत अधिक आवश्यकता होती है कि बाकी बचे हुए बहुजन समाज को किन किन भागो मे बाँटा जाय, उनके अधिकार और कर्त्तव्य क्या निश्चित किये जायँ, समाज-सत्ता और सामाजिक नियन्त्रण में उन्हें कौन सा स्थान दिया जाय और समाजकृत स्वतन्त्रता का उन्हे कितना अंश मिले। इसका कारण यह है कि यदि लोकसत्ता का उपयोग मनुष्य के सुख और उन्नति की दृष्टि से होने को हो तो सामान्य मनुष्य को नीति और ज्ञान की दृष्टि से इतना उन्नत और इस बात का अधिकारी होना चाहिए कि वह लोक-समुदाय के सार्वजनिक हित की रक्षा करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सके और इस जिम्मेदारी को निवाह सके। लोकसत्ता-वादी यही उचित समझते हैं कि प्रत्येक सामान्य मनुष्य को समाज के समस्त व्यवहारो और कार्यों में स्थान मिले। वे सामान्य मनुष्यों को इस काम के लिए असमर्थ अथवा अयोग्य नही समझते। इसके विपरीत उनका यह

मत है कि यदि सामान्य मनुष्यों को भी ऐसे कामों में हिस्सा दिया जाय तो वे अनुभव तथा उत्तरदायित्व के योग से अधिक उत्साही, कार्यक्षम और समाजशील हो जाते हैं।

सामान्य मनुष्य मुख्यतः गार्हस्थ्य वृत्ति का होता है और किसी न किसी प्रकार का व्यावसायिक तथा सामुदायिक जीवन व्यतीत करता है। वह समाज को छोड़कर उससे अलग रहनेवाला साधु अथवा संन्यासी नहीं होता। प्रत्येक देश मे बहुत बड़ी संख्या प्रायः ऐसे ही लोगों की हुआ करती है। अतः इसी बहुजन समाज के हित और लोक-यात्रा की दृष्टि से हमें समस्त प्रश्नों का यहाँ विचार करना है।

आजकल के अधिक पेचीले व्यवहारों और संघटनों में सामान्य मनुष्यों के जीवन का प्रश्न बहुत विकट हो गया है। यदि वह जीवन उचित प्रकार से न व्यतीत किया जाय तो देश में अधिक दुःख और दरिद्रता, अस्वस्थता और असन्तोष की वृद्धि होगी। इस जीवन को उचित प्रकार से सहकारितापूर्वक और हेल-मेल से व्यतीत करने के योग्य बनाने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि सामान्य मनुष्यो और जनता को समाज-नीति, समाज-मानस-शास्त्र या समाज-मनोविज्ञान, सामाजिक परिज्ञान और सामाजिक संस्थाओ तथा समाज की आवश्यकताओं और शीलता की कुछ शिक्षा दी जाय। इस प्रकार की शिक्षा से सामान्य मनुष्य और जनता यह समझ सकेगी कि समाज का हित करने के लिए समाज

के एक पालक, घटक अथवा सेवक के रूप मे किस प्रकार का आचरण या व्यवहार करना चाहिए। तभी सामान्य मनुष्य की बुद्धिमत्ता और समाजशीलता के आधार पर तैयार की हुई आधुनिक सामाजिक व्यवस्था के तथा और सब काम ठीक तरह से पूरे उतरेंगे। यदि सामान्य मनुष्यो मे कुछ भी बुद्धिमत्ता और नीतिमत्ता, समाजशीलता और न्यायशीलता, सार्वजनिक हित-पालन की बुद्धि और लोकसेवा का भाव न हो अथवा शिक्षा और अनुभव से उनमें ये सब बातें न आ सकती हों तो लोकसत्ता की व्यवस्था और दूसरे सब काम समाज के लिए घातक और दु खद हो जायँगे। सामाजिक सत्ता और व्यवहार अज्ञानी तथा असमर्थ लोगों के हाथ में जाने मे बहुत बड़ी जोखिम है और इससे समाज का ह्रास तथा नाश होता है।

इसी लिए इस शास्त्र का यह उद्देश्य है कि वह कुछ ऐसे अधिकार और कर्त्तव्य, कुछ ऐसी सत्ता और स्वतन्त्रता निश्चित कर दे जिसमे सामान्य मनुष्यो के व्यवहारो और कार्यों मे किसी प्रकार की गड़बड़ी या अव्यवस्था न उत्पन्न हो। साथ ही इस शास्त्र का यह भी उद्देश्य है कि वह सामान्य मनुष्यो से कुछ ऐसे काम भी करावे जिनसे समाज का पालन-पोषण और सेवा हो। इस शास्त्र का काम यही है कि वह बहुजन समाज में समता और सेवा की भावना उत्पन्न करे और उन्हें इसी प्रकार की भावनाओ के साँचे में ढाल दे।

सामान्य मनुष्य सदा सामाजिक वृत्ति का होना चाहिए। सामान्य मनुष्य ऐसा होना चाहिए जो किसी के साथ मित्र भाव और सहकारिता से रहे, अपनी प्राप्ति अथवा आय का समाज के हित की दृष्टि से उपयोग करे और स्वयं अपने आप मे संयम, दया, सेवा-भाव और सद्गृहस्थ का भाव रखनेवाला हो।

नागरिक नीतिशास्त्र की सहायता से समाज सम्बन्धी सभी प्रकार के ज्ञान प्राप्त होते हैं और सामान्य मनुष्य के सामुदायिक हित की दृष्टि से उनका उपयोग होता है। यह शास्त्र मनुष्यों के जीवन और उनकी संस्थाओं में सुधार करने के मार्ग दिखलाता है। समाज के पालन करने के योग्य जो कार्य है, उन्हे वे न्याय, नीति-निर्वन्ध और नियन्त्रण के रूप में दिखलाता है और उनके पोषणात्मक कार्यों को वह ऐसे रूप मे उपस्थित करता है जिससे धर्म, अर्थ, शिक्षा, आरोग्य और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है।

नागरिक नीति की मूल कल्पना में समाज की प्रगति या उन्नति की दृष्टि से इस वात का विचार होता है कि सामान्य नागरिकों की अपने पड़ोसियों और देश-बान्धवों के साथ किस प्रकार मित्रता और सहकारिता हो सकती है और कामों को पूरा करने के लिए इस शास्त्र मे नागरिको के अधिकारों और कर्त्तव्यों की मर्यादा निश्चित कर दी जाती है। उसके शील तथा बुद्धि को अच्छी वातों की ओर प्रवृत्त किया जाता है और उसमे संयम, व्यवस्था, सेवा-भाव और त्याग-वृत्ति उत्पन्न की जाती है।

इसके विपरीत राजनीति शास्त्र की मूल कल्पना में समाज की रक्षा की दृष्टि से इस बात की ओर ध्यान दिया जाता है कि समाज की अधिसत्ता के अधिकार और नियन्त्रण तथा नागरिको की स्वतन्त्रता और कर्त्तव्य में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जाय; और इस काम के लिए राज्यतन्त्र के निग्रहानुग्रहात्मक निर्वन्ध तथा कार्य, उसके नियामक, शासक तथा निर्णायक अंगों की व्यवस्था तथा परस्पर सम्बन्ध और उसकी शान्ति, सुव्यवस्था, उन्नति और सम्पन्नता सम्बन्धी सब बातें निश्चित की जाती हैं।

प्रगति या उन्नति की दृष्टि से मित्रता, सहकारिता, स्वतन्त्रता, कर्त्तव्य, शिक्षा और सेवा आदि की आवश्यकता होती है। रक्षा की दृष्टि से निर्वन्ध, नियन्त्रण, अधिकार और शासन की आवश्यकता होती है। और इन्हीं सब बातों की सहायता से दुष्टों का दलन और साधुओं तथा सामान्य जनता की रक्षा होती है। इस प्रकार इन दोनों शास्त्रों का यह दोहरा उपयोग है। तिस पर आजकल के आचार-विचार की स्वतन्त्रता के समय मे प्रगति या उन्नति का मार्ग दिखलानेवाले लोकनीतिशास्त्र का और भी अधिक महत्व है।

नागरिक नीति

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

आधुनिक जगत में मनुष्य का मन अधिक स्वावलम्बी और स्वतन्त्र तथा उसका व्यवहार अधिक परावलम्बी और अन्योन्याश्रयी हो गया है। इसी लिए उसकी प्रगति का अभिप्राय स्वयं उसकी अपनी मानसिक परिणति और पारमार्थिक कल्याण से ही नहीं है, बल्कि उसकी उस प्रगति में उसके सामुदायिक जीवन की वृद्धि और उच्चता तथा उसके सामाजिक व्यवहार का प्रसार भी सम्मिलित है। अब हम लोगों का पारस्परिक सम्बन्ध केवल अपने कुटुम्ब और ग्राम तक ही नहीं रह गया है, बल्कि उसका प्रसार हमारे कुल, जाति, गोत्र और ग्राम को पार करके अन्य जातियों और लोगों के साथ भी हो गया है; और नगर, प्रान्त तथा देश भर में फैल गया है। और आजकल तो वह संसार के अनेक राष्ट्रों के जीवन प्रवाह में भी मिलने लग गया है। अब हमारा वह सम्बन्ध बहुत ही पेचीला और सूक्ष्म प्रकार का हो गया है, और बराबर सूक्ष्म तथा निकट का होता चला जा रहा है।

हमारे देश के नगरों और प्रान्तों के भिन्न भिन्न लोगों तथा लोक-समूहों का पारस्परिक सम्बन्ध अधिक बढ़ गया है और हमारे देशवालों का अन्य देशों के निवासियों के साथ मेल-जोल और व्यवहार आरम्भ हो गया है; और इसी लिए उस सम्बन्ध तथा मेल-जोल और व्यवहार को सरलतापूर्वक चलाने, बनाए रखने और उचित रूप से उसका पोषण

करने के लिए कुछ नियमों, कुछ ध्येयों और कुछ कर्त्तव्यों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। इसके सिवा मनुष्यों के सामाजिक जीवन को अन्योन्याश्रयी और उत्तम कोटि का बनाने के लिए कुछ नैतिक बन्धनों की भी आवश्यकता होती है। इस प्रकार के नियमों, ध्येयों और बन्धनों को सकलित करके जो रूप दिया जाता है, उसे शास्त्रकार लोग राष्ट्रनीति और परराष्ट्र नीति कहते हैं।

प्रत्येक लोक-समुदाय मे उसकी बाल्यावस्था से ही इस प्रकार की नीति प्रचलित रहती है और वह उसके कुल, जाति, ग्राम और नगर के आचार और व्यवहार में अन्तर्भुक्त होती है। इसी लिए प्रत्येक लोक-समुदाय के लोगों का उनके स्वभाव, आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार एक नैतिक परम्परा और एक विशेष प्रकार का स्वभाव भी होता है। धीरे धीरे उन लोगों मे इस प्रकार के नियम आदि भी बनने लगते हैं कि जन-साधारण को आपस में किस प्रकार व्यवहार करना चाहिए, समाज के हित की दृष्टि से ऐसे कौन से व्यवहार हैं जो सामान्य है, और साथ ही समाज के शासकों और अधिकारियों के व्यवहार और अधिकार कैसे होने चाहिएँ। लोगों के अधिकारों और कर्तव्यों, उनकी मर्यादा और स्वतन्त्रता मे उचित सामंजस्य स्थापित करना ही नीति सम्बन्धी इन नियमों का मुख्य उद्देश्य होता है।

जब किसी नई परिस्थिति के उत्पन्न होने के कारण इन सम्बन्धो या व्यवहारों में कुछ परिवर्तन होते हैं अथवा किसी नवीन लोक-समूह के साथ सम्बन्ध होने के कारण उनमे कुछ वृद्धि होती है, तब इन नियमों के स्वरूप, मर्यादा और क्षेत्र में भी परिवर्तन और वृद्धि करनी पड़ती है। इसी लिए समाज-शास्त्र के प्रत्येक पंडित को इस बात का विचार करना पड़ता है कि समाज के इस बढ़ते हुए सम्बन्ध को किस ओर प्रवृत्त किया जाय और उसका नियमन किस प्रकार हो, और इसी प्रकार के कारणों से एक नवीन लोकनीति-शास्त्र उत्पन्न होता है।

आज हमारे देश के लोगों का जो पारस्परिक सम्बन्ध और व्यवहार है और दूसरे देशों के लोगों के साथ हमारा जो सम्बन्ध स्थापित हुआ है, वह उत्तम रूप से और सुख तथा समाधानपूर्वक चलना चाहिए, क्योंकि हम लोगों के एक दूसरे के साथ सम्बन्ध बिल्कुल एक में मिले-जुले हैं। इसके लिए हम लोगों का पारस्परिक प्रेम भाव, साहचर्य और हेल-मेल बढ़ना चाहिए और आपस की द्रोह-बुद्धि कम होनी चाहिए। और इसी दृष्टि से यह निश्चित होना चाहिए कि हम लोगों को जिन नवीन संस्थाओं की आवश्यकता है, उनकी रचना कैसी होनी चाहिए; और शासकों, सत्ताधारियों तथा अधिकारियों के व्यवहार कैसे होने चाहिएँ और उनका अधिकार-क्षेत्र कहाँ तक होना चाहिए।

पहले हम लोग उन्हीं नियमों के अनुसार चलते थे जो हमारे धर्म-शास्त्र और अर्थशास्त्र ने निश्चित कर दिए थे। और उसी प्राचीन परम्परा का अनुकरण करते हुए हम लोग आज भी बहुत से अंशों में उन्हीं नियमों का पालन करते हैं। हम लोगों के आचार-विचार, आहार-विहार और व्यवहार आज तक अनेक प्रकार से उन्हीं नियमों पर अवलम्बित होते हैं। ये नियम निश्चित करते समय हमारे धर्म-व्यवस्थापकों और नीति-निपुणों ने मनुष्यों के पारमार्थिक, सामाजिक और वैयक्तिक ध्येयों के विचार से चार पुरुषार्थों और उन ध्येयों की प्राप्ति के मार्गों के रूप में चार वर्णों और चार आश्रमों की कल्पना तथा प्रतिपादन किया है। उन लोगों ने यही लोकनीति बतलाई है कि सब लोगों को उन्हीं ध्येयों को अपने सामने रखकर सारे व्यवहार करने चाहिएँ और इस वर्णाश्रम-व्यवस्था को संकरता से बचाते हुए प्रत्येक व्यक्ति और जाति को अपने स्वभाव (जन्म)-प्राप्त वर्ण-धर्म के अनुसार और काल के अनुरूप आश्रम-धर्म के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। इन ध्येयों, धर्मों और नीतियों में उन लोगों ने एकसूत्रता रखी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी इन सब

में परस्पर कोई विरोध नहीं है और ये विभाग तथा ये व्यवस्थाएँ एक ही अन्तिम ध्येय की ओर ले जानेवाली सीढ़ियाँ और उपाय हैं। इन सबको अपने अपने उचित स्थान पर रखना, इनमें पूर्वोत्तर सम्बन्ध बनाए रखना और इनमें विरोध न उत्पन्न होने देना ही समाज के संरक्षकों का कर्त्तव्य है।

हमारे देश के प्राचीन काल के समाज-नियामकों ने संसार नीति के प्रवृत्ति और निवृत्ति ये दो मार्ग निश्चित किए है और इन दोनों के सम्बन्ध में दो मुख्य प्रकार के शास्त्रों की रचना की है। प्रत्येक मनुष्य इन दोनों ही मार्गों की नीतियों का पालन करके पार पा सकता है। इनमें से नीति शास्त्र तो प्रवृत्ति मार्ग का शास्त्र है और मोक्ष शास्त्र निवृत्ति मार्ग का शास्त्र है। हमें इस स्थान पर मोक्ष शास्त्र के सम्बन्ध में विचार नहीं करना है, क्योंकि वह संसार से निवृत्त करानेवाला शास्त्र है। हमें तो नीति शास्त्र की ही आवश्यकता है, क्योंकि उसके मार्ग तथा नियम संसार के लिए और ऐहिक लोकयात्रा के लिए है। समाज और कुटुम्ब, वर्ण और जाति को सुख देनेवाले सम्बन्धों के ही नियम उसमें दिए हुए है। उसमें जिन आचारों, व्यवहारों और दंडों आदि का उल्लेख है, वे समाज के नित्य के जीवन के लिए और उसके संरक्षण तथा पोषण के लिए ही है। नीति शास्त्र के अंतर्गत धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र और काम शास्त्र नामक तीन शास्त्रों का अन्तर्भाव होता है। धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग की आवश्यकता समाज को स्थिर रखने और लोगों के व्यवहार के लिए होती है। इन शास्त्रों से प्रत्येक मनुष्य के लिए उसके गुण, कर्म, काल, जाति, वृत्ति और वय के अनुरूप धर्म बतलाए गए हैं। उनमें प्रधानतः नीचे लिखे विषय आते हैं—

(१) कुल और कुटुम्ब के धर्म अथवा आचार।

(२) वर्णों और आश्रमो के अनुसार सामान्य और विशेष समाज-धर्म।

(३) राजा और प्रजा के धर्म ।
(४) व्यवहार-धर्म, दंड और प्रायश्चित्त ।
(५) उत्तम ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के धर्म ।
(६) उत्तम ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी के धर्म ।
(७) उत्तम भर्त्ता, भार्या और भृत्य के धर्म ।
(८) वृत्ति-धर्म ।
(९) देश-काल धर्म ।
(१०) शत्रु, मित्र और उदासीन के धर्म तथा साम, दाम, दंड, और भेद आदि उपाय ।
(११) यज्ञ, स्वाध्याय, व्रत और तपस्या आदि के ढंग के पारलौकिक धर्म ।
(१२) सामान्य मनुष्य-धर्म अथवा नीति ।
(१३) धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों के पृथक् पृथक् महत्त्व और उनके पारस्परिक सम्बन्ध ।

हमारे देश में इन शास्त्रों की रचना करनेवाले बहुतेरे शास्त्रकार हो गए हैं। उदाहरण के लिए मनु और याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्रकार, शुक्र, बृहस्पति और कौटिल्य अर्थ-शास्त्रकार और वात्स्यायन सरीखे कामशास्त्रकार हो गए हैं। उन्हीं के बनाए हुए नियमों के अनुसार थोड़े बहुत अंशों में हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन चल रहा है। तो भी यहाँ यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि जिन मूलभूत तत्त्वों के अनुसार उन्होंने अपने इन शास्त्रों की रचना की थी, उन मूलभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में आजकल बहुत कुछ मत-भेद उत्पन्न हो गया है।

ऐसे विरोधियों के मत से यद्यपि सृष्टि की रचना में मूलतः विधाता का हाथ था, तो भी मानव समाज की उन्नति और व्यवहार में विशेष रूप से उसका कोई हाथ नहीं है। उनका कहना है कि मनुष्य अपने सुखों और दुःखों की सृष्टि तथा निश्चय करने में अनेक प्रकार से स्वतन्त्र

है। उसकी इस स्वतन्त्रता के चारों ओर चाहे निसर्ग और जड़ सृष्टि की सीमा और अन्तर्भूत शक्ति की स्वाभाविक मर्यादा भले ही हो, पर फिर भी उस स्वतन्त्रता का क्षेत्र बहुत बड़ा है। वह अपनी स्थिति, सुख दुःख और कर्म का स्वयं ही स्रष्टा और धन्वन्तरि है। मनुष्य समाज में उसका जो स्थान है, वह सदा के लिए समान रूप से निश्चित एक ही वृत्ति का और एक ही व्यवसाय अथवा एक ही दरजे का नहीं है। उसे समाज में आगे बढ़ने या पीछे हटने, स्वयं अपनी उन्नति या अवनति करने, अपने सुख-दुःख निश्चित करने और अपने कुल तथा व्यवसाय को बदलने की पूरी पूरी स्वतन्त्रता है और होनी चाहिए। प्रगति सम्बन्धी आधुनिक तत्व या सिद्धान्त मानव-स्वभाव के इन्हीं सिद्धान्तों पर आरूढ़ हुए हैं। सारा मानव समाज आगे बढ़ता हुआ उन्नति के शिखर की ओर जा रहा है, और उसकी वह उन्नति अनेक प्रकार की और अनेक अंगोंवाली है और दिन पर दिन उस उन्नति की व्याप्ति बढ़ती चली जा रही है। यह सब मनुष्य की निजी सामर्थ्य और स्वतन्त्रता से हो रहा है। परमेश्वर ने उसकी इन सब बातों के लिए कोई सीमा नहीं निर्धारित की है। यदि ईश्वर की ओर से इस प्रकार की कोई सीमा निर्धारित हो भी, तो वह मनुष्य योनि के हिस्से में आए हुए स्वभाव और उसकी अन्तर्गत शक्तियों के लिए ही है। स्वयं मनुष्य समाज ने ही पहले जो अच्छे और बुरे काम किए हैं, उन्हीं के कारण आज उसकी अच्छी या बुरी स्थिति और नीति देखने में आती है।

प्राचीन काल में समाज के सम्बन्ध में जो कल्पनाएँ थीं, उनमें और समाज की स्थिति, गति आदि के सम्बन्ध की आजकल की कल्पनाओं में बहुत अन्तर है। और इसी लिए मनुष्य का परिश्रम और पराक्रम, उसकी नीति और ध्येय नये रास्ते पर चल रहे हैं और उन्हें नया स्वरूप प्राप्त हो रहा है। इसी के कारण मनुष्य की सामर्थ्य, स्वतन्त्रता और व्यवहार-क्षेत्र भी बढ़ गया है। यही कारण है कि आजकल का लोकनीति शास्त्र एक नये

ही ढंग का है। पहले लोकनीति का विचार विशेषतः ऐहिक और पार-लौकिक दृष्टि से हुआ करता था। यहाँ तक कि समाज की ऐहिक लोक-यात्रा में भी देव-धर्म की कल्पना की ही प्रबलता होती थी। इसी लिए लोकनीति का रुख धार्मिक दिशा की ओर था। समाज के जितने घटक, रक्षक, पोषक और नियन्ता होते थे, वे उसी ध्येय पर दृष्टि रख कर सब काम करते थे और श्रद्धायुक्त मन से सब बन्धनों का पालन करते थे। पर आजकल के समाज में पारलौकिक कल्पना की उतनी प्रबलता नहीं है; बल्कि उसकी जगह पर आजकल राजसत्ता, राष्ट्र, समाज आदि की विशेष प्रबलता है। पहले जो काम धर्म-कल्पना के पारलौकिक प्रोत्साहन से हुआ करते थे, वे आजकल राष्ट्र-कल्पना की ऐहिक प्रेरणा से हुआ करते हैं। इसी लिए आजकल बड़े बड़े लेखक आधुनिक लोकनीति का विचार राष्ट्र, समाज, राजसत्ता, राजनीति, राज्य-व्यवस्था और मानव-समाज की सब बातों का ध्यान रखकर करते हैं।

समाज के अनेक प्रकार और अनेक अंग हुआ करते हैं। कुटुम्ब और कुल, ग्राम और नगर, जाति और वृत्ति, समाज, देश, राष्ट्र और मानव-समाज ये सभी उसके छोटे बड़े प्रकार या भेद हैं। धर्म, अर्थ, काम और राज-नीति ये सब उसके प्रधान अंग होते हैं। और फिर इस दृष्टि से लोकनीति के अनेक प्रकार और अनेक अंग बनते रहते हैं। इसी लिए इस शास्त्र में इन सब बातों का विवेचन स्थल, काल, कार्य, परम्परा और परिस्थिति के अनुसार किया गया है। उसका मुख्य उद्देश्य यही है कि सामान्य मनुष्य का सामुदायिक और सार्वत्रिक जीवन किस प्रकार उत्तम और सुखकारक हो सकता है।

आजकल के ग्रन्थकार या तो कौटिल्य के कथनानुसार यह मानकर कि राज्य ही मनुष्य के धर्म, अर्थ और काम का मूल और आधार है, अथवा यह मानकर कि धर्म, अर्थ और काम सदा राज्य का आश्रय पाकर ही यशस्वी होते हैं, राज्य-शासन-शास्त्र के अनुरोध से इस लोकनीति-शास्त्र का

विवेचन करते हैं और समाज के शेष अंगों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं देते। अर्थात् पहले तो वे यह कल्पना करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य राज्य का एक घटक या अंग है; और तब वे मुख्य रूप से इस प्रकार के सार्वजनिक विषयों का ऊहापोह और विवेचन करते है कि मनुष्य के राजकीय अधिकार और कर्त्तव्य क्या हैं, उसके राष्ट्र की राज्य-व्यवस्था और शासन-पद्धति कैसी है और उसके हाथों समाज के कौन-कौन से काम होने चाहिएँ। पर चाहे राज्य-शासन-संस्था ही क्यों न हो और इसलिए उसके हाथ में दंड शक्ति और बल क्यों न हो और उस दंड शक्ति तथा बल के द्वारा वह अनेक प्रकार के काम भी क्यों न कर सकता हो, पर फिर भी लोकनीतिशास्त्र का स्वरूप राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र से भी कहीं अधिक व्यापक है। राजनीतिशास्त्र केवल राजसत्ता के अनेक अंगों, उसके उदय, स्वभाव, महत्व, व्यवस्था, कार्यों, अधिकारों और उद्देश्यों का ही वर्णन और विवेचन करता है। परन्तु राजसत्ता फिर भी समाज-संरक्षण का महत्वपूर्ण परन्तु एक ही अंग है। उसका क्षेत्र इतना व्यापक नहीं है कि वह मनुष्य के सभी व्यवहारों और आचारों का नियमन या नियन्त्रण कर सके। मनुष्य के वैयक्तिक और सामुदायिक आचार तथा व्यवहार अनेक होते है। लोकनीतिशास्त्र में सामान्य मनुष्य के कर्त्तव्यो के सभी अगों और सभी प्रकारो का विचार होता है; और उसमें यह दिखलाया जाता है कि मनुष्य का जीवन किस प्रकार नीतिमय, सुखकारक और पूर्ण हो सकता है। मनुष्य केवल कुटुम्ब वत्सल या कोरा राष्ट्र घटक ही नहीं है, बल्कि वह ग्राम-घटक और नगर-घटक है और साथ ही मानव भी है। इसी लिए इन सब बातों का विचार करते हुए उसे अच्छी तरह यह समझना और सीखना चाहिए कि इन इन क्षेत्रों में होनेवाले हमारे जीवन और कार्यों की क्या और कैसी नीति होनी चाहिए। उसे इस बात का भी पूरा ज्ञान होना चाहिए कि राजनीतिक दृष्टि को छोड़कर हमारे जो और दूसरे सामाजिक सम्बन्ध तथा सम्बन्धी है, उनके साथ हमारा व्यवहार कैसा

होना चाहिए ।—लोकनीतिशास्त्र वस्तुतः इस बात का द्योतक और नियामक है कि लोगों के कितने प्रकार और अंग होते हैं और उनके कार्य किस प्रकार चलने चाहिएँ। इसी लिए इस शास्त्र का नवीन रूप से अध्ययन आरम्भ करना हमारा कर्त्तव्य है।

नीति शब्द "नी" धातु से बना है, जिसका अर्थ है—'ले जाना'। नयनान्नीतिः अर्थात् जो ले जाय, वह नीति है। जो बात हमें परिणत स्थिति की ओर, ध्येय की ओर अथवा अभ्युदय की ओर ले जाती हो, वही नीति है। उसका काम यही है कि वह प्रत्येक मनुष्य को विशिष्ट परिस्थिति, परम्परा और स्वभाव के बन्धन से और आगे या उस पार ले जा कर और सामाजिक स्वरूप के नियम बना कर कल्याण का मार्ग दिखलावे। शास्त्र इसी प्रकार के नीति सम्बन्धी नियमों की मीमांसा करता और उनका पूर्ण ज्ञान कराता है। इसी लिए शास्त्र सांगोपांग और यथोचित होना चाहिए। उसका विवेचन युक्तियुक्त और आधुनिक शास्त्रीय या वैज्ञानिक पद्धति से होना चाहिए। उसके द्वारा मनुष्य के स्वभाव और समाज के स्वरूप का ठीक ठीक परिज्ञान होना चाहिए।

इतिहास से प्राप्त होनेवाला अनुभव, मानस शास्त्र के वे मूल सिद्धान्त जिनसे समाज और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित होते हैं, परिस्थिति और परम्परा की मर्यादा, संस्था और समाज की उपयुक्तता आदि इस शास्त्र के मुख्य आधार हैं। यदि हम अच्छी तरह यह बात समझ लें कि मनुष्य का स्वभाव कैसा होता है और उसके बहुविध कर्तृत्वों का हमें अच्छा और पूरा ज्ञान हो, तो हम इस बात का अच्छी तरह विवेचन कर सकते हैं कि उसका सामाजिक व्यवहार कैसा होना चाहिए और उस व्यवहार के लिए किन किन नीतियों और नियमों की आवश्यकता होती है। पर अभी तक हम लोगों को इन सब बातों का पूरा पूरा ज्ञान नहीं हो पाया है।

यह शास्त्र लोगों को अच्छी स्थिति में रखने के लिए और उनके हित के विचार से रचा गया है। इसके द्वारा धर्म, अर्थ और काम का त्रिवर्ग

प्राप्त होता है और इनके बाद का मोक्ष या अन्तिम कल्याण सुलभ हो जाता है। राजा और प्रजा को इसका भली भाँति अध्ययन और इसके नियमों का उचित रूप से पालन करना चाहिए; क्योंकि बिना नीति के लोगों के व्यवहार न तो अच्छी स्थिति में ही रह सकते हैं और न उनमें स्थिरता ही आ सकती है। इसके द्वारा यह पता चलता है कि कौन सा काम करने योग्य है और कौन सा नहीं करने योग्य है, सुख क्या है और दुःख क्या है, शुभ क्या है और अशुभ क्या है, और मनुष्य तथा समाज का जीवन कैसे अभीष्टकर और सुखकर होता है।

आजकल भौतिक शास्त्र की प्रगति के कारण मनुष्य की पौराणिक समझ में बहुत बड़ा अन्तर आ पड़ा है। आजकल मानवी इतिहास के विस्तृत अध्ययन के कारण भिन्न भिन्न लोगों के अनेक प्रकार के जीवन और उनके सुख तथा सुभीते से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का ज्ञान चारो ओर फैल गया है। लोगों में यह भाव बहुत ही दृढ़तापूर्वक फैल रहा है कि भौतिक उन्नतिवाद के तत्वों और दृष्टि के कारण ही मनुष्य की नीति, धर्म और समाज से सम्बन्ध रखनेवाली कल्पनाओं का विकास और प्रगति हो रही है और आगे चलकर भी होगी। और कुछ अंशों में प्रतीति, कुछ अंशों में अनुभव और कुछ अंशों में मानस शास्त्र या मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के कारण लोगों ने यह सिद्धान्त मान लिया है कि शिक्षा की सहायता से मनुष्य का मन, बुद्धि और ध्येय एक ही जन्म और एक ही युग में एक स्थिति से दूसरी इच्छित या अभिलषित स्थिति की ओर ले जाया जा सकता है। सब धर्मों और धार्मिक कल्पनाओं का तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन होने के कारण अब लोगों को इस बात का ज्ञान होने लग गया है कि उनकी स्थिति और प्रगति कैसी है और उनके मूलभूत उच्च तत्व क्या हैं और उनमें की कौन कौन सी बातें देश और काल की परिस्थिति तथा परम्परा के अनुकूल हैं और कौन-कौन सी बातें मनुष्य के दैवी और दानवी स्वभाव के अनुकूल हैं। इसी लिए धार्मिक द्वेष धीरे

धीरे कम होता जा रहा है और अब हम लोग यह समझने लग गए हैं कि समाज के जीवन में धर्म के लिए कौन सा उपयुक्त स्थान है। धर्म को ढोंग, मूढ़ता, पागलपन और अन्ध श्रद्धा बराबर दूर होती जा रही है और उसे विचार तथा सच्चे साधु हृदय का स्वरूप प्राप्त हो रहा है और लोक-सत्तात्मक नवीन लौकिक ध्येय के कारण प्रत्येक मनुष्य में स्वतन्त्रता, समानता और स्वार्थोन्नति की उत्कट भावना उत्पन्न हो गई है। आजकल जो नवीन वातावरण उत्पन्न हो गया है और जो नई शक्ति काम कर रही है, उसका यही स्वरूप है।

बस इसी लिए इस नवीन वातावरण, नवोद्भूत शक्ति और उत्साह के अनुकूल समाज की नई नीति-सृष्टि का निर्माण होना चाहिए। पुराने धर्म आजकल अधर्म माने जा रहे हैं; पुराने अर्थ आजकल अनर्थ माने जा रहे हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि इस समय मानव समाज में सच्चा धर्म या सच्ची नीति है ही नहीं। बल्कि इसका यह अर्थ समझना चाहिए कि पहले धर्म और नीति के सम्बन्ध में लोगों की जो संकुचित धारणा थी और उनका जो संकुचित क्षेत्र था, वह अब नष्ट हो गया है और अब उसका क्षेत्र "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाले सिद्धान्त के अनुसार अखिल मानव समाज में एकता, भ्रातृभाव और पारस्परिक आदान-प्रदान या हेल-मेल उत्पन्न करनेवाली दिशा की ओर बढ़ रहा है। इसी लिए यह आवश्यक होता है कि वही काम किये जायँ और उन्हीं कामों को महत्त्व दिया जाय जिनसे समस्त मानव समाज के एक ही हित का प्रश्न सबके सामने रहे; और जिन बातों के कारण मानव समाज में भेद भाव और विरोध बढ़ता हो, उनकी ओर से ध्यान हटाना आवश्यक हो जाता है।

आज आर्थिक और राजकीय दृष्टि से मानव समाज का हित या कल्याणवाला सम्बन्ध निकट का हो गया है, क्योंकि सारे मानव समाज का हित बहुत से अंशों में पारस्परिक सहायता, लेन-देन या आदान-प्रदान और आकांक्षाओं पर अवलम्बित है। इस समय संसार के समस्त समाजों

की आर्थिक सम्पन्नता, राजकीय शान्ति और लोकसत्ता की प्रगति अन्ता-राष्ट्रीय या सार्वराष्ट्रीय सहानुभूति, मित्रता और सहायता पर अवलम्बित है; इसी लिए इन आर्थिक तथा राजकीय सम्बन्धों के अनुसार ही समाज की नीति, आकांक्षाएँ और ध्येय भी निश्चित करने पड़ते है। और यदि मनुष्य समाज के कुछ धार्मिक और सांस्कृतिक अगों मे कोई विशेप भेद अथवा विरोध भी हो तो उसे दूसरे दरजे का स्थान देना पड़ता है. और उन्हीं अंगों को प्रोत्साहन देकर उनका पालन करना पडता है जो उनके मानवी हित और मित्रता के पोपक हों। आज समस्त मानवी समाज और उसके ऐहिक सुख की ओर ही लोकनीति के विशारदों का ध्यान लगा हुआ है। उस ऐहिक सुख की व्याख्या बहुत ही व्यापक है। उसमें उच्च नीतिमत्ता, उच्च रहन सहन, करुणा, मैत्री, सेवा, संस्कृति, अहिसा, समता और स्वतन्त्रता आदि बातों का अन्तर्भाव होता है। यद्यपि उसमे पारलौकिकता का ध्येय नहीं है, पर फिर भी आध्यात्मिक वृत्ति को कुछ उच्चतर सीढ़ियाँ अवश्य हैं; और मनुष्यों का पारस्परिक विरोध और भेद कम करने की प्रवृत्ति भी है। बराबर इस बात का प्रयत्न हो रहा है कि जो लोग दुःखी या दरिद्र हैं, दास और दग्ध है, रंजित और दलित हैं, उन्हे भी अपना ही समझकर उनकी सेवा की जाय, उनका दुःख दूर किया जाय और उन्हे गले से लगाया जाय। और उद्धत तथा दडनीय लोगों का शास्त्र के अनुसार शासन होता है और उन्हे उचित दंड दिया जाता है। लोगों में सच्ची दया करने, सत्पात्र को दान देने और सत्कार्यों की सिद्धि के लिए कठोर प्रयत्न करने की वृत्ति बढ़ रही है। पहले जिन नियमों को लोगों ने केवल अन्ध श्रद्धा अथवा पारलौकिक भय के कारण ही मान रखा था, आज उच्च मानवता और उपयुक्तता की दृष्टि से समझ बूझकर, विश्वासपूर्वक और आनन्द से उन नियमों का पालन किया जाता है। ऐसी अवस्था में इस नवीन समय में यह बात बहुत ही आवश्यक हो गई है कि इस समय के ध्येय, स्वभाव और प्रकृति के अनुरूप ही लोकनीति के नियमों

ओर उनके शास्त्र का विवेचन किया जाय और इसी रूप में उनका अध्ययन हो।

इस शास्त्र की व्यापकता केवल इस प्रश्न पर अवलम्बित रहेगी कि लोगों का पूर्ण और आदर्श जीवन क्या है और कैसा होना चाहिए।

यदि लोगों के सामाजिक जीवन के आध्यात्मिक, सामुदायिक, वैयक्तिक और स्थलकाल-सम्बद्ध ये चार विभाग किये जायें तो इनके अनुसार लोकनीतिशास्त्र में नीचे लिखे विषयों की चर्चा होनी चाहिए।

(१) व्यक्ति के जीवन के गुण और उसके अधिकार तथा कर्त्तव्य।

(२) व्यक्ति को समाज के नियमों से किन बातों मे स्वतन्त्रता होनी चाहिए और किन बातों में उसे समाज के साथ सहयोग करना चाहिए।

(३) व्यक्तियों का समाजवाचक पारस्परिक सम्बन्ध और सहचारिता। इसमें कुटुम्ब, कुल, जाति और समाज के धर्म और नीति-नियम आते है। ये मनुष्य के संस्कृतिपोषक समूह होते है।

(४) व्यक्तियों का स्थलवाचक पारस्परिक सम्बन्ध और सान्निध्य। इसमें गृह, ग्राम, नगर, प्रान्त और देश के धर्म और नीति, ढंग और नियम आते हैं।

(५) व्यक्ति और समाज का देव-धर्म की दृष्टि से नियमन। इसमें प्रत्येक धर्म के विधि-निषेध, उनके उच्च स्वरूप का ज्ञान और उसके अनुसार निश्चित कर्तव्य आते है।

(६) व्यक्ति मात्र के आर्थिक कार्य और व्यवसाय। इसमें वर्ण, वृत्ति और श्रेणी के धर्म, नीति-नियम और सम्बन्ध तथा खेती-बारी, शिल्प, व्यापार और कला-कौशल आते हैं।

(७) व्यक्ति और समाज की बीती हुई या पुरानी स्थिति। इसमें उनके प्राचीन इतिहास, परम्परा, संस्कृति, संस्थाओं और बुद्धि-बल का ज्ञान आता है।

(८) व्यक्ति और समाज की वर्त्तमान स्थिति। इसमें जाति, स्थल,

संस्कृति और कार्य के विचार से उनकी प्रस्तुत समय की परिस्थिति का विचार होता है और उनकी व्याधियों, विघ्नों, व्यसनों और त्रुटियों आदि का विचार होता है।

(९) व्यक्ति और समाज की भावी गति। इसमें उनकी नवीन आकांक्षाओं और आवश्यकताओं, नवीन प्रवृत्तियों, ढंगों, नवीन आदर्शों और ध्येयों की जाँच होती है, और इनके अनुसार कुछ नई नीति और समाज-सेवा के कार्य बतलाये जाते हैं।

(१०) समाज के भिन्न-भिन्न व्यापारों का पारस्परिक सम्बन्ध। इसमें धर्म और राजनीति और व्यवसाय, स्वदेश और परदेश, जाति और देश, कुटुम्ब और जाति, जाति और सम्प्रदाय आदि के पारस्परिक सम्बन्धों के विधि-निषेधों का वर्णन होता है।

ऊपर बतलाए हुए विषयों का सांगोपांग विवेचन करना और उनके सम्बन्ध की उचित तथा उपयोगी नीति बतलाना ही आधुनिक लोकनीति-शास्त्र का कर्तव्य है।

हमारे यहाँ के प्राचीन ग्रन्थों में और आजकल के ग्रन्थों में भी इनमें से प्रत्येक विभाग का थोड़ा बहुत विवेचन रहता है और उसके सम्बन्ध की नीति का कुछ वर्णन होता है। यहाँ इसी विषय का थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) मनु तथा अन्यान्य ग्रन्थकारों ने मनुष्य के सामासिक और दशलक्षणक धर्म बतलाये हैं। जब तक इन सब नियमों का पालन न किया जाय, तब तक किसी प्रकार का उच्च मानवी जीवन और समाज की स्थिरता सम्भव नहीं।

(२) कुल-धर्म, आश्रम-धर्म, वर्ण-धर्म, देश-धर्म, जाति-धर्म, श्रेणी-धर्म, गण-धर्म, पौरजानपद-धर्म, राज-धर्म, मंडल-योनि-धर्म, ऐहिक और पारलौकिक धर्म आदि के द्वारा समाज के भिन्न भिन्न अंगों, भागों और व्यवहारों के नीति नियम बतलाये गये हैं। और मनुष्य के ऐहिक

जीवन और पारलौकिक यात्रा में उत्पन्न होनेवाले पारस्परिक सम्बन्धों का अपने अपने समय की कल्पनाओं के अनुसार विवेचन किया गया है।

(३) स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ ये तीनों अर्थ चारों पुरुषार्थों के ध्येयों के अनुसार निश्चित किये गये हैं।

यद्यपि वर्तमान युग में लोकनीति का विवेचन कुछ नये ढंग से और नये ज्ञान के अनुसार होता है, तो भी उनमे के सभी नियम और सिद्धान्त केवल नवीन ही नहीं हैं। आजकल का विवेचन विशेषतः व्यक्तियों की स्वतन्त्रता, समानता और अधिकारों की दृष्टि से होता है। वह विवेचन सामाजिक नियन्त्रण, कर्तव्यों और हितो की दृष्टि से उतना नहीं होता। उसमें विशेषतः इसी बात का विचार होता है कि मनुष्य के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अधिकार क्या हैं; और इन्हीं सब अधिकारों की दृष्टि से सामुदायिक संघटन का नीतिशास्त्र क्या है। इसमें जीवन, पोषण, आचार-विचार, व्यवहार आदि विषयों में नागरिकों की स्वतन्त्रता, शिक्षा, कुटुम्ब-पालन, व्यवसाय और राजनीतिक कार्यों के विषय में उनके अधिकारो का विचार होता है; और यह बतलाया जाता है कि इस स्वतन्त्रता और अधिकारो की रक्षा करते हुए दूसरों की समान स्वतन्त्रता और अधिकार क्या होने चाहिएँ और वह कौन सी सर्वोत्कृष्ट सामाजिक व्यवस्था और राजकीय संघटन है जो इन सब बातों के अनुकूल पड़ता है।

बस यही आधुनिक लोकनीतिशास्त्र का स्वरूप है और यही उसका महत्व है। इसे पाश्चात्य लेखक Science of Civics (Civics लैटिन शब्द है जिसका अर्थ है नागरिक) अथवा **नागरिक शास्त्र** कहते हैं। इसके लिए "लोकनीतिशास्त्र" नाम अधिक उपयुक्त और सार्थक होगा, क्योंकि मनुष्य केवल किसी नगर का घटक नहीं है। अब तक चली आई हुई परम्परा के अनुसार और आजकल के राष्ट्रीय तथा मानवी संघों की दृष्टि से देखते हुए ग्रीक या यूनानी लोगों की समाज की नगरवाली संकुचित

कल्पना बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण और ओछी ठहरती है। ग्रामों और नगरों, प्रान्तों और देशों आदि अनेक स्थलों के आश्रय में मनुष्य निवास करते हैं। मनुष्य का विविध प्रकार का और विस्तृत जीवन केवल नगरों में ही व्यतीत नहीं होता। मनुष्य का जीवन अनेक अंगों से युक्त और व्यापक है। मनुष्य की भिन्न भिन्न रुचियों और प्रकृतियों और उसके समूहशील स्वभाव का ध्यान रखकर ही उसके जीवन की रचना की जानी चाहिए। तथापि मूल अँगरेजी नाम के आधार पर कई देशी भाषाओं में प्रायः "नागरिक नीतिशास्त्र" नाम का ही व्यवहार देखने में आता है; और इस बात का विचार रखते हुए कि प्रत्येक देश के लोग प्रधानतः ग्रामवासी अथवा नगरवासी ही होते हैं, इस नाम का व्यवहार करने में भी कोई हर्ज नहीं जान पड़ता। अस्तु।

ग्रामवासियों की रहन सहन बहुत सादी होती है और उनके व्यवहार, व्यापार, व्यवसाय और सम्बन्ध बहुत ही कम होते हैं और उनका स्वरूप बहुत कुछ संकुचित होता है। उनकी प्रवृत्तियाँ, व्यवहार, नीति और नियम साधारणतः एकमार्गी और एकांगी होते हैं। इसके विपरीत नगरों में अनेक जातियों और धर्मों के अनुयायी लोग अनेक प्रकार के शिल्प और व्यवसाय करनेवाले तथा अनेक प्रकार की आकांक्षाएँ रखनेवाले अनियमित वृत्ति के और अर्थ-काम प्रधान लोग एकत्र होते हैं और उनके व्यवहार, व्यापार, व्यवसाय-सम्बन्ध और रहन-सहन के ढंग कई तरह के व्यापक और विशिष्ट प्रकार के होते हैं। इसी लिए उनके व्यवहार, रंग-ढंग, नीति और नियम आदि अनेकांगी और अनेक-रूपी होते हैं। उनमें प्रेम, सद्व्यवहार, आदरभाव और मेल-जोल अधिक विकट परन्तु ऐसा होता है जो समाज को ठीक स्थिति में रखने के लिए अधिक आवश्यक होता है। ग्रामवासियों के सुख और व्यवहार का प्रश्न नगरवासियों के ऐसे प्रश्न के मुकाबले में उतना कठिन नहीं होता। नगरवासियों के जीवन का स्वरूप विविध, बहुरंगी और व्यापक होता है और

इसी लिए वे लोग व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण और उन्नत हो सकते हैं। इसी लिए समाज शास्त्र के बड़े-बड़े ज्ञाताओं ने मुख्य रूप से नागरिक जीवन का ही विचार किया है। पर अब ग्रामवासियों और नगरवासियों के जीवन का प्रवाह अपनी-अपनी स्थलात्मक सीमाओं के बाहर निकल कर राष्ट्र के रूप में परिणत हो रहा है। इसी लिए नागरिक नीति का शास्त्र अब वस्तुतः राष्ट्रीय नीति का शास्त्र हो गया है और उसका विवेचन इसी दृष्टि से होने लगा है। आजकल हमारे जीवन की मर्यादा और आकांक्षा का रूप बहुत से अंशों में राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त कर चुका है और व्यापक तथा विविध प्रकार का हो गया है। बल्कि अब तो वह राष्ट्रीयता की सीमा भी पार कर चला है और उल्लासपूर्वक बराबर बढ़ता हुआ विश्वकुटुम्बत्व की ओर चला जा रहा है। इसलिए अब तो हमारा नागरिक नीतिशास्त्र ऐसा होना चाहिए जो राष्ट्रीय विचारों से युक्त हो और जिसके बराबर बढ़ते रहने की गुंजाइश हो।

आजकल राष्ट्र की कल्पना मुख्यतः देशवाचक होती है और सांस्कृतिक दृष्टि से की जाती है। एक राष्ट्र में रहनेवाले लोगों की प्राचीन परम्परा, अर्वाचीन परिस्थिति और भावी आकांक्षा तथा प्रेरणा प्रायः एक सी और समान स्वरूपवाली होती है, फिर चाहे वे लोग किसी वंश, किसी वर्ण और किसी धर्म के क्यों न हों और चाहे कोई भाषा क्यों न बोलते हों। बस उनका राजकीय नियमन और आर्थिक नियन्त्रण एक ही सूत्र मे बद्ध होना चाहिए।

तो भी लेखक लोग राष्ट्रनीतिशास्त्र नाम का अधिक प्रयोग नहीं करते, क्योंकि अधिकांश जन समाज का जीवन ग्रामों और नगरों में ही व्यतीत होता है, और उन लोगों की कार्य-शक्ति भी अधिकांश में ग्रामों और नगरों की ही संस्थाओं और व्यवहारों में व्यय होती है। तो भी आजकल लोक-नीतिशास्त्र में प्रायः इसी बात का विवेचन होता है कि राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक और राजनीतिक अधिकार तथा कर्त्तव्य क्या

है, व्यक्ति की सत्ता और स्वतन्त्रता कैसी होती है और उनके लिए कौन-कौन सी विधियाँ और कौन-कौन से निर्बन्ध होते हैं। ऐसी अवस्था में इस शास्त्र की दृष्टि से 'नागरिक" शब्द का अर्थ है—"ग्राम अथवा नगर में रहनेवाले राष्ट्र का घटक" और "नागरिकता" का अर्थ है—"उसके अधिकारों और कर्त्तव्यों, सत्ता और स्वतन्त्रता के स्वरूप और व्याप्ति।"

मनुष्य यदि समाजशील और नीतिप्रवण न हो तो वह शिक्षा और विनयोपदेश से उन्नत नहीं हो सकता; और यदि उसकी स्थिति बराबर बदलती रहनेवाली न हो तो यह शास्त्र निरुपयोगी हो जायगा। परन्तु हमारा अनुभव और ज्ञान हमें यह बतलाता है कि मनुष्य प्रगमनशील है, नीतिप्रवण है और समाज-निष्ठ है और उसकी ये प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक और स्वतन्त्र हैं। और इसी लिए उसकी इन प्रवृत्तियों को आधारभूत मान कर हमारे लिए इस नीतिशास्त्र का रचना और विवेचन करना सम्भव होता है। अस्तु।

प्रत्येक समाज की स्थिरता, हित और प्रगति का विचार करते समय उसके स्वरूप और संघटन का, उसमें के शासित और शासकवर्ग के अधिकारों और कर्त्तव्यों का, उनकी सत्ता की स्वतन्त्रता का और उनके इतर अन्तर्गत जीवन का विचार करना पड़ता है। बस इस आधुनिक लोकनीतिशास्त्र के रूप में इन्हीं सब बातों का विचार करना हमारा कर्त्तव्य है। परन्तु ऐसे महत्वपूर्ण विषय का विवेचन करने से पहले इसमें की कुछ शब्द-योजनाओं और संज्ञाओं का अर्थ स्पष्ट करके समझा देना आवश्यक,जान पड़ता है।

हमारे यहाँ नीति और धर्म दोनों ही शब्दों का प्रायः समान अर्थ में व्यवहार किया जाता है। पहले नीति का व्यवहार अन्य सांसारिक बातों के लिए होता था तथा धर्म का परमार्थ के साथ विशेष सम्बन्ध माना जाता था। तो भी इन दोनों में ही बतलाये हुए नियम वर्णाश्रम-युक्त ऐहिक जीवन का नियन्त्रण करते थे। नीति का अधिष्ठान बहुत से अंशों में

मनुष्य की अन्तःकरणवाली प्रवृत्ति पर, बुद्धि की स्वतन्त्रता पर है; और धर्म का अधिष्ठान श्रुति, स्मृति आदि प्रमाण-स्वरूप माने जानेवाले ग्रन्थों के वचनों पर है।

आज "धर्म" शब्द का व्यवहार परमार्थ की प्राप्ति करानेवाले ज्ञान, भक्ति और कर्म के मार्गों के सम्बन्ध में होता है, और "नीति" शब्द का प्रयोग सांसारिक और व्यावहारिक सदाचार के लिए होता है। हमारे यहाँ के नीति सम्बन्धी प्राचीन साहित्य में विदुरनीति, नारदनीति, चाणक्यनीति, कामन्दकीनीति, शुक्रनीति और नीतिवाक्यामृत आदि अनेक ग्रन्थ और निरूपण हैं। उनमें कुलनीति, समाजनीति, लोकनीति, राजनीति और सामान्यनीति आदि के भिन्न-भिन्न प्रसंग ऐसे ढंग से बतलाये गये हैं कि जिससे वे परिस्थिति और पुरुषार्थ के पोषक हो सकें। उनमें यह भी दिखलाया गया है कि प्रजा और राजा के लिए जिन गुणों और नीतियों की आवश्यकता होती है, उनका स्वरूप और उपयोग क्या है। उनमें इस बात का भी विस्तृत प्रतिपादन किया गया है कि अच्छी और बुरी परिस्थितियों में सामान्य मनुष्य को अपने धर्म के अनुसार कैसा आचरण करना चाहिए, कौन से गुण अच्छे हैं और कौन से आचरण उत्तम हैं। इसी के साथ-साथ उनमें इस बात का भी वर्णन किया गया है कि मनुष्य के लिए कौटुम्बिक और सामाजिक उत्तम आचरण कौन से हैं और सत्पुरुष, सद्गृहस्थ, सन्मित्र, उत्तम राजा और उत्तम नागरिक किसे कहना चाहिए। इसके सिवा उनमें यम, नियम, उत्तम शील और सद्-व्यवहार के सम्बन्ध में भी विधान मिलते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि नीति कोरी राजनीति नहीं है और न केवल तात्त्विक नीति-विचार ही है। नीतिशास्त्र का मुख्य विषय लोकनीति ही है। उसकी सहायता से हमें इस बात का ज्ञान होता है कि लोक-रक्षा, लोक-संग्रह और लोक-हित किस प्रकार हो सकता है।

धर्म हमें पारमार्थिक दृष्टि से पवित्र वृत्ति और आचरण का तत्त्वज्ञान

और विधि बतलाता है। इसमें पाप और पुण्य के नियम तथा निर्बन्ध और उनका पालन न करनेवालों के लिए प्रायश्चित्त भी आ जाते है। वे स्वरूपत. प्रामाणिक वचन होते हैं और इसी लिए उनमें एक विशेषता आ जाती है। उनमे विवेक-बुद्धि, अन्त.करण की प्रवृत्ति और स्वतन्त्रता के लिए विशेष स्थान नहीं है। उसमें श्रद्धा का ही महत्त्व है; आत्म-निरीक्षण तथा वैयक्तिक और लौकिक अनुभव के लिए स्थान नहीं है। चाहे किसी धर्म का प्रतिपादन किसी ऐसे ही सत्पुरुष ने क्यों न किया हो जो नैतिक दृष्टि से पूर्ण उन्नत हो चुका हो, पर फिर भी जब एक बार उसके अनुयायी उस प्रतिपादन को मान्य कर लेते है, तब फिर उसे छोड कर वे किसी ऐसे दूसरे सत्पुरुष का प्रतिपादित भिन्न धर्म मानने के लिए तैयार नहीं होते जो नैतिक दृष्टि से उसी सत्पुरुष के समान हो जिसका प्रतिपादित धर्म वे मानते चले आये है। उन लोगों मे पन्थ और सम्प्रदायवादी दृष्टि उत्पन्न हो जाती है और दूसरे धर्मों के नियमों को वे प्रमाण के रूप में नहीं मानते और उन्हे त्याज्य समझते है। धर्म की अन्तिम प्रेरणा चाहे अध्यात्म, आस्तिक्य बुद्धि, सत्यनिष्ठा और परमानन्द-प्राप्ति की ही क्यों न हो, तो भी साम्प्रदायिकता और अन्ध श्रद्धा के कारण उसका व्यावहारिक स्वरूप एकांगी और संकुचित ही रहता है। व्यावहारिक नीति नियमों को यदि कोई प्रामाणिकता का स्वरूप देना चाहे और उन्हें प्रामाण्य के बन्धन में डालना चाहे तो काम नही चल सकता। प्रत्येक बन्धन की परीक्षा सदा बाह्य आचरण और अन्तःकरण की प्रवृत्ति की दृष्टि से ही करनी पडती है। धर्म और नीति का यही सच्चा अर्थ और भेद है। पर फिर भी प्रायः लेखक "धर्म" शब्द का प्रयोग "नीति" के अर्थ में करते है।

आजकल "संस्कृति" और "सभ्यता" इन दो शब्दों का भी बहुत प्रयोग किया जाता है। समाज की उत्तम कृतियों को हम लोग संस्कृति कहते हैं, फिर चाहे वे कृतियाँ संस्था, ज्ञान, आचार-विचार अथवा रीति-रवाज के रूप मे ही हों। इन्हीं सब कृतियों अथवा संस्कृति के कारण समाज

अपने आपको प्रौढ़ और सुधरा हुआ या संस्कृत समझता है। प्रत्येक समाज साधारणतः उन्हीं कृतियों को उत्तम समझता है जो स्वयं उसमें प्रचलित होती हैं, फिर चाहे वे कृतियाँ अच्छी हों या बुरी। प्राथमिक अवस्था में रहनेवाले पाषाण युग के जंगली लोगों की कृतियों और कल्पनाओं से लेकर आधुनिक संसार में रहनेवाले प्रौढ़ लोगों की कृतियों और कल्पनाओं तक संस्कृति के भिन्न-भिन्न रूप और लक्षण देखने में आते हैं। इस ऐतिहासिक काल में मनुष्य ने बहुत सी चीजें बनाई हैं और कला, विद्या तथा नीति-नियमों आदि के सम्बन्ध मे बहुत कुछ काम किया है और उनकी बहुत कुछ उन्नति की है। इन सब बातों के कारण उसका चरित्र और इस लोक में निवास बहुत कुछ सुखकर हो गया है। प्रत्येक काल और लोक-समाज की संस्कृतियों में हमें विचारों और व्यवहारों में कुछ न-कुछ अन्तर दिखाई पड़ता है। यह अन्तर उनके भिन्न-भिन्न ध्येयों और परिस्थितियों के कारण हुआ है। इसी लिए संस्कृति के दो मुख्य अंग माने जाते हैं। एक तो वह जो स्थितिवाचक और व्यक्त होता है और दूसरा वह जो गतिवाचक और भविष्य में व्यक्त होने को होता है। काल, स्थल और क्रम के विचार से इतिहास हमें इन्हीं सबके भिन्न-भिन्न स्वरूप दिखलाता है।

सभ्यता अथवा शीलता मनुष्य की आन्तरिक शक्ति और वृत्ति की द्योतक है। उसके द्वारा समाज के अन्तरंग का पता चलता है। और संस्कृति हमें समाज का बहिरंग स्वरूप दिखलाती है। आत्मा और मन की प्रवृत्ति देखकर हम किसी की शीलता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यह शीलता हमें समाजशीलता, न्यायशीलता, उद्योगशीलता, सद्-असद् का विवेक करनेवाली बुद्धि आदि के रूप में दिखाई पड़ती है।

यदि समाज सुसंस्कृत होंगे और मनुष्य शीलवान होंगे तो उनकी सहायता से मानव जाति की सुस्थिति और प्रगति चिरकाल तक स्थायी बनी रहेगी। प्रौढ़ मानव समाज के लक्षण उसकी संस्कृति और सभ्यता

मे ही मिलते हैं। इसलिए प्रत्येक समाज को इन दोनों बातों की रक्षा और वृद्धि करनी चाहिए।

दूसरा प्रकरण

समाज सम्बन्धी शास्त्र

प्रत्येक सामान्य मनुष्य अपने समाज का एक घटक या अंग होता है और साथ ही वह एक स्वतन्त्र और जिम्मेदार आदमी भी होता है; और इसी लिए उसके सामने यह एक बड़ा प्रश्न रहता है कि उत्तम और पूर्ण जीवन किस प्रकार व्यतीत किया जाय। हमारे पूर्वजों ने इस सम्बन्ध में बहुत दिनों तक जो अनुभव प्राप्त किया था, उससे हम यह बात बहुत अच्छी तरह जान और समझ सकते हैं कि हमें अपना जीवन किस प्रकार उत्तम रीति से व्यतीत करना चाहिए। मनुष्यों का आजकल का जीवन-क्रम दुःखों और विकट प्रयत्नों से भरा हुआ है। वह उत्तम और सुखकर नहीं है। अतः प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा होती है कि हमारा जीवन इस प्रकार का न रहे और हमे सच्चे सुख और नैतिक तथा आध्यात्मिक कल्याण का मार्ग दिखाई पड़े। पर इसके लिए मनुष्य का सामाजिक जीवन सुसंघटित होना चाहिए। सामाजिक जीवन को सुसंघटित बनाने के लिए समाज के विविध स्वरूपो और उनके संघटन का निरीक्षण तथा अध्ययन करना चाहिए; और इस प्रकार जो सिद्धान्त स्थिर हों, उनका उपयोग अपना सामुदायिक जीवन सुधारने में होना चाहिए और इस प्रकार हमें अपनी नीति तथा व्यवहारों में सुधार करना चाहिए।

मनुष्यों को नीतिमत्तापूर्वक सर्वोत्कृष्ट बनाना ही हमारी संस्कृति का ध्येय है। समस्त वैयक्तिक, सामाजिक और आध्यात्मिक नियमों तथा निर्बन्धो की योजना इसी ध्येय या उद्देश्य की सिद्धि के लिए होती है।

ससार का अनुभव प्राप्त करने के लिए समाज हमारे लिए एक साधन और आवश्यक संस्था है । बिना समाज के मनुष्य जीवित नहीं रह सकता और न बिना समाज के वह अपने ध्येय तक पहुँच सकता या अपना कल्याण ही कर सकता है । उसका स्वास्थ्य तथा उत्कर्ष मुख्यतः सामाजिक जीवन और सामाज जी व्यवस्था पर ही अवलम्बित है ।

मनुष्य के सुधार की गति भ्रमणशील तथा मृगयाजीवी अवस्था से चलकर बराबर कृषि-प्रधान और उद्यमशील अवस्था की ओर ही रही है । इस दीर्घ काल में मनुष्यों ने एक दूसरे के साथ चिरस्थायी सम्बन्ध स्थापित किए हैं और देशात्मक संघ बनाए हैं । इसी कारण मनुष्यों का मनुष्यो के साथ जो सम्बन्ध हुआ है, वह बराबर अधिक दृढ़ या स्थायी, अधिक विस्तृत और अधिक पेचीला होता गया है । इन संघों और सम्बन्धों को परस्पर पोषक और व्यवस्थित बनाने के लिए मनुष्य के जीवन के समस्त अंगों का अध्ययन होना चाहिए । इस प्रकार के अध्ययन से सामाजिक संघटन के तत्वों और मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उन्नति के मार्गों का ज्ञान होगा । इसलिए मनुष्यों की प्राचीन काल की समाज सम्बन्धी कृतियों और व्यवहारों, उसकी वर्तमान काल की सामाजिक संघटन सम्बन्धी स्थिति और रीति तथा भविष्य में होनेवाले उसके जीवन के उद्देश्यों तथा ध्येयों का हमें अध्ययन करना चाहिए । समाज-शास्त्र इन्हीं सब विषयों की चर्चा और प्रतिपादन करते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि जिस समय समाज सम्बन्धी इस प्रकार के शास्त्रों का अध्ययन और रचना आरम्भ नहीं हुई थी, उस समय भी समाज में सदाचारी जीवन और सामाजिक स्वास्थ्य के सम्बन्ध की कुछ कल्पनाएँ लोगों में अवश्य वर्तमान थीं । परन्तु समाज सम्बन्धी शास्त्रों ने समाज सम्बन्धी ज्ञान को अधिक पद्धतियुक्त या व्यवस्थित, तुलनात्मक और उपयुक्त बना दिया है । प्राचीन काल की बातों का अध्ययन करके इन शास्त्रों में भिन्न-भिन्न समाजों, उनकी वृद्धि, उनके उद्देश्यों और उनकी रचना के विषय में

अनेक सूक्ष्म ज्ञान एकत्र किये हैं और साथ ही मनुष्य के जीवन को अधिक उत्तम और सुखी करने के उद्देश्य से कुछ ऐसी उपयुक्त सूचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं जो भविष्य में मार्गदर्शक होने के लिए उपयुक्त हैं। मनुष्य निसर्गतः भी और तत्वतः भी सामाजिक जीव है—वह बिना समाज के रह ही नहीं सकता। इसी लिए समाज सम्बन्धी शास्त्रों में मनुष्य को समूह का एक घटक मान कर उसके कार्यों, आचारों और विचारों का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया जाता है।

शास्त्र उसे कहते हैं जिसके द्वारा किसी विशिष्ट विषय का अनुभव-सिद्ध, प्रयोग सिद्ध और बुद्धिगम्य सांगोपांग ज्ञान प्राप्त हो। शास्त्र का मुख्य उद्देश्य यही है कि संसार की समस्त स्थावर जंगमात्मक वस्तुओं, समस्त व्यवहारों, घटनाओं और व्यापारों का, उनमें पाए जानेवाले साम्यों और भेदों के आधार पर उचित वर्गीकरण, वर्णन, परीक्षण, तुलना और अर्थ,विवरण करके उनमें के विशिष्ट वर्गों के गुणों, धर्मों, व्यापारों, विशेषताओं, सम्बन्धों, स्वरूपों और उपयोगिताओं का व्यवस्थित ज्ञान करा दिया जाय। शास्त्र केवल यही देखता है और दिखलाता है कि किसी वस्तु की वास्तविक स्थिति कैसी है। वह यह नहीं देखता कि उनमें की घटनाएँ अच्छी हैं या बुरी। वह किसी विषय को लेकर उसकी उत्पत्ति, स्वरूप और कार्य-कारण-सम्बन्ध का पता लगाता और इन्हीं सब बातों का विवेचन करता है।

तत्वज्ञान सदा समस्त वस्तुओं और घटनाओं के मूल में रहनेवाले अन्तिम सत्य का पता लगाता है। वह उसकी उत्पत्ति, स्थिति, गति और अन्त का भली भाँति विचार करके उसकी वास्तविक योग्यता, स्थान और महत्व का तर-तम भाव और इष्टता तथा अनिष्टता निश्चित कराता है। जिस अन्तिम सत्य और अन्तिम वस्तु में पदार्थों, सृष्ट शक्तियों और प्राणियों का विशिष्ट संघटन और व्यापार समाविष्ट हुआ है, उसी अन्तिम सत्य और अन्तिम वस्तु की दृष्टि से वह उन उन विशिष्ट बातों का निरीक्षण करने और उनका मूल्य निश्चित करने का प्रयत्न करता है।

अध्ययन के सुभीते के लिए शास्त्र के दो मुख्य विभाग किये गये हैं। एक विभाग भौतिक शास्त्रों का है. और दूसरा सामाजिक शास्त्रों का। भौतिक शास्त्रों का ज्ञान प्रयोगसिद्ध और बुद्धिगम्य है और उनके नियमों के स्वरूप निश्चित हैं। उदाहरण के लिए गुरुत्वाकर्षण का नियम बिलकुल निश्चित है। उसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होता और उसका हमें निरन्तर अनुभव होता रहता है। भौतिक शास्त्रों में जिन पदार्थों का वर्णन होता है, उनके अन्तर्भूत गुण-धर्म तथा व्यापार बिलकुल निश्चित होते हैं। पर सामाजिक शास्त्रों का स्वरूप इससे भिन्न होता है। यद्यपि उनमें का ज्ञान अनुभव और विवेक के आधार पर ही स्थित होता है, तो भी वह ज्ञान ऐसा नहीं होता जो सहज में प्रयोग के द्वारा ठीक सिद्ध किया जा सके। इस शास्त्र के वर्ण्य विषय मनुष्य, उनका सामुदायिक जीवन और उनके बहुविध व्यवहार हैं। मनुष्य अनेक प्रकार की वृत्तियों के योग से बना हुआ है। मनुष्य ऐसे, चंचल और अनिश्चित स्वभाव का प्राणी है कि कभी तो वह गतानुगतिक रहता है, कभी स्थितिगति-प्रिय रहता है और कभी उच्च तथा बढ़ती हुई आकांक्षाओं से प्रेरित होकर अपने सब काम करता है. और कभी वह विविध प्रकार के विकारों के वश में होता है। उसके गुण-धर्म और मनोव्यापार और उसके सामाजिक व्यवहार और बरताव ऐसे नहीं हैं जो केवल बुद्धिगम्य हों और सदा एक से बने रहें। उसने अब तक जो सब कार्य किये है अथवा इस समय उसके जो व्यवहार हैं, उसने अब तक जो संस्थाएँ स्थापित की है और जो बातें अथवा रीतियाँ आदि रूढ़ की हैं, उनकी परीक्षा करने से उसके पूर्ण और परिणत स्वभाव की कोई निश्चित जानकारी नहीं होती। उसकी प्रेरिका शक्ति और बुद्धि, उसके विचार और विकार, उसके भाव और आकांक्षा के क्षेत्र तथा सामर्थ्य बहुत विशाल और अपरिमित हैं और इतिहास, मानसशास्त्र या मनोविज्ञान अथवा तत्वज्ञान के बड़े बड़े ज्ञाताओं को भी उसका पूरा-पूरा ज्ञान नहीं हुआ है। इसी प्रकार उसके सामुदायिक जीवन का स्वरूप भी

बहुत विशाल और विस्तृत है। इसी लिए उसके सम्बन्ध में जो अनुमान किये गये हैं और सिद्धान्त बनाये गये हैं, वे अनेक हैं और उसके सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ है, वह विविध प्रकार का है। यही कारण है कि उसका अध्ययन करके जो मानसिक तथा सामाजिक शास्त्र बनाये गये हैं, उनका न तो कोई निश्चित स्वरूप हो सकता है और न उनकी कोई एक पद्धति ही हो सकती है; और इन शास्त्रों में जो सिद्धान्त तथा नियम बतलाये गये हैं, वे बहुत से अंशों मे केवल प्रस्तुत प्रसंगों और विशिष्ट परिस्थितियो पर ही घट सकते हैं और केवल काम चलाऊ होते हैं। उन्हें कोई अबाधित और बन्धक स्वरूप नहीं दिया जा सकता। समाजशास्त्र हमें यह तो बतला देगा कि अमुक मनुष्य अथवा समाज अमुक प्रसंग तथा परिस्थिति में अमुक प्रकार का व्यवहार करता था और उसे अमुक प्रकार से व्यवहार करना चाहिए था; पर समाजशास्त्र निश्चित रूप से यह नहीं कह सकता कि यदि फिर उसी प्रकार का अवसर या प्रसंग आ पड़े तो फिर भी वह उसी प्रकार का व्यवहार करेगा अथवा उसके उसी प्रकार का व्यवहार करने की सम्भावना है। मनुष्य के व्यापार अगणित और अनेक प्रकार के होते हैं। यद्यपि शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य मनुष्य में मूलतः और अन्तिमत. बहुत कुछ साम्य होता है, तो भी भिन्न-भिन्न प्रसंगों और परिस्थितियों के उपस्थित होने पर उनके साथ लड़ते समय उसकी प्रकृति दूसरी अनेक दृष्टियों से बहुत कुछ भिन्नता और भेद प्रकट करती है। मनुष्य की प्रकृति अनेक-रूपी और अनेकांगी है। प्रत्येक मनुष्य का शरीर, मन और सामर्थ्य स्वभावतः एक समान नहीं होता। और इसी लिए मनुष्य के व्यवहारों आदि के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कोई एक ही मत अथवा एक ही नीति स्थिर नहीं की जा सकती।

इन सब बातों के आधार पर यही अनुमान किया जा सकता है कि स्थल, काल, कार्य और समाज की भिन्नता का ध्यान रखते हुए विशिष्ट नीति-नियम कभी ऐसे नहीं हो सकते जो सदा पूर्ण रूप से ठीक उतरें

और प्रामाणिक ठहर सकें। उनकी उपयुक्तता और प्रामाणिकता निश्चित करते समय स्थल, काल, कार्य, परम्परा, प्राधान्य और समाज का विचार करना चाहिए। यह ठीक है कि मनुष्य के अन्तःकरण में होनेवाली स्फूर्ति, अन्तर्विकास और प्रगति का बहुत बड़ा अंश इस प्रकार के नियमों में समाविष्ट रहता है, तो भी नैतिक भावना और कल्पना भिन्न-भिन्न कालों और स्थलों की सामाजिक अवस्था की पोषक, हितकारक और सुखदायक होनी चाहिए। नीति नियमों पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता और सामाजिक अनुभव का बहुत कुछ परिणाम पड़ता है। और इसी लिए उन नियमों का स्वरूप सार्वत्रिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता—वे नियम सदा और सब जगह समान रूप से ठीक नहीं उतर सकते। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो हमें कोई ऐसी नीति नहीं मिल सकती जो सर्वमान्य और सार्वत्रिक हो। चाहे तात्विक दृष्टि से सुसंस्कृत मनुष्यों और सत्पुरुषों के स्वभाव, गुण-धर्म और कर्त्तव्याकर्त्तव्य के लक्षण एक ही प्रकार के क्यों न हों, पर फिर भी इस वैचित्र्यपूर्ण और प्रगतिनिष्ठ संसार में उनमें अनेकता ही बनी रहती है।

सामाजिक शास्त्रों मे इस बात का विचार होता है कि समाजों का संघटन कैसा होता है और समाज सम्बन्धी सिद्धान्त क्या है। साथ ही उनमें इस बात का भी विचार होता है कि समाजों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तों की उत्पत्ति, वृद्धि और रचना कैसे होती है, उनमें परस्पर कैसे सम्बन्ध होते हैं और उनमे कौन-कौन सी प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। सामाजिक तत्त्वज्ञान इससे कुछ और आगे बढ़ कर और मानव जाति की एकता मान कर यह निश्चित करने का प्रयत्न करता है कि मानवी जीवन के विशिष्ट अंगों का महत्त्व और योग्यता क्या है। साथ ही उसमें उनके हेतु और ध्येय का भी अध्ययन होता है; और इस अध्ययन के लिए भिन्न-भिन्न सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन से निश्चित किये हुए सिद्धान्तों का भी विचार किया जाता है। केवल सामाजिक संघटन

सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करना, उनका वर्गीकरण और वर्णन करना और उनके कार्यों तथा कारणों का पता लगाना ही उनका विचारणीय विषय नहीं होता, बल्कि ये सब बातें तो सामाजिक शास्त्रों के विचार-क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। समाजशास्त्रों में जिन बातों का वर्णन और विवरण होता है, उनको मान कर सामाजिक तत्वज्ञान उन बातों का वास्तविक रहस्य बतलाने, उनका महत्व निश्चित करने और उनका स्पष्ट अर्थ बतलाने का प्रयत्न करता है।

सामाजिक अथवा समाज विषयक शास्त्र अनेक हैं। उनमें से प्रत्येक का क्षेत्र मनुष्य के भिन्न-भिन्न पुरुषार्थों और उनके विशिष्ट सामाजिक अंगों के अनुसार निश्चित किया गया है। पर इनमें से प्रत्येक शास्त्र का अन्यान्य शास्त्रों के साथ निकट सम्बन्ध होता है। इसका कारण यह है कि जो मनुष्य और समाज उनके विचारणीय विषय हैं, वे सब प्रकार के गुण-धर्मों से परिपूर्ण और मिश्रित हैं। उन शास्त्रों के स्वरूपों और विविध अंगों में प्रेरणा या स्फूर्ति की एकता और अन्योन्याश्रयता है। परन्तु विषय-प्रतिपादन के सुभीते के लिए इन शास्त्रों का अलग-अलग अध्ययन करना पड़ता है। धर्म-शास्त्र (Science of Religon) अर्थ-शास्त्र (Economics) राज्य-शास्त्र (Politics) नीति-शास्त्र (Ethiis) न्याय-शास्त्र (Equity) विधि-निबंन्ध-शास्त्र (Jurisprudence) व्यवहार-शास्त्र (Common Law) और समाज-शास्त्र (Sociology) सब मनुष्य के सामुदायिक जीवन का विचार करनेवाले शास्त्र हैं। और मानसशास्त्र या मनोविज्ञान (Psychology) शिक्षाशास्त्र (Pedagogy) और अध्यात्मशास्त्र मनुष्य के वैयक्तिक जीवन का विचार करनेवाले शास्त्र हैं। इन्हीं सब शास्त्रों का अध्ययन करने से मनुष्य की सर्वांगीन प्रकृति और व्यवहारों का ज्ञान होता है। इन सब शास्त्रों का तर्क-शुद्ध आधार प्रस्तुत करना और उनका क्षेत्र तथा मर्यादा निश्चित करना बहुत ही महत्व के काम हैं।

आज अनेक प्रकार के मतों की गड़बड़ी मची हुई है। ऐसी अवस्था मे शास्त्र ही मार्गदर्शक होते हैं और अज्ञानमूलक जानकारियों का नाश करते हैं। साधारण लोगो के मत सुसम्बद्ध, गूढ़ और तर्कशुद्ध नही होते। सन्मान्य लोगों और साधु-सन्तों के वचन भिन्न और विरोधी हो सकते हैं और तत्वज्ञों के विधानों में भो बहुधा एकवाक्यता नहीं पाई जाती। इसी लिए इन सब विविध और विचित्र मतों का सांगोपांग विचार करने-वाले और सर्वमान्य पद्धति से उनका अवलोकन करनेवाले शास्त्र आवश्यक और उपयोगी होते हैं। उनके द्वारा हमें पुरुषार्थ, कर्त्तव्य, ध्येय, सुख-दुःख, कार्य-अकार्य आदि का निश्चित और सुसंगत ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। वे हमारी विवेक बुद्धि का विकास करने, हमारे अन्तःकरण को शुद्ध करने और हमें बहुश्रुत बनाने में सहायता करते हैं और साथ ही साथ स्वार्थ तथा परार्थ, श्रेष्ठाचरण और सच्चे हित आदि का मार्ग दिखलाते हैं।

समाज सम्बन्धी शास्त्र-समाज विषयक ज्ञान को सुसंगत और निश्चित रूप देते है और निष्पक्ष होकर तथा निर्विकार मन से उसका साधक-बाधक और यथासांग विवेचन करते हैं। अतः हमें उनकी मर्यादा, क्षेत्र और उद्देश्य निश्चित कर लेने चाहिएँ। इससे हमें समाज सम्बन्धी अनेक प्रधान और गौण सिद्धान्तों तथा दूसरी बातों का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। इसके सिवा प्रत्येक शास्त्र के अंग और क्षेत्र अलग-अलग होते हैं, इसलिए इस प्रकार के निश्चय से हम समाज के भिन्न-भिन्न अंगों और पुरुषार्थों की दृष्टि से इन शास्त्रों में से प्रत्येक के एकत्र किये हुए ज्ञान का एक दूसरे के साथ सामंजस्य भी स्थापित कर सकेंगे।

आजकल हम लोगों को अनेक समाजों की रहन सहन और संस्थाओं तथा उनकी रचना और उद्देश्यों की बहुत कुछ जानकारी हो गई है। अब हमे यह भी दिखाई पड़ने लगा है कि स्वयं हमारे समाज में कौन-कौन सी त्रुटियाँ हैं। अतः इस समय यह जान लेना हमारा कर्त्तव्य है

हैं, तब स्थल के प्रभाव के कारण वे प्रायः एक ही ओर प्रवृत्त होते हैं; और वे स्वभाव, दृष्टिकोण तथा कार्यक्षमता के विचार से कुछ अंशों में समान हो जाते हैं और उस स्थान में उन लोगों का संग साथ और सहकारिता बढ़ती है।

इसी प्रकार परम्परा और कार्य की भिन्नता के कारण मनुष्य के स्वभाव, दृष्टि, आचार और व्यवहार में भी परिवर्त्तन होते हैं और उनकी समाज-रचना भिन्न भिन्न प्रकार की हो जाती है। परम्परा के कारण नैतिक दृष्टि में, समाज के स्वभाव में और व्यवहार के नियमों में भी अन्तर पड़ जाता है। और कार्य के कारण स्वभाव, गुण, अवलोकन और आचार में भी अन्तर पड़ जाता है।

तर्कशास्त्र के अनुसार समाज सम्बन्धी शास्त्रों के अध्ययन की दो प्रणालियाँ हैं। तर्कशास्त्र में दो प्रकार के अनुमान होते हैं। उनमें से एक अनुमान तो अनुभवसिद्ध अथवा प्रयोगसिद्ध होता है, और दूसरे प्रकार का अनुमान स्वयंसिद्ध तत्वों से अथवा अनुभवसिद्ध तत्वों से तर्क प्रणाली के द्वारा निकाला हुआ होता है। कुछ शास्त्रों के लिए अनुभव के अनुसार होनेवाली अनुमान-प्रणाली उपयुक्त होती है। परन्तु समाज सम्बन्धी शास्त्रों में इन दोनों ही प्रणालियों का उपयोग करना पड़ता है। एक प्रणाली तो हमारी घटक पदार्थों के सम्बन्ध में होनेवाली बातों और क्रियाओं का अवलोकन करती है, उनसे सम्बन्ध रखनेवाले अनुभवों की परीक्षा करती है और उनकी सहायता से कुछ नये अनुमान करती और कुछ नियम तथा विधान प्रस्तुत करती है। दूसरी प्रणाली मूलतः कुछ तात्विक सिद्धान्तों को ग्राह्य करती है और उन्हीं के अनुसार अपने नियम बनाती है। मानसिक और सामाजिक शास्त्रों की दृष्टि से पहली प्रणाली, अवलोकनात्मक और अनुभवात्मक प्रणाली, अधिक उपयोगी और ठीक मानी जाती है। सामाजिक संघटन और व्यवहार प्रायः मनुष्य के मानसिक व्यापारों पर अवलम्बित रहता है। इसलिए उनका अध्ययन करके जो

अनुमान किये जाते हैं, उन्हीं की सहायता से उन संघटनों और व्यवहारों के प्रकार, उत्पत्ति, वृद्धि और परिणति निश्चित करनी पड़ती है। इन मनोव्यापारों में से कुछ तो स्वयं ही उत्पन्न होते हैं और कुछ परम्परा तथा परिस्थिति के कारण प्रस्तुत हो जाते हैं। अतः उन्हे अच्छी तरह समझने के लिए मानसशास्त्र या मनोविज्ञान और इतिहास का अध्ययन करना पड़ता है। इस प्रणाली से भिन्न भिन्न बाल तथा प्रौढ़ समाजों की तुलनात्मक परीक्षा, और वह भी विशेषतः काल, स्थल तथा कार्य के अनुसार, बहुत अच्छी तरह की जा सकती है। दूसरी प्रणाली स्वयंसिद्ध तात्विक कल्पनाओं के आधार पर स्थित रहती है और इसी लिए वह कम महत्व की और कम विश्वसनीय मानी जाती है। इसका कारण यही है कि जिन मूल कल्पनाओं पर उसका आधार है, उन कल्पनाओं की सत्यता के सम्बन्ध में शास्त्रकारों में एक मत नहीं है। शास्त्रों का अध्ययन करने की जो प्रणाली हो, वह तर्कशुद्ध परीक्षा और निर्विकार अवलोकन की होनी चाहिए।

किसी सामाजिक शास्त्र का अध्ययन करते समय पहले उसके मुख्य विचारणीय विषय तथा उसके मुख्य अंगों, क्षेत्रों तथा लक्षणों का विवरण जान लेना चाहिए; और तब यह देखना चाहिए कि उसका उद्देश्य और उपयोग क्या है। और ये सब बातें जान लेने के बाद यह समझना चाहिए कि ऐतिहासिक दृष्टि से उसकी उपपत्ति क्या है, स्थल और काल से उसके विचार से उसकी कौन-कौन सी अवस्थाएँ और स्वरूप रहे हैं और इस समय उसकी परिणति कैसी है।

समाज शास्त्र (Social Science) को समाज में रहनेवाले मनुष्यों की स्थिति का अध्ययन, उसके सभी अंगों को अच्छी तरह देखते हुए, करना पड़ता है। वह सामाजिक संघटन तथा व्यवहारों का सर्वमान्य शास्त्र है। उसमें मनुष्य के समूहात्मक संघटन और सहवासी तथा सहचारी जीवन का पूरा पूरा विचार होता है। उसमें मानवी समूहों के मूल,

उनके भिन्न-भिन्न प्रकारों, उनमें के निर्बन्धों, रूढ़ियों, रीति-रवाजों, संस्थाओं, जानकारियों, भाषाओं या बोलियों, भावनाओं और पन्थों का समुचित विचार होता है। सामाजिक जीवन के सम्बन्ध का जितना ज्ञान है, वह सब समाज-शास्त्र के क्षेत्र के ही अन्तर्गत आता है; और यदि इस व्यापक अर्थ के विचार से देखा जाय तो धर्मशास्त्र, राज्यशास्त्र, नागरिक शास्त्र, अर्थशास्त्र, निर्बन्ध शास्त्र आदि सभी शास्त्र स्थूल मान से उसी के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। इन सब शास्त्रों का पृथक् पृथक् अध्ययन करके जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उस समस्त ज्ञान के प्रकाश में समाज सम्बन्धी सभी घटनाओं और व्यवहारों का विचार समाज-शास्त्र समष्टि रूप से भी और सामान्य रूप से भी करता है। वह केवल विशिष्ट भागों अथवा अवशिष्ट भागों का विचार नहीं करता। इस शास्त्र में यह देखा जाता है कि समाज के सामान्य नियम, मूलभूत तत्व और लक्षण क्या हैं।

लोकनीतिशास्त्र एक सामाजिक शास्त्र है। अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ उसका निकट सम्बन्ध है। उसमें इस विषय का विचार होता है कि एक साथ एक स्थान पर रहनेवाले मनुष्यों का सहवास, व्यवहार और जीवन किस प्रकार उत्तम हो सकता है। अच्छे पड़ोसी का क्या धर्म है, प्रजा का क्या धर्म है, किस प्रकार सबको एक साथ मिलकर रहना चाहिए, सामुदायिक जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, अन्यान्य लोकसमूहों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, आदि आदि प्रश्न लोकनीतिशास्त्र के ही क्षेत्र में आते हैं। अतः लोकनीतिशास्त्र की दृष्टि से मनुष्य के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बड़े बड़े लोकसमूहों को किस प्रकार सुख और प्रेमपूर्वक एक साथ रहना और आपस में सहकार करना चाहिए।

इतिहास से हमें यह पता चलता है कि समाजों के कौन-कौन से भिन्न-भिन्न स्वरूप, संघटन और उद्देश्य थे अथवा हैं, उन समाजों ने जो कुछ काम किए और उनमें जिस प्रकार के विचार प्रचलित थे, उनके

कारण उन्हें यश मिला अथवा अपयश; और इन सब बातों की जानकारी का उपयोग समाज सम्बन्धी शास्त्रों में किया जाता है। बिना इतिहास के इन सब बातों का ज्ञान होना बहुत कठिन है; और यदि इतिहास न हो तो प्राचीन काल में लोगों को होनेवाले यशों अथवा अपयशों के कारण उन्हें प्राप्त होनेवाले सुखों अथवा उन पर आनेवाले संकटों के कारण जो अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त होता है, वह बिना इतिहास की सहायता के समझ में नहीं आ सकता। मनुष्य के जीवन के सम्बन्ध में अनेक कल्पनाएँ ऐसी हैं जिनका मूल प्राचीन काल में बहुत दूर तक पहुँचा हुआ है—वे कल्पनाएँ बहुत प्राचीन काल से लोगों में चली आ रही हैं। उन अनेक जीवन क्रमों की फलश्रुति और प्रत्यक्ष घटित होनेवाले प्रकारों का वास्तविक ज्ञान इतिहास में ही भरा रहता है। पहले इतिहास का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए और उससे जो बातें हम सीखें, जो ज्ञान हमें प्राप्त हो, उसकी हमें भली भाँति परीक्षा करनी चाहिए। और उसमें से अच्छे जीवन के मूलभूत लक्षण और नियम हमें ढूँढ निकालने चाहिएँ। पिछले अनुभवों की जाँच करने से सम्यक् ज्ञान के प्रमाण प्राप्त होते हैं। पर इतना सब कुछ होने पर भी ऐतिहासिक अनुभव तथा ज्ञान का महत्व मर्यादित या परिमित ही है, क्योंकि इतिहास हमें केवल यही बतलाता है कि प्राचीन काल में मनुष्य ने कौन कौन से काम और किस-किस तरह किये। पर इतिहास से हमें जो सूचनाएँ और शिक्षाएँ मिलती हैं, वे सभी कालों, सभी स्थलों और सभी लोगों में नवीन परिस्थितियों में और बदली हुई ध्येय-दृष्टि में कभी निश्चित रूप से मार्ग-दर्शक नहीं हो सकतीं।

सामाजिक जीवन के सभी अंग स्थल और काल के अनुसार बदलते और बढ़ते रहते हैं और उनके लक्षण स्थल और काल की अनेक प्रकार की मर्यादाओं और बन्धनों से नियमित और निश्चित होते हैं। वे सब लक्षण इतिहास में प्रकट होते हैं। इतिहास से मुख्यत हमें यही पता चलता है

कि एक ही प्रकार के ध्येय, घटनाएँ और कार्य आदि सभी कालों और सभी स्थलों में समान रूप से नहीं होते और न वे सदा सब स्थानों में समान रूप से उपयोगी ही हो सकते है।

राजनीतिशास्त्र यह बतलाने का प्रयत्न करता है कि संरक्षण, शान्ति, सुव्यवस्था और सुराज्य सम्बन्धी नियम क्या हैं और उनके पालन के लिए किन परिस्थितियों की आवश्यकता होती है। मानव जीवन के जो अनेक अंग हैं, उनमें से एक राजकीय अग का और उस अग की संस्थाओं, संघटनों, अधिकारों, कर्त्तव्यो और सत्ता सम्बन्धी स्वतन्त्रता का विवेचन ही राजनीतिशास्त्र में किया जाता है। यह शास्त्र राज्य संस्था की उत्पत्ति और आवश्यकता, उसके मूल तत्त्व और व्यवहार, उसकी सारभूत बातें और लक्षण बतलाता है, और इन सब बातों की उचित परीक्षा करके उसके ध्येय, क्षेत्र, मर्यादा, कार्य और रचना निश्चित करता है।

राज्य संस्था का मुख्य काम यही है कि वह बाहर से आनेवाले संकटों और परचक्रों या दूसरों के षड्यन्त्रों और आन्तरिक विप्लव तथा क्रान्ति से समाज के जीवन, स्वतन्त्रता, धर्म और सम्पत्ति की रक्षा और संगोपन करे। राजनीतिशास्त्र यदि राज्य-संस्था और राज्यतन्त्र का विचार करता है तो नागरिक नीतिशास्त्र उन नागरिकों के कर्त्तव्यों और अधिकारों, उनकी सत्ता और स्वतन्त्रता, उनके नैतिक आचरणों और व्यवहारों का विचार करता है जो राज्य-संस्था के घटक हैं। मनुष्य के जीवन के मानवी और सामाजिक अगों, उसके आस-पास की परिस्थितियों और उसके गुणों तथा दोषों के स्थानों के साथ नागरिक नीतिशास्त्र का सम्बन्ध होता है। श्रेष्ठ नैतिक और व्यावहारिक जीवन के लिए जिन बाह्य पालन पोषणात्मक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, उन्हीं परिस्थितियों को प्रस्थापित करना राज्य संस्था का उद्देश्य है; और उस जीवन के लिए जिन नीति-नियमों की आवश्यकता होती है, उन नियमों का पालन करना नागरिकों का कर्त्तव्य है।

मनुष्य के शारीरिक जीवन के लिए जिन भौतिक साधनों और सम्पत्तियों की आवश्यकता होती है, उनके स्वरूप का और जिन नियमों के अनुसार उनका उत्पादन, संग्रह और विभाग या बँटवारा, विनिमय, व्यय और उपभोग होता है, उन नियमों का राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करनेवाला शास्त्र अर्थशास्त्र है। देश की भौगोलिक परिस्थिति, लोगों के मानसिक स्वभाव और शारीरिक शक्ति के योग से ही इन विचारों का स्वरूप और दिशा निश्चित होती है। भौतिक सम्पत्ति के साधन वस्तुतः नागरिक नीति से सुसंघटित लोगों के जीवन को स्वस्थ बनाये रखनेवाली संस्थाओं और कल्पनाओं पर अवलम्बित रहते हैं। इसके विपरीत यदि भौतिक जीवन का स्वरूप सन्तोषजनक न हो तो मनुष्य का नैतिक और आध्यात्मिक जीवन कभी उच्च कोटि का नहीं हो सकता। उच्च कोटि के सामाजिक और नागरिक जीवन का विचार करते समय जीवन की भौतिक आवश्यकताओं और आर्थिक समाधान का भी विचार करना पड़ता है। इसलिए अर्थशास्त्र का भी नागरिकशास्त्र के साथ निकट सम्बन्ध रहता है।

निबन्धशास्त्र में उन निबन्धों या कानूनों आदि का विचार होता है जिन्हें राज्यसत्ता प्रस्तुत और मान्य करती है और जिनका पालन न करने से मनुष्य दंड का भागी होता है। दंडनीति की दृष्टि से इन निबन्धों का उद्देश्य, नियमन और शासन है: नीति शास्त्र की दृष्टि से उन निबन्धों का आधार न्याय और नीति है। विधि-निषेध की दृष्टि से निबन्ध मानों राजसत्ता की आज्ञाएँ हैं। न्याय और तत्सम्बन्धी नियमों का प्रश्न मुख्यतः शास्त्र की अपेक्षा तत्व ज्ञान से ही अधिक सम्बन्ध रखता है। समाज के जीवन-क्रम को श्रेष्ठ बनाने के लिए जिन निबन्धों की रचना होती है, उन्हें लोकनीतिशास्त्र प्रामाणिक मानता है; पर न्यायतः स्थापित होनेवाली राज्य-संस्था की आज्ञा और शासन मानते हुए भी और उनके पालन को कर्त्तव्य समझते हुए भी लोकनीतिशास्त्र यह अवश्य मानता है कि राज्य-संस्था के जो निबन्ध या कानून समाज को पीड़ा पहुँचाते हों और उनके

लिए घातक हों, उन निर्बन्धों या कानूनों का विरोध करने का अधिकार नागरिकों को है। निर्बन्ध शास्त्र में सुराज्य व्यवस्था के नैर्बन्धिक अथवा नियमनात्मक स्वरूप पर ही आश्रय लिया जाता है; पर नागरिक नीति-शास्त्र में यह बतलाया जाता है कि नागरिकों की नैर्बन्धिक तथा नैतिक आवश्यकताओं की दृष्टि से ही उनकी सुव्यवस्था और प्रगति होनी चाहिए और इसी में उन निर्बन्धों या कानूनों का महत्व है।

मनुष्यों में परमेश्वर के सम्बन्ध की जानकारी पैदा करना और उन्हें ईश्वर की पहचान बतलाना तथा परमार्थ के साथ उनका उचित सम्बन्ध स्थापित करना धर्मशास्त्र का पवित्र उद्देश्य है। इसी के अनुसार धर्मशास्त्र में मनुष्यों के सदाचरण के नियम निश्चित किये जाते हैं। मनुष्य का साधारणतः मनुष्य जाति के साथ और विशेषतः उसके पड़ोसियों के साथ प्रेम तथा एकता का सम्बन्ध स्थापित करना लोकनीतिशास्त्र का उद्देश्य है। इसी के अनुसार लोकनीतिशास्त्र उचित आचार और व्यवहार के नियम निश्चित करता है। वह इस बात का विचार करता है कि मनुष्य और मनुष्य में क्या सम्बन्ध होता है और मनुष्य तथा उसकी परिस्थिति में क्या सम्बन्ध होता है। परस्पर का यह सम्बन्ध और परिणाम ही मानो मनुष्य का सामाजिक और परिस्थिति निबद्ध जीवन है।

मन का अस्तित्व ही मनुष्य का मुख्य लक्षण है। मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष, राग और लोभ, आसक्ति और प्रेम का कारण होता है। वैयक्तिक और सामाजिक आचार व्यवहारों के रूप में जो मानसिक प्रवृत्तियाँ, शक्तियाँ, क्रियाएँ और व्यापार व्यक्त होते हैं, मानस शास्त्र या मनोविज्ञान उन्हीं सबका विचार करता है। उसमें केवल बुद्धि का ही विचार नहीं होता, बल्कि मन में उत्पन्न होनेवाली भावनाओं, गुणों, आदतों और स्वभाव या प्रकृति का भी विचार होता है। जीवन के सम्बन्ध की सभी बातों या पूरे जीवन और विशेषतः सदाचारी जीवन बनानेवाले जितने हेतु और शक्तियाँ हैं, उन सबका ज्ञान प्राप्त करने में हमें

मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान से सहायता मिलती है और नागरिक नीति-शास्त्र अपने क्षेत्र में इस ज्ञान का उपयोग करता है।

शिक्षा शास्त्र मे यह बात मानी हुई होती है कि मनुष्य प्रगतिशील और ऐसा प्राणी है जो सुधारों या अच्छी बातों को ग्रहण कर लेता है। कुछ तो अपनी आन्तरिक प्रेरणा से और कुछ दूसरों के मार्ग दिखलाने पर वह समाज का एक जिम्मेदार गृहस्थ बन सकता है और इस प्रकार वह समाज के स्वेच्छा प्राप्त तथा नियमित कार्य पूरा करनेवाला और सुख की वृद्धि करनेवाला समाज का एक कार्यक्षम घटक बनता है। शिक्षा शास्त्र लोगों को अच्छी बातो की ओर प्रवृत्त करता और उन्हें अच्छे कामों का मार्ग दिखलाता है। शिक्षा अनजान मे ही सहज मार्ग या उपाय से अथवा बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करने से प्राप्त होती है। अपने आस-पास की वस्तुओं के साथ मनुष्य का जो सम्बन्ध होता है, उसके कारण मनुष्य के मन पर कुछ संस्कार होते है। कुछ तो इन संस्कारो के कारण और कुछ शिक्षक की सहायता से बुद्धिमत्तापूर्वक सम्पादित की हुई संस्कृति के कारण मनुष्य में प्रगल्भता आती है। इस प्रकार मनुष्य स्वय अपने और साथ ही समाज के कल्याण के लिए प्रसंग के अनुसार साहस अथवा सयम करना सीखता है।

नीतिशास्त्र (Ethics) मनुष्यो के सदाचारी और सद्गुणी जीवन के उद्देश्यों और साध्यो का विवेचन करता है और तात्विक दृष्टि से उनके ध्येय, महत्व और उपयुक्तता निश्चित करता है। व्यावहारिक दृष्टि से सुदृढ़ और उज्ज्वल समाज का निर्माण करने के लिए नीतिशास्त्र उन साध्यों और उद्देश्यों के सम्पादन की पद्धति और नियम बना देता है, जिन साध्यों और उद्देश्यों का वह स्वयं प्रतिपादन करता है। नीतिशास्त्र इस प्रकार की कल्पनाओं का तात्विक दृष्टि से परीक्षण करता है कि सच्ची नीति और सद्व्यवहार किसे कहते हैं, सुख और सद्गुण क्या होता है और कर्त्तव्य तथा कल्याण का क्या अभिप्राय है। यदि हम नीतिशास्त्र को सदाचारी

और सद्गुणी जीवन का तत्वज्ञान कहें, तो हम कह सकेंगे कि लोकनीति-शास्त्र उसको व्यवहार और काम में लाने का रूप है।

मानवी संसार में आनुवंशिकता के तत्व का विशेष महत्व है। जाति संस्था में तो मानों इस आनुवंशिकता की ही प्रधानता है। विवाह संस्था मे भी उसका आदर होता है। जब भिन्न-भिन्न वंशों के वर्णों आदि का विचार किया जाता है, तब भी उसे विशेष स्थान दिया जाता है। आजकल सुप्रजननशास्त्र (Eugenics) इस बात का विचार करता है कि उत्तम प्रजा का किस प्रकार निर्माण हो सकता है और रोगी, बुद्धिहीन तथा बलहीन प्रजा की उत्पत्ति किस प्रकार रोकी जा सकती है। उसमें भिन्न-भिन्न जातियों के उत्तम गुणों, आनुवंशिकता, विवाह संस्था, शरीर-पोषण और बल तथा बुद्धि का विशेष रूप से विचार किया जाता है। उसकी सहायता से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसका उपयोग मनुष्यों और उनकी जातियों के गुण-धर्मों का सुधार करने में किया जाता है। सुप्रजनन शास्त्र मे केवल तात्विक दृष्टि से ही नहीं, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से भी सब बातों का विचार किया जाता है। वह प्रतिबन्धात्मक तथा पोषणात्मक नियम बतलाता है। लोकनीतिशास्त्र की एक आवश्यकता यह भी है कि उत्तम सन्तान की उत्पत्ति हो, इसलिए लोकनीतिशास्त्र का अध्ययन करते समय जाति संस्था और विवाह-संस्था का भी अध्ययन करना पड़ता है और इन संस्थाओं के अध्ययन में सुप्रजननशास्त्र का महत्व-पूर्ण स्थान है। इस प्रकार लोकनीतिशास्त्र का अन्य शास्त्रों के साथ निकट सम्बन्ध है।

हिन्दुओं ने दो शास्त्रों के द्वारा समाज के धर्म का विवेचन किया है। उन्होंने इस बात का विवेचन और निर्णय किया है कि इस विश्व में मनुष्य का कौन सा स्थान है और उसका ध्येय क्या है। उन्होंने निश्रेयस अर्थात् आत्मिक शालीनता को ही मनुष्य का ध्येय बतलाया है; और कहा है कि मनुष्य अपनी आसक्तियों और बन्धनों से मुक्त होकर ही अपना यह ध्येय प्राप्त

कर सकता है। इस शास्त्र को पराविद्या अथवा मोक्षशास्त्र कहते है। दूसरा नीतिशास्त्र है जिसमें मनुष्यों के सद्व्यवहारों के नियम बतला दिये गये हैं और अन्तिम ध्येय की सिद्धि करने के लिए परस्पर सहकार्य करने का उपदेश देकर मनुष्य के ऐहिक जीवन और उसके स्वास्थ्य की ओर ध्यान दिया है। हिन्दुओं का यह नीतिशास्त्र बहुत व्यापक है। पाश्चात्यों के नीतिशास्त्र (Ethics) की तरह उसका क्षेत्र संकुचित नहीं है। उसमें मनुष्य के ऐहिक जीवन का ऐसे ढंग से विचार होता है जिसमें पारलौकिक दृष्टि का परित्याग नही होता। मनुष्य की उद्दिष्ट लोकयात्रा का अभिप्राय यही है कि संसार का कल्याण हो। उसके आचार-व्यवहारों का मुख्य तत्व मनुष्य के स्वभाव और स्वधर्म की कल्पना पर आश्रित है। एक विशिष्ट स्वभाव और गुणधर्मवाले मनुष्यों को उसके अनुसार ही सब कर्म करने चाहिएँ। एक विशिष्ट अवस्था में रहते हुए उस संघ को उसके अनुरूप अपना जीवनक्रम रखना चाहिए। इस प्रकार मनुष्य जो कर्म और जो पुरुषार्थ करेंगे, उनसे स्वय उनका भी सुधार होगा और उनके आस-पास की परिस्थितियों का भी; और वे परिस्थितियाँ ही उसे उसके ध्येय के समीप ले जायँगी।

समस्त व्यक्तियो से बना हुआ जो समाज होता है, प्रत्येक व्यक्ति उसी के अन्तर्गत है, कोई उससे अलग नही है; और समस्त व्यक्ति परमेश्वर के अधीन हैं, इसलिए समाजशील मनुष्य के जीवन क्रम, कार्यों और ध्येयों में गड़बड़ी और पारस्परिक विरोध या विपरीतता नहीं उत्पन्न होनी चाहिए। यह शास्त्र इसी बात का प्रयत्न करता है कि अज्ञान और दुःखों से मनुष्य बाहर निकले, अपने अनुभव और प्रयत्न से श्रेयस की शिक्षा प्राप्त करे और इस प्रकार व्यक्ति तथा समाज आगे की ओर बढ़ें। यह शास्त्र ऐसे नियम बनाता है जिनकी सहायता से शासक और शासित, अधिकारी और जनता राष्ट्र का कल्याण करने और उसका महत्व बढ़ाने का प्रयत्न करें। यह शास्त्र सिखलाता है कि शासक और शासित के

क्या कर्त्तव्य हैं, उनकी क्या मर्यादा है और उन्हें कहाँ तक अधिकार और स्वतन्त्रता है और दोनों के सम्बन्ध किस प्रकार परस्परपूरक हैं।

पहले प्रकरण मे यह बताया जा चुका है कि हिन्दुओं ने इस नीति-शास्त्र की बातों को धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्र इन तीन शास्त्रों में बाँटा है। उन्होंने इन सब के अलग अलग विषय-क्षेत्र, पारस्परिक सम्बन्ध और उद्देश्य बहुत ही उपयुक्त और उचित रीति से निश्चित कर दिये हैं। इसी प्रकार के उनके समाजशास्त्र हैं।

तीसरा प्रकरण

नागरिक तथा लोकनीति

लोकनीतिशास्त्र की उत्पत्ति यूनान देश के नगर-राज्य में हुई थी। पहले-पहल प्लेटो या अफलातून और अरिस्टाटल या अरस्तू ने अनेक नगरों के सामाजिक और राजनीतिक संघटन तथा संस्थाओं का वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय रूप से निरीक्षण करके अपने ग्रन्थों में वर्गीकरण करने का प्रयत्न किया था; और उस निरीक्षण तथा वर्गीकरण के आधार पर नागरिक लोक-नीति के सामान्य और विशेष नियम निश्चित करना आरम्भ किया था। उनके इन ग्रन्थों में नगर रूपी राज्य-संस्थाओं में संघटित होनेवाले समाजों का पूरी तरह से विवेचन किया गया है। उन्होंने राजनीति और लोकनीति शास्त्र और कला में कोई भेद न करके अपने ग्रन्थों में उन सब का एकत्र या एक साथ ही विचार किया है।

उन ग्रन्थों मे समाज की रचना, नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, सुप्रजनन शास्त्र, सम्पत्ति के विभाग और स्वामित्व आदि प्रश्नों का थोड़ा बहुत विचार किया गया है। पर उनमें जो विवेचन किया गया है, वह मुख्यतः नगर-राज्यों के प्रगल्भ जीवन, उनके ध्येयों,

संघटनों और मूल तत्वों का, उनकी उत्पत्ति, वृद्धि और नाश की दृष्टि से, किया गया है और नागर नीतिशास्त्र को उत्तेजन दिया गया है। यूनानी लोग अपने नगरों के निवासियों को औरों से बहुत आगे बढ़ा हुआ और संस्कृति-सम्पन्न समझते थे; ग्रामवासियों को वे बिलकुल गँवार समझते थे और दूसरे देशों के निवासियों को हीन संस्कृतिवाले, पिछड़े हुए और केवल दासता के योग्य समझते थे। अपनी इसी समझ के अनुसार उन्होंने अपने आप को श्रेष्ठ वंश का मान लिया था और अपनी नैतिक तथा मानसिक श्रेष्ठता को और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता को भी अबाधित या अक्षुण्ण रखने की इच्छा से ऐसी नगरराज्य-संस्थाओं और नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का सर्वांगीण शास्त्र प्रस्तुत किया था जो स्वयं उन्हीं का महत्व बढ़ानेवाला और उन्हीं को मार्ग दिखलानेवाला था।

यूनानी लोग समझने लग गये थे कि नगरों का जीवन ही नागर तथा प्रगल्भ जीवन है। सामान्य मनुष्यों को उत्तम नागरिक बनाना ही उनका ध्येय हो गया। वे यह मानने लग गये कि उत्तम नागरिकता का अर्थ संस्कृति-सम्पन्नता ही है। मनुष्यों में नगरों का उच्च संस्कार और सभ्यता का प्रचार करना ही उनकी संस्कृति का ध्येय और आधार हुआ। उनकी दृष्टि में नगर वह सर्वश्रेष्ठ शील का निवास-स्थान था जिसमें मनुष्य के जीवन का पूर्ण रूप से आविष्करण होता था, जिसमें उसकी शक्ति और कर्तृत्व का पूरा पूरा विकास होता था और जिसमें उसे अपने अनेकांगी स्वभाव के अनुकूल परिस्थिति और स्वतन्त्रता प्राप्त होती थी। उनके विचार से इसी में समाज की पूर्ण वृद्धि, व्यक्ति की पूर्ण परिणति और राज्य-संस्था की अन्तिम सीमा होनी थी। यदि हम अरस्तू के शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि मनुष्यों का कल्याण करनेवाली सर्वोच्च संस्था नगर राज्यों की ही संस्था थी; और उसमें मनुष्य के सब अंगों को कर्तृत्वशाली, वैभवशाली और सद्गुणपूर्ण जीवन व्यतीत करने में पूरा-पूरा प्रोत्साहन मिलता था। इस प्रकार कल्पित किये हुए नागरिक जीवन क्रम अथवा संस्कृति में

इसमें तीन मुख्य बातें दिखलाई पड़ती है।- इनमे से पहली बात स्वयंपूर्ण जीवन है; दूसरी सर्वांगीण पराक्रम और प्रगति, तथा तीसरी अनुकूल परिस्थिति है।

नगरों के जीवन-क्रम तथा ध्येय के साथ यूनानी लोगों ने संस्कृति की कल्पना को जो सम्बद्ध कर दिया था, इस समय काल के अनुसार उसका स्वरूप बदल गया है। अब हम यह देखते है कि मनुष्य के ग्रामिक तथा नागरिक जीवन की अपेक्षा उसका राष्ट्रीय तथा जागतिक जीवन श्रेष्ठ है; और इसी प्रकार का जीवन उसके कर्तृत्व, वैभव तथा व्यवसाय के लिए अधिक पोषक तथा प्रोत्साहक है। आज कल नगर एक प्रादेशिक और छोटा संघ हो गया है। आज-कल संस्कृति की कल्पना बढ़कर राष्ट्र के विस्तृत जीवन और संसार के उच्च जीवन तक पहुँच गई है। भिन्न-भिन्न राष्ट्रों के इतिहास के अनुसार उसके स्वरूप भी भिन्न-भिन्न हैं। हमें इन सभी स्वरूपों का अध्ययन करना चाहिए। संस्कृति की प्रेरणा, दृष्टिकोण तथा स्वरूप सदा परिस्थिति, परम्परा, प्रकृति और प्राधान्य के परिणाम के कारण भिन्न भिन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में संस्कृति ही भिन्न-भिन्न काल-विभागों के व्यवस्थित तथा प्रगतिशील जीवन के चित्र अथवा स्वरूप दिखलाती है। उसके स्थायी और चल ये दो स्वरूप हैं। वह गतिप्रिय तो हैं, पर साथ ही स्थितिपोषक भी है।

लोकनीति का संस्कृति और सभ्यता के साथ बहुत निकट का सम्बन्ध है। उच्च लोकनीति का रूपान्तर उच्च संस्कृति तथा उच्च सभ्यता में होना चाहिए। संस्कृति ही उत्तम जीवन का प्रकट स्वरूप तथा प्रकार है; और सभ्यता हमारे सद्गुणी, सुन्दर तथा श्रेयस्कर आन्तरिक जीवन, नीति तथा स्वभाव की साक्षी या परिचायक है। प्रत्येक राष्ट्र में एक प्रकार की इतिहास-निर्मित तथा देश निर्मित आत्मा होती है। उसके गुण और स्वरूप मे काल के अनुसार परिवर्तन होते है। और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों मे उसके वे गुण तथा स्वरूप विविध प्रकार से नवीन तेज और

नवीन ध्येय धारण करके प्रकट होते हैं। राष्ट्र की जनता की वृत्ति सचेतन होती है और ऐसी जनता साहस, शक्ति तथा उत्साह के नवीन कार्य कर सकती है। इसी लिए नागरिकता के सम्बन्ध की आधुनिक कल्पना राष्ट्र-व्यापक और राष्ट्र-पोषक होनी चाहिए।

प्रत्येक सामान्य मनुष्य सदा भूमि तथा अन्यान्य मनुष्यों के सान्निध्य में रहता है और उनके सहवास तथा संगति का उस पर प्रभाव या परिणाम होता है। परन्तु उसका उत्तम नागरिक होना उसके देश-प्रेम की अपेक्षा उसकी मनुष्यता पर ही अधिक अवलम्बित रहता है। और उत्तम नागरिकता इस बात पर अवलम्बित है कि हम लोग जिन संस्थाओं तथा समाज के घटक हैं, उनमें उत्पन्न होनेवाले व्यवहारों और प्रश्नों का उद्देश्य तथा मर्यादा अच्छी तरह समझ कर हम अपने सब काम समाज-शीलता पूर्वक करें। उत्तम नागरिकता का उद्देश्य समाज का रक्षण, पोषण और वर्द्धन होना चाहिए। प्रत्येक समाज की कुछ विशिष्ट संस्थाएँ, परिज्ञान, परम्परा, रीति-रवाज, और ध्येय अवश्य ही होते हैं। उन्हीं के द्वारा उस समाज का रक्षण, पोषण और वर्द्धन होता है। इसलिए प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति और समझदार सुधारक के लिए यह आवश्यक है कि वह समय-समय पर इन सब बातों का स्थल, काल और कार्य के अनुसार उचित रूप से अध्ययन करे। इसी से समाज को सुस्थिति में रखा जा सकता है और उसका सुधार किया जा सकता है।

नागरिकता के लक्षण सभी देशों में एक से नहीं हो सकते। स्वतन्त्र तथा परतन्त्र देशों के नागरिकों के लक्षण भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। स्वतन्त्र राज्य का नागरिक उस राज्य का सम्मान्य घटक या अंग होता है। जिन अधिकारों से उसका देश प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, जिन आकांक्षाओं से वह प्रेरित हुआ रहता है और जिन कल्याणप्रद बातों के लिए वह सुसंघटित हुआ होता है, उन सबका वह नागरिक समभागी होता है। इस प्रकार उसे जो निश्चित अधिकार प्राप्त होते हैं, उनके भोग के साथ-साथ

उसे कुछ निश्चित कर्त्तव्य भी करने पड़ते हैं। परतन्त्र देशों के नागरिकों को न तो ऐसे अधिकार ही होते हैं और न उनकी ऐसी प्रतिष्ठा ही होती है। दूसरों के द्वारा उनका एक विशिष्ट स्थान नियत कर दिया जाता है; और उन्हें जो कर्त्तव्य बतला दिये जाते हैं, उन्हीं का उन्हें पालन करना पड़ता है। आजकल किसी देश की नागरिकता वहाँ के निवासियों के वंश, पंथ, भाषा और संस्कृति की कल्पना पर अवलम्बित नहीं होती। आजकल नागरिक शब्द का मुख्य लक्षण या अर्थ "राज्य का घटक" ही है और उसमें प्राप्त होनेवाले अधिकार तथा कर्त्तव्य हैं।

अरस्तू ने नागरिक की व्याख्या करते हुए कहा है कि राज्य के कार-बार, शासन और मन्त्रणा सम्बन्धी कार्यों में सम्मिलित होने का जिसे अधिकार हो, वही नागरिक है; और राज्य के सम्बन्ध में उसका मत है कि नागरिकों का जो समूह सामाजिक जीवन के समस्त कार्य करने में पूरी तरह से समर्थ हो, वही राज्य है। वह उन्हीं लोगों को नागरिक कहता है जिन्हें शासन, न्याय और निर्बन्ध करने या कानून बनाने का अधिकार मिल सकता हो और जो इसके अनुसार शासनानुकूल हो। उसके अनुसार नागरिकता का उद्देश्य यह है कि समाज को सुरक्षित, स्वतन्त्र तथा स्वस्थ बनाया और रखा जाय। प्रत्येक नागरिक के लिए यह जानना आवश्यक है कि एक स्वतन्त्र मनुष्य की तरह राज्य के सब काम-धन्धे किस प्रकार करने पड़ते हैं और राज्य-शासन का पालन किस प्रकार किया जाता है। अरस्तू ने यह भी दिखलाया है कि स्वतन्त्र दृष्टि से कैसा नागरिक सर्वोत्कृष्ट और सद्गुणी होता है और सापेक्ष दृष्टि से राज-सत्ताक, अल्पजन-सत्ताक और बहुजन-सत्ताकवाले विशिष्ट राज्य-संघटन का उत्तम नागरिक कौन होता है।

अरस्तू ने नागरिक की जो व्याख्या की है, उसका स्वरूप मुख्यतः राजकीय और राज्य-संस्था-सापेक्ष है। परन्तु प्रौढ़ समाजों में कुछ और भी अंग होते हैं और आकांक्षा, अधिकार तथा कर्त्तव्य के कुछ और भी

क्षेत्र होते हैं। राज्य-संस्था के अतिरिक्त लोगों के कुछ और भी सामाजिक समूह हुआ करते हैं जो राज्य-संस्था की कक्षा या सीमा में नहीं आते। वे धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा-सम्बन्धी और सांस्कृतिक कार्य करते हैं। उनमें भी नागरिकों के अनेक रूपों के जीवन व्यतीत होते हैं; और उनमें उनके कुछ विशिष्ट अधिकार तथा कर्त्तव्य ही हुआ करते हैं।

हमारे यहाँ के प्राचीन हिन्दू ग्रन्थकारों ने नागरिक के जो लक्षण निश्चित किये हैं, वे केवल इसी दृष्टि से नहीं किये हैं कि वह राज्य-संस्था का एक घटक होता है। उन्होंने राज्य के कार्य करनेवालों अर्थात् राजा, मन्त्रियों और अधिकारियो के लक्षण बतलाये हैं। उन्होंने प्रजा के लिए धर्म-पालन के कर्त्तव्य भी बतलाये हैं। उन्होंने प्रजा से केवल यही कहा है कि राजा की जो आज्ञाएँ धर्म तथा दंड नीति के अनुसार हों, उन आज्ञाओं का तुम पालन करो। उस धर्म तथा नीति में राज्य के कार्यकर्त्ताओं या अधिकारियों और प्रजा के अधिकार मर्यादित कर दिये गये हैं और कर्त्तव्य भी नियमित कर दिये गये हैं। उनके मत से धर्म ही मनुष्यों के समस्त जीवन को सँभालने और ठीक मार्ग पर रखनेवाला है। राजकीय जीवन उसका एक अंग मात्र है। इसी लिए नागरिकता की कल्पना में उन्होंने धर्म का अनुसरण करते हुए कर्त्तव्य-पालन और गुण-पोषण पर ही ज्यादा जोर दिया है। उनका विचार है कि इसी की सहायता से प्रत्येक मनुष्य अनेक व्यवहारों और कार्यों में उत्तम रूप से आचरण कर सकता है। मनुष्य को सदाचारी और सद्गुणी होना चाहिए। केवल राज्य-संस्था की दृष्टि से उसकी राजनीतिक सत्ता तथा स्वतन्त्रता अथवा अधिकारों और कर्त्तव्यों का विचार करने से ही सारा काम नहीं चल सकता। उन्होंने नागरिकता के समस्त व्यवहारों और अंगों का ध्यान रखते हुए इस बात का वर्णन और गुण-विवरण किया है कि उत्तम अधिकारी और उत्तम नागरिक किसे कहते हैं। हिन्दू नीति की विशेषता इसी में है कि उसने मानवी जीवन के समस्त अंगों और पुरुषार्थ में सुसंगति उत्पन्न करने अथवा

सामंजस्य स्थापित करने और उनकी उच्चता तथा नीचता के अनुसार उनका क्रम लगाने का प्रयत्न किया है। उसने प्रेयस् और श्रेयस्, अभ्युदय और कल्याण, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की नींव पर ही उसका विशाल भवन खड़ा किया है; और इन सब बातों को यथा-स्थान और उत्तम रूप से रखने का प्रयत्न किया है। इनमें जो स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ अन्तर्भुक्त हैं, उनका उचित रूप से समन्वय करने को ही वे सांसारिक जीवन का मुख्य नियम समझते हैं। अतः उनकी इस कल्पना के अनुसार जो समस्त सामाजिक कार्यों और आवश्यक व्यवहारों में उचित रूप से सम्मिलित होता हो, वही अपने आपको नागरकि समझ सकता है। वह स्वयं अपने उपयोग के लिए भी और समाजिक सेवा की दृष्टि से भी इन सब कार्यों में सम्मिलित होता और अपना उचित अंश लेता है। इसके लिए वह समाज के नियमों का पालन करता है, उसके कार्य करता है, उसके हितों की रक्षा करता है और उसके उद्देश्य की सिद्धि में सहायता देता है। नागरिक का उदात्त हेतु और कर्तव्य यह है कि वह समस्त मनुष्यों में न्यायपूर्ण व्यवहार प्रचलित कराने का प्रयत्न करे, कठिनाइयों और आपत्तियों के समय उनकी सेवा करे और उनकी प्रगति या उन्नति मे सहायता दे।

उत्तम नागरिक की आधुनिक कल्पना व्यापक है। इसमें वह केवल सुसंघटित और स्वतन्त्र राष्ट्र का राजनीतिक घटक और उसके निर्बन्धों का पालन करने या उसके कानूनों को माननेवाला मनुष्य ही नहीं समझा जाता, बल्कि इसके साथ ही साथ वह अपने राष्ट्र में होनेवाली सत्ता, समता और स्वतन्त्रता का सब प्रकार से भोग करनेवाला, अपने कर्तव्यों का पालन करनेवाला, अपने अधिकारों का जाननेवाला और सेवा तथा सहायता करनेवाला एक सभ्य मनुष्य समझा जाता है। वह उस राष्ट्र की भौगोलिक सीमा मे जन्म लेता है, वहाँ की कल्पनाओं और संस्थाओं को स्वीकृत करता है और वहाँ का अधिवासी होता है। और इसके सिवा

वह स्वयं संस्कृति-सम्पन्न होकर अपने राष्ट्र को भी संस्कृति-सम्पन्न करने का प्रयत्न करता है।

उत्तम नागरिक निर्बन्धों का पालन करनेवाला या कानूनों को माननेवाला होता है। इसका कारण यही है कि राज्यतन्त्र और निर्बन्ध या कानून स्वयं नागरिकों के पालन-पोषण के लिए होते है; और लोकसत्ताक राज्यव्यवस्था में तो वे स्वयं नागरिकों के ही निर्माण किये हुए भी होते है। उनमें राज्य-सम्बन्धी कार्य करने का उत्साह होता है और वे राजनीति के जानकार होते हैं। उन्हें सार्वजनिक हितों का भी ज्ञान होता है, उन्हें उन हितों के साधन की चिन्ता भी रहती है और वे अपने आचरण तथा प्रोत्साहन से सामाजिक संस्कृति की वृद्धि करते हैं। उत्तम नागरिक सभो कार्यों और व्यवहारों में भली भाँति आचरण करनेवाला और परिश्रम तथा सेवा करनेवाला मनुष्य हुआ करता है। वह केवल राजकीय अधिकारों का भोग करनेवाला ही नहीं होता।

प्रत्येक नागरिक में स्वयं अपने शरीर के पोषण की आवश्यकता और मानसिक आवश्यकताएँ हुआ करती हैं। उन आवश्यकताओं और आकांक्षाओं की पूर्त्ति के लिए वह अपनी समझ के अनुसार उद्योग करता है; और समाज की यह अपेक्षा और आवश्यकता रहती है कि जब कोई मनुष्य इस प्रकार का उद्योग करे, तब उसका वह उद्योग दूसरों के उद्योगों का विरोधक न हो, बल्कि सहायक हो। इस काम के लिए प्रत्येक नागरिक में एक विशेष प्रकार की सामाजिक दृष्टि और नीति या सिद्धान्त होना चाहिए और कुछ सामाजिक ध्येय तथा पद्धतियाँ भी होनी चाहिएँ। उसकी विवेक शक्ति सदा जाग्रत रहनी चाहिए। इन्हीं सब बातों के द्वारा वह अपने नित्य के कार्य-क्रम का नियमन कर सकता है और नित्य की कठिनाइयों तथा पेचीले प्रश्नों को सुलझा सकता है।

कुटुम्ब, कुल, जाति, सम्प्रदाय, व्यवसाय, विद्यापीठ, राष्ट्र, नगर और ग्राम आदि संस्थाओं के द्वारा नागरिकों का सामाजिक और वै-

यक्तिक जीवन सरलतापूर्वक बीतता है। इसलिए इन संस्थाओं को सदा उत्तम अवस्था में रहना चाहिए। एक दृष्टि से तो हम यह भी कह सकते है कि उत्तम नागरिकता भी इन संस्थाओं की उत्तम स्थिति पर ही निर्भर करती है। उत्तम नागरिकता कभी केवल उत्कट-देश-भक्ति अथवा राज-नीति-पटुता पर अवलम्बित नहीं रह सकती। और दूसरी दृष्टि से उत्तम नागरिकता स्वयं नागरिकों में होनेवाले गुणों पर अवलम्बित रहती है। नागरिकों में यह समझने की पात्रता होनी चाहिए कि समाज का सच्चा और पूरा-पूरा हित किन बातों में है। सार्वजनिक हित के लिए स्वार्थों के सम्बन्ध में संयम से रहने और अपने स्वार्थों के समर्पण या त्याग की भावना की आवश्यकता होती है; और साथ ही सार्व-जनिक दृष्टि, उत्साह और भाव की भी आवश्यकता होती है। इन्हीं सब बातों के योग से नागरिक अपने बान्धवों, पड़ोसियों और देश की सेवा में सम्मिलित होता है और उनकी सहायता करता है। अपने देश की रक्षा और स्वतन्त्रता के लिए वह अपना तन, मन और धन अर्पित करता है। प्रत्येक नागरिक में स्वतन्त्रता और उदारता की प्रखर भावना होनी चाहिए। बिना इनके न तो स्वराज्य ठहर सकता है और न सामाजिक सहकार्य तथा सेवा हो सकती है।

इसी प्रकार नागरिकों में आलस्य, स्वार्थ और पक्षपात आदि वृत्तियाँ तथा दोष नहीं होने चाहिएँ। इनके बदले उनमें उत्साह, परोपकार और सार्वजनिक हितों का विचार तथा गुण होने चाहिएँ। उनमें नीतिधैर्य होना चाहिए। यदि देश पर संकट आवे तो उन्हें लड़ने के लिए भी तैयार रहना चाहिए। यदि देश में कोई गड़बड़ फैले या अव्यवस्था उत्पन्न हो तो उन्हें शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में सहायता करनी चाहिए।

प्रत्येक नागरिक को मत देने का जो अधिकार होता है, उसके सम्ब-न्ध में सब बातें उसे जाननी चाहिएँ, उसका महत्व समझना चाहिए और अपने मताधिकार का समझ-बूझकर उपयोग करना चाहिए। अर्थात्

उसे अपने योग्य प्रतिनिधि चुनने चाहिएँ। तभी वह नागरिक स्वराज्य का पात्र हो सकता है। नागरिकों के लिए जिन नैर्वन्धिक तथा नैतिक कर्त्तव्यों के पालन की आवश्यकता होती है, उन्हे उन सबका पालन करना चाहिए। स्वार्थी और अधम लोगों के हाथ में राजनीतिक सूत्रों का जाने देना अच्छा नहीं होता। प्रामाणिकता और सदाचार की ओर से कभी अपनी दृष्टि नहीं हटानी चाहिए।

स्वार्थी वृत्ति से देश की हानि होती है। सामान्य नागरिक को यह जानना चाहिए कि अपने स्वार्थ का साधन करते हुए भी किस प्रकार परार्थ-साधन हो सकता है; अर्थात् उसे इस बात का ज्ञान होना चाहिए कि स्वार्थ और परार्थ में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। असामान्य और सन्मान्य नेता ही परार्थ को स्वार्थ मानकर सब काम कर सकते हैं। पर सामान्य नागरिक इन दोनों में उचित सामंजस्य स्थापित कर सकते हैं और समय तथा कार्य के अनुसार बड़ी और अच्छी बातों के लिए छोटी बातों का परित्याग कर सकते हैं। यदि नागरिकों में परार्थ और पर-हित का विचार करने की पात्रता अथवा इच्छा न हो तो लोकसत्तात्मक स्वराज्य कभी अधिक समय तक चल नहीं सकता। यदि सत्ता हाथ मे ली जाय तो उसका उपयोग सार्वजनिक हित के लिए होना चाहिए, अपना स्वार्थ साधन करने के लिए नहीं। स्वार्थवशता के कारण पाजीपन और कमीनापन बढ़ता है और व्यवहारों तथा कर्त्तव्यों का पालन लोक हित की दृष्टि से ठीक-ठीक नहीं होता और न अधिकारों का ठीक ठीक उपयोग ही हो सकता है। ऐसे लोग स्वयं ही अच्छी-अच्छी नौकरिया सम्मान, पद, धन तथा भेंट आदि पाने का प्रयत्न करते रहते हैं, जिससे सार्वजनिक हित में बाधा पड़ती है और राष्ट्र में पेटू तथा नीतिभ्रष्ट लोगों की वृद्धि होती है।

यदि नागरिकों में पक्षपात की बुद्धि हो तो समाज की इसी प्रकार की हानि होती है। जब नागरिक लोग किसी विशेष पक्ष, मत अथवा

सम्प्रदाय का ध्यान रखकर कोई काम करते हैं और समाज के हित की ओर उचित ध्यान नहीं देते, तब उस समाज की अधोगति आरम्भ होने लगती है। अपना अलग मत और अलग पक्ष रखना तात्त्विक तथा व्यावहारिक दृष्टि से अपराध नहीं है; परन्तु इनके लिए अविवेकपूर्वक कोई काम कर बैठना या समाज के वास्तविक हित की ओर ध्यान न देना उचित नहीं है।

नागरिकों में समाज के हित के लिए एक विशेष प्रकार की पालक बुद्धि होनी चाहिए। प्रत्येक बात, व्यवहार और निर्णय में तथा प्रत्येक अवसर पर नागरिकों में यह दृढ़ भाव होना चाहिए कि हम अपने देश के सभी लोगों के विश्वस्त प्रतिनिधि तथा उत्तरदायी कार्यकर्त्ता हैं; और यही समझकर उन्हें सदा सब बातों में दृढ़तापूर्वक प्रयत्न करना चाहिए। उन्हें अपने अधिकारों का भोग तथा कर्त्तव्यों का पालन सदा लोकहित के विचार से करना चाहिए। इससे नागरिकता का उच्च स्वरूप दृष्टिगोचर होगा और राष्ट्र बलवान् तथा सम्पन्न होगा।

प्राचीन काल में सभी देशों में ऐसे बहुत से लोग हुआ करते थे जिन्हें राजनीतिक विषयों में मत देने, प्रतिनिधित्व करने और सत्ता भोग करने का अधिकार नहीं होता था। धर्म-सत्तात्मक, राज-सत्तात्मक और अल्पजन-सत्तात्मक राज्यों में लोगों को सच्ची नागरिकता और उनके स्वतन्त्र अथवा प्रातिनिधिक अधिकारों की कल्पना ही नहीं होती। पर आज-कल ऐसे बहुत से राज्य हो गये हैं जिनमें बहुजन लोक-सत्तात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित हो गई है और ऐसे राज्यों में सभी वयस्क लोगों को नागरिकता के पूरे-पूरे अधिकार मिल गये हैं। कुछ देशों में अभी तक पहले की तरह स्त्रियों, धनहीनों, हीनकुलोत्पन्न लोगों और निरक्षरों को राजकीय अधिकार नहीं दिये गये हैं। बच्चों या नाबालिगों, अपराधियों और शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से अयोग्य या अपात्र लोगों को कभी कहीं राजकीय अधिकार नहीं दिये जाते। ऐसे लोग न तो राजनीतिक विषयों में मत ही दे

सकते है और न लोगों के प्रतिनिधि या राज्य के अधिकारी ही बन सकते हैं। कुछ देशों में यह भी नियम है कि जो लोग मत-दान का अधिकार और पात्रता प्राप्त करना चाहे, उन्हें वहाँ पहले कुछ निश्चित समय तक निवास करना पड़ता है।

नागरिकता सम्बन्धी अधिकारों की प्राप्ति सामान्यतः दो प्रकार से होती है। पहला प्रकार तो यह है कि मनुष्य को उस राज्य के मूल नागरिको के घर जन्म लेने पर यह अधिकार मिलता है; और दूसरा प्रकार यह है कि परकीय या विदेशी लोग कानून के द्वारा निश्चित की हुई कुछ खास शर्तें पूरी करके नागरिकता का प्रमाणपत्र प्राप्त करते हैं। इनमें से पहले प्रकार के लोगों को स्वाभाविक नागरिक और दूसरे प्रकार के लोगों को कृत्रिम नागरिक कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के अनुसार प्रमाणपत्र प्राप्त करने की जो शर्तें होती हैं, उनमे मुख्य ये हैं—नवीन राज्य के प्रति निष्ठा और इस सम्बन्ध की शपथ, अपने पुराने राज्य के प्रति निष्ठा का परित्याग, निश्चित काल तक नवीन राज्य में निवास और नागरिक होने की प्रतिज्ञा। कुछ देशों में भाषा, धर्म, वर्ण, वंश और संस्कृति का भी विचार किया जाता है। अलग-अलग देशों में कानून बनाकर इस सम्बन्ध के नियम निश्चित कर दिये जाते है। जब कोई नागरिक राजद्रोह करता है, अथवा किसी दूसरे देश का नागरिक बन जाता है, तब उसका नागरिकता का पुराना अधिकार नष्ट हो जाता है।

प्रत्येक देश मे दूसरे देशों के कुछ न कुछ लोग बसते ही हैं। यद्यपि वे लोग उस नये देश में जाकर बस जाते हैं, तो भी वे उस देश के सच्चे घटक या नागरिक नहीं होते। ऐसे लोग या तो उस नये देश में व्यापार, शिल्प, धार्मिक उद्देश्य या राजनीतिक व्यवहार के लिए जाते हैं अथवा अपने राज्य की ओर से दूत के स्वरूप में जाकर रहते हैं। वे जिस देश में जाकर रहते हैं, उन्हें उस देश के कानून और न्याय मानना पड़ता है और वहाँ के कर देने पड़ते हैं। साधारणत. केवल राजकीय अधिकारों को

छोड़कर उन्हें नागरिकों के और सभी काम करने की स्वतन्त्रता रहती है। उन्हें नागरिकों के सामान्य कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। बहुत सी बातों में वे समानता का भी व्यवहार कर सकते हैं। परन्तु मत देने, प्रतिनिधित्व करने और राज्य सम्बन्धी कार्य करने का उन्हें बिलकुल अधिकार नहीं होता। यदि युद्ध छिड़ जाता है और ऐसे लोग शत्रु देश के निवासी होते हैं, तो उन्हें उसी देश में किसी निश्चित स्थान पर या सीमा के अन्दर रहना पड़ता है; और इस प्रकार मानों वे बन्दी कर दिये जाते हैं अथवा देश से बाहर निकाल दिये जाते हैं। परन्तु शान्ति और मैत्री के समय उनकी स्वतन्त्रता, स्थान और बन्धन आदि सामान्यतः उस देश के दूसरे नागरिकों के ही समान रहते हैं। उनके हितों की रक्षा उनके देश के राजकीय मन्त्री अथवा राजदूत लोग करते हैं।

मनुष्य की स्वतन्त्रता और अधिकारों की दृष्टि से नागरिकता का बहुत अधिक महत्व है। नागरिकता के द्वारा मनुष्य को सभी बातें और विशेषतः संरक्षण, स्वतन्त्रता और अधिकार सहज में प्राप्त होते हैं। पर इसके साथ ही साथ समाज का हित तथा सेवा करने का उत्तरदायित्व भी आ पड़ता है। लोकनीतिशास्त्र या नागरिक नीति का यही काम है कि वह सामान्य मनुष्यों को नागरिकता के सम्बन्ध की ये सब बातें बतलावे और इनके अनुसार उनसे कर्त्तव्यों का पालन करावे। नागरिकों के जीवन में लोकनीति इसी प्रकार की सहायता करती है।

लोकनीति शास्त्र वास्तव में उच्च कोटि के सामाजिक जीवन का शास्त्र है। और जितने शास्त्र हैं, वे सब मनुष्य तथा समाज की सेवा के लिए अपना निष्कर्ष अर्पित करते हैं। लोकनीतिशास्त्र प्रत्यक्ष मनुष्यों के जीवन का अध्ययन उनकी सामाजिक तथा भौतिक परिस्थितियों और उनके हित की दृष्टि से करता है। यह शास्त्र केवल इस बात का विचार नहीं करता कि मनुष्य का स्वभाव तथा वृत्ति कैसी है और उसकी परिस्थितियों के साथ उसका क्या सम्बन्ध है। उसका क्षेत्र अधिक व्यापक है। इस बात

का पता लगाने का काम भी इसी शास्त्र के हाथ में रहता है कि मनुष्य कैसा होना चाहिए और अपने आस-पास की मानवी तथा भौगोलिक परिस्थितियों की सहायता से क्या हो सकता है।

इस शास्त्र का अध्ययन करते समय पहले मनुष्य के मूल स्वभाव और आदत के कारण बने हुए स्वभाव के ज्ञान को विशेष महत्व प्राप्त होता है। आज तक मनुष्य की जैसी परिस्थिति और जैसा चरित्र रहा है, उससे यही मूल सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि मनुष्य परिस्थियों से निबद्ध, परन्तु परिवर्त्तनशील प्राणी है; और लोकनीतिशास्त्र में इसी मूल सिद्धान्त को मानकर इन सब बातों का अध्ययन करना आवश्यक होता है कि कौन सी शक्ति मनुष्य की प्रगति और आकांक्षाओं को सहायता पहुँचाती है और कौन सी प्रभावपूर्ण बातें उसकी स्वतन्त्रता और साहचर्य, उसके पार्थक्य और सहकार्य को मर्यादित करती है।

इस शास्त्र के अध्ययन में दूसरा महत्व का विषय यह है कि समाज की उत्पत्ति कैसे होती है, उसमें स्वभावतः समाजनिष्ठ रहनेवाले लोगों के नियन्त्रण के लिए कैसी कैसी परम्पराओं और रीति-रवाजों का निर्माण होता है और मनुष्यों को उत्साहित होने का अवसर देने के लिए कौन-कौन से कार्य तथा ध्येय स्वीकृत किये जाते हैं। इन सब बातों को हम ऐसी सामाजिक व्यवस्था कह सकते हैं जिसका निर्माण मनुष्य की संस्थाओं और संचित ज्ञान की सहायता से होता है।

इसके उपरान्त इस शास्त्र में मनुष्यों की भौगोलिक परिस्थिति भी देखनी पड़ती है। इससे हमें यह जानकारी होती है कि अपनी भौगोलिक परिस्थिति को देखते हुए कोई मनुष्य कहाँ तक स्वतन्त्र है, उसके जीवन-क्रम की भीतरी शक्ति और उसके व्यक्तित्व के अविष्कारों को बाहरी बातें कहाँ तक मर्यादित करती हैं और वह अपनी परिस्थितियों को कहाँ तक अपने अधिकार में रख सकता है अथवा उन्हें किसी विशेष दिशा में प्रवृत्त कर सकता है।

अन्त में लोकनीतिशास्त्र में और भी कई प्रश्नों का विचार किया जाता है। जैसे विशिष्ट परिस्थितियों में मनुष्यों के क्या कर्त्तव्य होते है और उन कर्त्तव्यों का पालन किस ढंग से होता है, जिन परिस्थितियों में वह स्वयं सुधार करता है, उनके लिए उपयुक्त संस्थाएँ और सम्प्रदाय कौन से होते है, आदि आदि। अतः यह भी जानने की आवश्यकता रहती है कि देश और संसार की दृष्टि से सामान्य नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार क्या हैं; और इन बातों का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन इतिहास देखना पड़ता है और यह जानना पड़ता है कि उनकी वर्त्तमान संस्थाएँ कैसी हैं और भिन्न-भिन्न विषयों में उनका परिज्ञान कैसा है, मनुष्य ने स्वयं अपने उद्योग से कौन सी भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रस्तुत की हैं और उन्हें कौन सी स्वाभाविक भौगोलिक परिस्थितियाँ प्राप्त हैं; और साथ ही उन अनेक बातों का भी विचार करना पड़ता है जिनका मनुष्य के जीवन पर परिणाम पड़ता है।

यदि आजकल के मत के अनुसार यही मान लिया जाय कि लोक-नीतिशास्त्र की कल्पना राष्ट्र भर के लिए ही मर्यादित है, तो उस राष्ट्र की विशिष्ट संस्कृति और ज्ञान, उसकी वर्त्तमान स्थिति और भावी कार्य तथा रूपान्तरों आदि का भी पूरा-पूरा अध्ययन करना पड़ता है। इस राष्ट्रीय कल्पना के कारण लोकनीतिशास्त्र में भिन्न-भिन्न लोगों की स्वतन्त्र प्रवृत्तियों और विचारों के भेदों की ओर उनके मानवी सद्गुणों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया जाता है।

हमने इस ग्रन्थ में इस विषय का प्रतिपादन अपने देश की विशिष्ट राष्ट्रीय संस्कृति की ही दृष्टि से किया है। तो भी इसमें आजकल के उच्च मानवी ध्येयों और आकांक्षाओं, सद्गुणों और संस्थाओं की उपयुक्तता मान्य की गई है। पाश्चात्य लेखक जब लोकनीतिशास्त्र का विवेचन करने बैठते हैं, तब स्वयं अपने इतिहास और समाज में से तथा यूनान और रोम के प्राचीन इतिहास और साहित्य में से कल्पनाएँ और विचार ला

लाकर उपस्थित करते हैं। यूनान और रोम की संस्कृति तथा ईसाई धर्म की संस्थाओं का पाश्चात्य लोगों के विचारों और परिज्ञानों पर, चाल ढाल और परम्परा पर विशेष प्रभाव पड़ा है। यहाँ हम लोग वैदिक संस्कृति के उत्तराधिकारी और भोक्ता हैं। उसी संस्कृति ने हमारे जीवन को विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। इसी लिए जब हम लोकनीति और राजनीतिशास्त्रों का विवेचन करते हैं, तब उन भिन्न-भिन्न नवीन सामाजिक और राजकीय कल्पनाओं का, जिनका हमारे जीवन पर इस समय प्रभाव पड रहा है, पूरा पूरा मर्म और उपयोग समझने के लिए हमें यह जानना आवश्यक होता है कि हमारे परम्परागत सामाजिक और राजकीय जीवन और विचारों का सामान्य स्वरूप क्या है। हमें इस बात का ज्ञान रहना चाहिए कि हमारी पुरानी मनोवृत्ति और सामाजिक दृष्टिकोण क्या था; और नवीन तथा प्राचीन कल्पनाओं में सामंजस्य स्थापित करके अपने भावी जीवन को सुखकर बनाने के लिए उनमें का विरोध दूर कर देना चाहिए और दोनों दृष्टिकोणों को एक में मिलाकर अपना एक संस्कृत और सुधरा हुआ दृष्टिकोण प्रस्तुत करना चाहिए।

नागरिकनीतिशास्त्र की व्याप्ति स्थानीय हितों से लेकर राष्ट्रीय और जागतिक हितों तक है। उसका उद्देश्य नीतियुक्त और संस्कृतिवर्द्धक है। लोकसेवा ही उसका कार्य-क्रम है। उसका ज्ञान अखंड अनुभव और शिक्षा पर अवलम्बित है। उसमें स्वयं अपने लिए, अपने समाज के लिए और अपने देश के लिए वस्तुतः उत्तम जीवन का विवेचन किया जाता है और ऐसे सर्वोत्कृष्ट जीवन-मार्गों का ज्ञान और प्रत्यक्ष आचरण के नियम दिखलाये जाते हैं जो अपनी पुरानी संस्कृति और आजकल की आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को सुसंबद्ध करनेवाले होते हैं।

दूसरे जितने सामाजिक शास्त्र हैं, उन सबका पर्यवसान इसी लोकनीतिशास्त्र में होता है। एक दृष्टि से तो वे सभी शास्त्र इस लोकनीतिशास्त्र के अंगभूत शास्त्र हैं। दूसरे जितने सामाजिक शास्त्र हैं, वे यथार्थ

ज्ञान एकत्र करते हैं और अपना निष्कर्ष ऐसे तत्वों और नियमों के रूप में बतलाते हैं जो मानवी जीवन के इस महाशास्त्र के लिए मार्गदर्शक होते हैं और तत्सम्बन्धी ऐसी कल्पनाएँ और कार्य-क्रम प्रस्तुत करते हैं जो अनुसरण करने के योग्य होते हैं। भिन्न-भिन्न समाज-शास्त्रों में जो सिद्धान्त स्थिर किये जाते हैं, उन्हीं सिद्धान्तों का अध्ययन करके लोकनीतिशास्त्र में निश्चित रीति से और निश्चित स्थलों तथा प्रसंगों में मनुष्य के सामाजिक जीवन के लिए उनका उपयोग किया जाता है; और इसी काम के लिए कुछ ऐसे नीति-निबंध बनाये जाते हैं जो व्यवहार के लिए उपयोगी होते हैं। इस शास्त्र में पिछले अनुभव और भावी उद्देश्य को ध्यान में रख कर नागरिकों के समस्त कार्यों का महत्व स्थिर किया जाता है और उन्हें उचित मार्ग पर लगाया जाता है।

लोकनीतिशास्त्र का ध्येय कभी मनुष्य और समाज के श्रेष्ठ ध्येय से भिन्न नहीं हो सकता। लोकनीतिशास्त्र के ध्येय भी मनुष्य और समाज के ध्येयों के अनुकूल और उपयुक्त ही होने चाहिएँ। लोकनीतिशास्त्र का उद्देश्य यही है कि श्रेष्ठतम हितों का साधन करने के लिए मनुष्य के समस्त कार्यों को एक ठीक ढंग से चलने के योग्य बनाया जाय और उचित नीति नियमों के द्वारा उसे ठीक रास्ते पर लगाया जाय। इस शास्त्र को सामाजिक जीवन में सुस्थिति और प्रगति स्थापित करनी पड़ती है। अतः इसमें यही प्रयत्न किया जाता है कि इस सम्बन्ध में पहले से जो बातें प्राप्त को जा चुकी हैं, उन सबकी रक्षा की जाय और संस्कृति की भावी वृद्धि में सहायता पहुँचाई जाय।

उच्च संस्कृति का मुख्य लक्षण यह है कि उसमें स्वार्थ-बुद्धि पर परार्थ-बुद्धि को विजय प्राप्त हो। जो परार्थ को ही स्वार्थ समझता हो, उसे हम लोग सत्पुरुषों में अग्रणी समझते हैं। सत्पुरुष सदा परार्थ करने-वाले होते हैं और स्वार्थ का परित्याग करते हैं। वे ममत्व और पर-हित, स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ का, श्रेष्ठता और कनिष्ठता की दृष्टि से, क्रम

लगाकर उनकी उपयोगिता निश्चित करते हैं और उनमें सामंजस्य स्थापित करते हैं। जो अन्तःकरण और चरित्र इस दृष्टि से द्रवित हो, उसे हम शील कह सकते हैं और स्थापित संस्थाओं तथा परिज्ञान को संस्कृति कह सकते हैं। इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह स्वयं अपने आपको पहचाने, अपनी उच्च वृत्तियों को समझ ले, आस-पास की परिस्थितियों के साथ होनेवाले सम्बन्ध को अच्छी तरह ध्यान में रखे, अपने लिए ढूँढकर उचित कार्य ठीक कर ले और अपनी तथा आस पास की परिस्थितियों में उचित साहचर्य स्थापित करे। और लोकनीति शास्त्र का उद्देश्य यही है कि मनुष्य को इन सब बातों के योग्य बनाया जाय।

चौथा प्रकरण

मनुष्य और समाज

स्वयं मनुष्य स्वभावतः अनेक प्रकार के गुणों और दोषों से युक्त है। उसके स्वभाव के सम्बन्ध में लोगों के अनेक मत है। मनुष्य जाति कभी पूर्ण नहीं है। उसमें कुछ तो पशु का और कुछ परमेश्वर का अंश है। उसमें नीच और उच्च भाव अनेक परिमाणों में होना ही उसके स्वभाव की विशेषता है। वह शान्तिप्रिय और युद्ध-प्रिय, उपकारी और अपकारी, परार्थी और स्वार्थी, स्वतन्त्र और परतन्त्र, सभी होता है; और इस प्रकार की अनेक परस्पर विरोधी वृत्तियों से प्रेरित होकर अपने काम कराता है। उसमें सत्व, रज और तम ये तीन प्रकार के गुण होते हैं। उसमें दैवी और आसुरी दोनों प्रकार की भावनाएँ देखने में आती हैं। उसकी प्रवृत्ति उन्नति की ओर भी होती है और अवनति की ओर भी। वह स्वभाव से स्थिर या शान्त भी होता है और चचल भी। इस प्रकार उसमे अच्छी और बुरी दोनों ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती रहती हैं। यदि वह

अच्छा व्यवहार करता है तो परोपकारी होता है; और यदि उसका व्यवहार या आचरण बुरा हुआ तो वह धर्मान्ध, जात्यन्ध और पक्षान्ध भी हो सकता है। उसकी प्रकृति में स्वभाव, अभ्यास, संस्कार, शिक्षा और प्रेरणा से परिवर्त्तन भी हो सकता है। सामाजिक संघटन और व्यवहार के कारण वह किसी नई दिशा में भी प्रवृत्त हो सकता है और उसकी सब बातों को नया स्वरूप भी प्राप्त हो सकता है। वह नीच प्रकार की भावनाओं से उच्च प्रकार की भावनाओं की ओर जाने में भी समर्थ है। मनुष्य को असत्य से सत्य की ओर, अज्ञान से प्रकाश की ओर, जड़ जीवन से आध्यात्मिक जीवन की ओर, स्वार्थपरता से परोपकार की ओर ले जाना ही सुधार या सभ्यता का हेतु है; और मनुष्य का स्वभाव ऐसे सुधारों के अनुकूल है।

मनुष्य में सत्ता प्राप्त करने की प्रबल कामना, कीर्ति के प्रति लोभ, पराक्रम की प्रीति, अर्थ-काम-प्राप्ति की प्रखर इच्छा और स्वतन्त्रता का अनुराग रहता है। तो भी वह इन सब विषयों मे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं है। वह बाह्य परिस्थिति और अन्तःस्फूर्त्ति के द्वारा नियन्त्रित और मर्यादित रहता है। परन्तु बन्धनों को तोड़ने और परिस्थितियों को पहचानने और चुनने की शक्ति उसमे है। वह शिक्षा को नवीन रूप दे सकता और नई दिशा में प्रवृत्त कर सकता है। वह अपनी भावना, बुद्धि, स्वतन्त्र इच्छा शक्ति, पसन्द, अन्वेषण और तर्क करने की शक्ति की सहायता से स्वयं अपना और अपने आस-पास की परिस्थितियों का पुनर्घटन कर सकता है। फ्रेंच ग्रन्थकार रूसो मनुष्य को स्वभावतः आलसी और सात्विक समझता है। अँग्रेज ग्रन्थकार हाब्स उसे स्वभावतः झगड़ालू और राजस मानता है। ईसाई धर्मशास्त्रकार उसे जन्मतः पापी और मूलतः तामसिक मानते हैं; स्टोइक तत्वज्ञानी उसे भावना-विरहित सत्पुरुष समझते है। चाहे ये सब मत कितने ही एकांगी क्यों न हों, तो भी इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य के स्वभाव की महत्वपूर्ण विशेषता यही है कि वह विकार-

युक्त और विचारशील होता है और उसमें अपना सुधार करने की शक्ति होती है। वह प्रयत्नवादी और प्रगतिशील है, केवल प्रारब्धवादी और परम्पराभक्त नहीं है। जिस प्रकार मनुष्य के स्वभाव में गतानुगतिकता और परम्परा प्रियता का अंश है, उसी प्रकार उसमें नवीनता का भी अंकुर है। जिस प्रकार उसमें व्यक्तित्व का वैचित्र्य है, उसी प्रकार समाजशीलता का साम्य भी है। वह विवेकशील तो है ही, पर साथ ही भावनामय भी है। वह जिस प्रकार प्रारब्धवाद को मानता है, उसी प्रकार प्रयत्नवाद को भी मानता है। जिस प्रकार उसमें प्रामाण्य बुद्धि है, उसी प्रकार इच्छा सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी है। उसमें ज्ञान का अनुराग, विद्या का प्रेम, कर्त्तव्य की प्रेरणा, अधिकार की लालसा और सुख की लोलुपता है। उसमें भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक भावनाएँ हैं। वह सांसारिकता, परमार्थ-परम्परा और प्रगति का भोक्ता है। ऐसी अवस्था में यह बतलाना कठिन है कि उसका स्वभाव अमुक प्रकार का है अथवा उसमें अमुक विशेषता है। प्रत्येक मनुष्य मे इन भिन्न भिन्न गुणों का भिन्न परिमाण में मिश्रण है।

मनुष्य स्वभावतः समाजशील और समाजनिष्ठ है। वह दूसरों का संग साथ और सहवास पसन्द करता है। उसका जी चाहता है कि चार आदमियों के साथ बैठकर बात-चीत करूँ और हँसूँ-खेलूँ। उसमें स्नेह का भाव होता है। जिस प्रकार इस बात का ज्ञान होने के कारण कि "मैं" दूसरों से भिन्न हूँ, मनुष्य का वैयक्तिक स्वरूप नित्य रहता है, उसी प्रकार इस बात का ज्ञान होने के कारण कि मुझमें और अन्य लोगों में सादृश्य देखने में आता है और साथ ही इस ज्ञान से उत्पन्न होनेवाली सहानुभूति के कारण मनुष्य के मन में पहले समाज के साथ रहने की वृत्ति उत्पन्न होती है; और जब वह दूसरों का सुख या दुःख देखता है, तब स्वयं उसके अन्तःकरण में भी सुख या दुःख की भावना उत्पन्न होती है। जब मनुष्य यह समझने लगता है कि मुझसे भिन्न दूसरे लोगों में भी स्वयं मेरा ही प्रतिबिम्ब है, तबसे उसकी समाज-

पर वृत्ति का आरम्भ होता है। पहले-पहल इस प्रकार का ज्ञान लड़के-लड़कियों और माता-पिता में वात्सल्य भाव के कारण प्रकट होता है; और वैवाहिक तथा कौटुम्बिक सहवास से इस भाव की वृद्धि होती है। अपने सजातीय लोगों के सम्बन्ध में मन में सहानुभूति उत्पन्न होना ही सामाजिक संघटन का मूल कारण है। अपनी-अपनी जाति का ज्ञान ही यह प्रकट करनेवाला लक्षण है कि समाज-संघटन का दूसरे संघटनों से भेद है। स्वयं हममें और हमारी जाति के दूसरे लोगों में जो इस प्रकार की सहानुभूति होती है, उसी के कारण पारस्परिक सम्बन्ध, सेवा-भाव और सहकारिता उत्पन्न होती है और इन सब बातों की आवश्यकता प्रतीत होने लगती है। बिना इसके समाज का संघटन ही नहीं हो सकता। जिस सामाजिक भावना को हम लोग लोकनीति की मूलभूत कल्पना मानते हैं, उसका मूल कारण यही जातिगत सहानुभूति और जातिसेवा की वृत्ति है। अरस्तू के कथनानुसार मनुष्य स्वभाव से ही समाजशील अर्थात् नागरिक प्राणी है। अपने जीवन को परिपूर्ण करने के लिए चाहे जिस प्रकार से हो, उसे एकत्र होने और रहने की आवश्यकता होती है। इसलिए चाहे जिस प्रकार से हो, जन-समूह स्थापित करना ही सामुदायिक और संस्कृत जीवन की ओर ले जानेवाली पहली सीढ़ी है। जंगली लोग सामूहिक जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु उसका स्वरूप बहुत ही संकुचित होता है। सुसंस्कृत सामाजिक जीवन में पारस्परिक सम्बन्ध, सहकारिता और संघटन अधिक निकट का होता है। दूसरे बहुत से प्राणियो की तरह मनुष्य को भी अकेले रहकर जीवन व्यतीत करना स्वाभाविक और श्रेयस्कर नहीं जान पड़ता, बल्कि स्वयं अपने और दूसरों के कल्याण के लिए दूसरों के साथ मिलकर जीवन व्यतीत करना ही उसे स्वाभाविक और श्रेयस्कर जान पड़ता है। दूसरे प्राणियों के सामने जाने में उसकी विचार-शक्ति और वाचा शक्ति, उसका योग्यायोग्य विवेक और उच्चाकांक्षा, उसकी नीतिपरता और अहंभाव आदि

बातें उसकी सहायता करती हैं। इन गुणों का उपयोग और कार्य यही है कि मनुष्य को उच्चतर सामाजिक तथा आध्यात्मिक हेतुओं की प्राप्ति हो।

मनुष्य में कोई ऐसी बात है जो उसे दूसरे मनुष्यों के समान बनाती और उनके साथ उसे सम्बद्ध रखती है। केवल यही नहीं, बल्कि उसमें कोई ऐसा आद्य या मूल तत्व भी है जो उसे परमेश्वर के समान बनाता है और जो उसे स्वयं परमेश्वर से ही प्राप्त हुआ है और उसी पर अवलम्बित है। इसी लिए मनुष्य के केवल सामाजिक जीवन के सब अंगों का विचार करने और उसका महत्व निश्चित करने से ही काम नहीं चल सकता, बल्कि यह समझते हुए कि मनुष्य का एक आध्यात्मिक जीवन और स्थान भी है, उसे कोई स्वरूप देना और किसी ओर प्रवृत्त करना पड़ता है। उत्तम जीवन के समस्त ध्येयों की प्रतीति और यशस्विता इसी बात पर अवलम्बित है कि मनुष्य के सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन मार्गों में एकरूपता या सामंजस्य स्थापित किया जाय और उसमें समानता रखी जाय।

यद्यपि मनुष्य के जीवन का सामाजिक अंग भी है, तो भी हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य ने अन्त में इस सामाजिक बन्धन से मुक्त होने के लिए ही जन्म लिया है, सदा उस सामाजिक बन्धन में बँधे रहने के लिए जन्म नहीं लिया है। मनुष्य के उन्नत, स्वतन्त्र तथा मुक्त होने में समाज को उसकी सहायता करनी चाहिए और उसे बन्धन की आसक्ति से धीरे-धीरे परावृत्त करना चाहिए। यदि मनुष्य के लिए कुछ बन्धन प्रस्तुत करने ही पड़ें तो भी वे बन्धन उसकी वैयक्तिक और सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए ही प्रस्तुत करने चाहिएँ। उस उच्च कोटि की सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए ही निम्न कोटि की वैयक्तिक स्वतन्त्रता को बन्धन में डालना चाहिए; और इस प्रकार के बन्धन संयम के रूप में होने चाहिएँ। इस प्रकार के बन्धन अज्ञान के संकुचित और स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण के आवरण से मनुष्य की नैतिक स्फूर्ति और स्वतन्त्रता की मुक्ति करने के लिए ही होते हैं। स्वयं मनुष्य की और उसके आस-पास की

सामाजिक तथा भौतिक उन्नति के लिए ही उन बन्धनों का बुद्धिमत्ता-पूर्वक उपयोग करना पड़ता है।

मनुष्य समाज बनानेवाला प्राणी है, और समाज ही ऐसा संघटन है जो मनुष्य की रक्षा और पोषण करता है। मनुष्य को स्वयं अपना अस्तित्व बनाये रखने और अपना जीवन पूर्ण करने के लिए दूसरे मनुष्यों के साथ सहवास और सहकारिता करनी चाहिए और उस जीवन को कल्याण-कारक बनाने के लिए स्थायी और प्रगति-पोषक समाज में ही अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। अरस्तू कहता है—"मनुष्य के जीवन को बनाये रखने के लिए ही राष्ट्र-समाज के श्रेष्ठ स्वरूप का अस्तित्व होता है; और मनुष्य के जीवन को कल्याणकारक बनाने के लिए ही उसका वह स्वरूप प्रचलित रहता है। समाज से रहित मनुष्य पशु के समान हो जाता है और समाजनिष्ठ मनुष्य संस्कृति सम्पन्न देवता के समान बन जाता है।"

समाजशीलता मनुष्य के आहार-विहार आदि शारीरिक व्यापारों, वात्सल्य, रति और पुत्र के प्रेम, बच्चों के पालन-पोषण और संरक्षण से उत्पन्न होती है। यह समाजशीलता उसकी जानकारी या परिज्ञान से बनी रहती है और नवीन सम्बन्धो तथा अभ्यास से बढ़ती है। उसके ये सम्बन्ध और अभ्यास, उसकी विचार-शक्ति, मेल-जोल, संगति, भाषा, संस्कार और शिक्षा से बढ़ते है। अच्छे और बुरे को पहचानने, अनुभव करने, नई आदतें सीखने और नई संस्थाएँ निर्माण करने और संयम, साहस तथा कर्तृत्व की जो अनेक शक्तियाँ मनुष्य में हैं, उन्हीं के कारण मनुष्य की समाजशीलता के अनेक प्रकार बनते हैं। मनुष्य विद्या, बल, धर्म, नीति-निर्बन्ध, संघटन आदि अनेक प्रकार की नई-नई मानस सृष्टियाँ उत्पन्न करता है और उनके अनुसार रहने और आचरण तथा व्यवहार करने के नवीन प्रकार भी निकालता है।' वह केवल भोग-लोलुप प्राणी नहीं है, बल्कि क्रियावान् और नई व्यावहारिक तथा मानसिक सृष्टि का निर्माण

करनेवाला पुरुष है। मनुष्य ने अपने मन से जो सार्वजनिक तथा परम्परा-वलम्वी सम्बन्ध बना या मान लिये हैं, उन्हीं से समाज चलता रहता है। उसकी चाल-ढाल, परम्परा, संस्था, परिज्ञान, संस्कृति, ध्येय आदि सभी बातें मनुष्यों के मनोव्यापार और स्वभाव पर अवलम्बित रहती हैं। अतः हम कह सकते हैं कि समाज केवल मनुष्यों का मानसिक संघटन है। वह स्वयं जो सामान्य परिज्ञान या समझ उत्पन्न कर लेता है और अभ्यास या आदतें बना लेता है, उन्हीं के कारण समाज बना रहता और बढ़ता है।

मनुष्य के मुख्य समाज कुटुम्ब, कुल, जाति, राष्ट्र, ग्राम, नगर और राज्य हैं। यही सब मनुष्य की समाजशीलता बनाये रखते और उसे बढ़ाते हैं। आज्ञाकारिता, सहिष्णुता, सहानुभूति, लेन-देन और सहकारिता भी यही सिखलाते हैं। परम्परा और रीति-रवाज की ये रक्षा करते हैं। भाषा, धर्म, नीति परिज्ञान या समझ, अभ्यास या आदत और संस्थाओं को वे ही बनाये रखते हैं। कर्तव्य-प्रियता, प्रेम-भाव, सेवा-भाव, स्वार्थत्याग, भ्रातृभाव, न्यायबुद्धि, परोपकार, एकता, समता, स्वतन्त्रता, मैत्री, करुणा और सार्वजनिक हितबुद्धि भी यही सिखलाते हैं।

समाज को उत्तम स्थिति में बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में सुव्यवस्था हो। इसी सुव्यवस्था के कारण उसके व्यवहार तथा सहकार्य सरलतापूर्वक चलते हैं और वृद्धि तथा प्रगति व्यवस्थित होती है। हाँ वह व्यवस्था अवश्य ऐसी होनी चाहिए जो प्रचलित व्यवहार और बढ़ती हुई आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं की पोषक हो। तभी समाज के हित की दृष्टि से नियन्त्रण और व्यक्ति के हित की दृष्टि से स्वतन्त्रता का उचित सामंजस्य हो सकता है। समाज को उत्तम स्थिति में बनाये रखने के लिए व्यक्तियों में व्यापक दृष्टि और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करनी चाहिए। जब व्यक्तियों में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो जायगी, तब वे स्वयं ही अपनी स्वतन्त्रता और व्यवहारों को समाज के हित की दृष्टि से नियन्त्रित रखेंगे।

इस समाज-संस्था का मुख्य कार्य मनुष्यों को सुखी, स्वतन्त्र, उन्नत, संस्कृति-सम्पन्न तथा उदार-चरित बनाना है। समाज इसका आवश्यक और स्वाभाविक साधन है। जब तक मनुष्य का हित न हो, तब तक समाज का कोई मान या उपयोग नहीं है; और जब तक समाज न हो, तब तक मनुष्य के लिए-कोई स्थान नहीं है। व्यक्ति और समाज दोनों स्वाभाविक और परस्पर-पोषक हैं। बस यही बात अच्छी तरह समझ लेने में मनुष्य का कल्याण है।

मनुष्य के स्वभाव तथा समाज को नई और अच्छी तरफ लगानेवाली अनेक शक्तियाँ है। इनमे से मुख्य उसकी भौगोलिक परिस्थिति है। उस पर उसका खान-पान, आब हवा, आरोग्य और दूसरी सम्पत्तियाँ भी अवलिम्बत रहती हैं। इसके बाद उसकी आनुवंशिक प्राकृतिक शक्ति और नई प्राप्त की हुई आदतों और परिज्ञान या जानकारी का स्थान है। इन्हीं सब पर उसका धार्मिक, नैतिक, सांस्कृतिक नियम और उच्चता तथा विद्या और कला का कौशल भी अवलम्बित है।

जिस प्रकार समाज में रहनेवाले मनुष्यों के आचार-विचार और व्यवहार एक दृष्टि से उनकी स्वयं स्फूर्ति और सन्मति पर अवलम्बित रहते है, उसी प्रकार दूसरी दृष्टि से वे दूसरों की संगति, अनुकरण, परिस्थिति और परम्परा के परिणाम या प्रभाव से बने हुए होते हैं। मनुष्य और परिस्थिति का आपस में एक दूसरे पर परिणाम पड़ा करता है। मानवी जीवन पर सामाजिक, सांस्कृतिक और नैसर्गिक परिस्थिति का वेष्टन पड़ा रहता है और वह इन्हीं सब बातों से मर्यादित रहता है। बिना इन सब बातों का विचार किये मनुष्य के जीवन का अच्छी तरह विचार किया ही नहीं जा सकता। मनुष्य मर्यादा से बद्ध और परिस्थितियों से नियन्त्रित है। चाहे उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं की कोई मर्यादा या सीमा न हो और उसके संकल्प तथा निश्चय दृढ़ हों, तो भी उसके आस पास जो साधन होते है, वे परिमित ही होते हैं और उसके आस-पास की परिस्थिति

ऐसी होती है जो उसे बाँधे रहती है। उसकी सामाजिक और सांस्कृतिक, धार्मिक और व्यवसायात्मक पूर्व-परम्परा और उसके वर्त्तमान संग-साथ और परिज्ञान का उस पर नियन्त्रण है। उसमें जो आनुवंशिक तथा स्वयं-सम्पादित शक्ति अथवा दुर्बलता होती है, वह उसके प्रयत्नों और आकांक्षाओं को मर्यादित कर देती है। इसी लिए मनुष्य साधारणतः अपनी वर्त्तमान परिस्थितियों और पूर्वजों से प्राप्त सम्पत्ति आदि के विषय में असन्तुष्ट रहता है। उसकी सदा यही इच्छा रहती है कि भूत काल तथा परिस्थितियों ने जो बन्धन बना रखे हैं, उन्हें किसी प्रकार मैं तोड़ डालूँ और निसर्ग तथा अन्य लोगों पर मेरा प्रभुत्व और प्रधानता हो। तो भी उसका मुख्य उद्देश्य यही होता है कि मैं स्वयं अपनी रक्षा करूँ, मेरा वंश बराबर चलता रहे, मैं लोगों पर अपनी श्रेष्ठता प्रकट करता रहूँ। साथ ही वह दूसरों से बन्धु भाव का व्यवहार करना चाहता है और चाहता है कि उनकी बराबरी करूँ और अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखूँ। सुव्यवस्था बनाये रखने और आगे बढ़ने के लिए वह अपने देश के रीति-रवाज और नगर के नीति-निर्बन्धों का बन्धन स्वीकृत करता है। वह स्वेच्छापूर्वक और समझ बूझकर उनका पालन करता है, क्योंकि पहले से ही वह लोकात्मक समाजों में निर्बन्धों आदि को निश्चित करने में स्वयं भी सम्मिलित हुआ रहता है। वह सुव्यवस्था का महत्व समझकर सुधारों के लिए उत्सुक रहता है। भूत काल की भूलों और ठोकरों को वह भविष्य काल का मार्गदर्शक बनाता है और सब काम इस विश्वास से करता है कि जो ध्येय तथा वस्तुएँ स्पृहणीय मान ली गई हैं, उनकी रक्षा और सम्पादन करना हमारा धर्म है।

मनुष्य साधारणतः कुटुम्ब में जन्म लेता है और इसलिए उसका कोई कुल, जाति और पन्थ होता है। वह किसी न किसी गाँव या नगर में जन्म लेता है और इसलिए वह किसी विशिष्ट देश के साथ निष्ठाबद्ध होता है। उसका जन्म उस देश के स्थानिक और राष्ट्रीय इतिहास के किसी

विशिष्ट काल में होता है। यदि मनुष्य की इन परिस्थितियों और उसके आनुवंशिक गुण-धर्म का ध्यान रखा जाय तो हमें उस प्रकार के प्रश्नों की ओर भी ध्यान देना पड़ता है कि क्या मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र और स्वयंपूर्ण है, उसे अपने माता-पिता पर कहाँ तक अवलम्बित रहना चाहिए, उसकी जाति, संघ, धर्म और राज्य का उस पर कितना ऋण है, परिस्थिति, शारीरिक स्वभाव, परम्परा और सामाजिक ध्येय तथा सत्य आदि का उसकी मानसिक सिद्धता तथा स्वतन्त्रता पर कहाँ तक परिणाम होता है, आदि आदि।

समाज की उपपत्ति की ओर ध्यान देनेवाला प्रत्येक शास्त्रज्ञ यह मानता है कि मनुष्य के अनेक कार्य मर्यादित हैं और परिस्थिति तथा शिक्षा के द्वारा उसका स्वभाव तथा योग्यता एक विशिष्ट प्रकार की हो जाती है और उसमें प्रवीणता आ जाती है। साथ ही वह यह भी मानता है कि पहले से उसे जो बातें प्राप्त होती हैं और उसके जो संस्कार होते हैं, उनमें परिवर्तन करने की ओर स्वयं अपने आपको तथा अपनी परिस्थितियों को नवीन तथा उचित स्वरूप देने की उसे स्वतन्त्रता और सामर्थ्य होती है।

साधारणतः मनुष्य चाहे जन्म से ही अपूर्ण, अज्ञानी, परावलम्बी, स्वार्थी और स्वेच्छाचारी वृत्ति का क्यों न हो और उसके सामान्य जीवन-क्रम में चाहे परिश्रमी, उच्छृंखल और साहसी वृत्ति का अंश क्यों न दिखाई पड़ता हो, पर उसके साथ ही साथ उसमें उत्तम और महान् होने की मानसिक प्रेरणा और आकांक्षा रहती ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसमें स्वभावतः मन की इतनी स्वतन्त्रता और सामर्थ्य होती है कि वह पुरानी शृङ्खलाओं और परम्परागत बातों तथा परिस्थितियों को हटाकर दूर कर सकता है। मतलब यह कि वह अपने आस-पास की परिस्थितियों के और अपनी अपूर्णता के साथ सदा के लिए पूरी तरह से जकड़ा हुआ नहीं है। उसे काम करने की स्वतन्त्रता और सामर्थ्य जन्म से ही प्राप्त रहती है। परिवर्तन करने और चलकर ऊपरवाली कोटि की भौतिक, नैतिक तथा

आध्यात्मिक अवस्था की ओर जाने का उसे जन्मसिद्ध अधिकार तथा स्वभाव प्राप्त है। उसे समाज-संस्था मे उलट-फेर नहीं करना पड़ता, बल्कि उसे अधिक श्रेष्ठ कोटि का बनाना पड़ता है; और उसे इन कामों को करने का अपना अधिकार तथा स्वतन्त्रता प्रस्थापित करनी पड़ती है। शास्त्रज्ञों ने भी यह बात मानी है कि गतानुगतिक और वर्त्तमान बातों का विरोध करने का उसे इस प्रकार का अधिकार है। ये सब बातें स्वयंसिद्ध अथवा दैवाधीन नहीं होतीं, बल्कि इनमें की बहुत सी बातें ऐसी होती हैं जो काल और कार्य के अनुसार स्वयं उसी की निर्माण की हुई होती हैं। ऐसी अवस्था में ये सब बातें कृत्रिम होती हैं और निर्दोष नहीं होती।

जिस समय मनुष्य जन्म लेता है, उस समय उसका शरीर बहुत दुर्बल होता है, उसे पोषण की आवश्यक्ता होती है और उसकी समझने की शक्ति, अनुभव तथा ज्ञान अपूर्ण होता है; पर ये सब बातें स्थायी नहीं होतीं और इन सब में परिवर्त्तन किया जा सकता है। जो बातें मनुष्य के कार्यों को मर्यादित करनेवाली हैं, उनके विरुद्ध जो आन्दोलन या प्रयत्न किया जाता है, उन्हीं से समाज में परिवर्त्तन होता है। जो समाज अपनी वर्त्तमान स्थिति में ही रहता है और उसमें परिवर्त्तन नहीं करता, वह कभी पूर्ण नहीं होता। हाँ जो समाज गतिप्रिय होता है, वह अवश्य उन्नत हो सकता है। आरम्भ से ही समाज के भिन्न भिन्न और अनेक रूप हुए हैं। उन सब का आरम्भ और उन्नति एक ही मार्ग से नहीं हुई है। समाज के इन भिन्न भिन्न प्रकारों और बार बार होनेवाले परिवर्त्तनों में मुख्य चालक शक्ति मनुष्य का कर्तृत्व ही है। समाज के भिन्न भिन्न स्वरूप, उसकी स्वतन्त्रता तथा सामर्थ्य के कारण उत्पन्न होते, कुछ समय तक बने रहते और अन्त में लीन या नष्ट होते हैं। और इसी से यह मानना पड़ता है कि वह स्वभाव से ही उत्पादक और संग्राहक वृत्तिवाला, भावनात्मक, बुद्धि-शील, अनुकरण करनेवाला, परिवर्त्तनों का आकांक्षी और प्रगतिशील है।

महर्षि मनु ने मनुष्य का समाज-प्रवण स्वभाव पहचानकर ही नियमों

के रूप में अपना दशलक्षणक और सामासिक नीति-धर्म बतलाया है। बिना उन नियमों का पालन किये कभी किसी प्रकार का सामाजिक जीवन व्यतीत ही नहीं किया जा सकता। समाज की रक्षा करने और उसे अच्छी अवस्था में बनाये रखने के लिए यम-नियमों की आवश्यकता होती है। उनमें वे पवित्र गुण बतलाये गये हैं जिनकी जीवन, वित्त, काया, वाचा और मन के संरक्षण तथा सुख-सम्पादन के लिए आवश्यकता होती है। समाज स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी; अतः समाजशास्त्रों के लिए उन गुणों का पता लगाना आवश्यक होता है जिनसे समाज को उत्तम स्थिति में बने रहने और बढ़ने में सहायता मिलती है। हिन्दू समाजशास्त्रकारों ने पुराने अनुभव और मानवी जीवन का विस्तृत निरीक्षण करके उसके आधार पर अपने उपदेश और आदेश प्रस्तुत किये हैं; और यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि अच्छे समाज का अस्तित्व और स्थिरता तभी बनी रह सकती है जब उनकी बतलाई हुई दशलाक्षणिक नीति का आचरण और पालन किया जाय। उन्होंने शौच (शुद्धता), अक्रोध, गुरु शुश्रूषा (बड़ों की सेवा), आहार लाघव (मिताहार), अप्रमाद (व्यवस्थित रूप से जीवन व्यतीत करना), अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य (व्यभिचार से बचना) और अपरिग्रह (निर्लोभता) ये दस आवश्यक गुण बतलाये हैं; और इनमें से पहले के पाँच गुणों को नियम तथा अन्तिम पाँच गुणों को यम कहते हैं। समाज के व्यक्तियों में ये लक्षण जितने उत्तम रूप में रहते हैं, उतना ही वह समाज सुव्यवस्थित होता है और उन व्यक्तियों तथा समाज में उतना ही अधिक उच्च और अधिक परिपूर्ण वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन व्यतीत करने की पात्रता आती है। ब्राह्मण वर्ण में तो ये लक्षण पूर्ण रूप से अवश्य ही होने चाहिएँ। यदि इस वर्ण में ये सब लक्षण होंगे तो यह वर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ और समाज की पवित्रता, सौख्य तथा सुस्थिति बनाये रखने के लिए अत्यन्त उपयुक्त समझा जायगा। क्षत्रिय लोग अहिंसा और अपरिग्रह का पूर्ण रूप

से पालन नहीं कर सकते। वैश्य लोग सत्य तथा अस्तेय का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकते। शूद्र लोग ब्रह्मचर्य का और अन्त्यज लोग शौच का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर सकते। इसी लिए प्रत्येक वर्ण के आचार के आधार पर उसकी श्रेष्ठता और कनिष्ठता निश्चित की गई है। पाँच यम मुख्यतः उत्तम सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक हैं और वे मानसिक संयम तथा निर्बन्ध के रूप में हैं। और पाँच नियम उत्तम वैयक्तिक जीवन के लिए आवश्यक हैं और वे शारीरिक निग्रह तथा नियमों के रूप में हैं। उत्तम पुरुष बनने के लिए इन दसों लक्षणों की आवश्यकता होती है। प्राचीन काल में जो लोग इन लक्षणों का पालन नहीं करते थे, वे अनाचारी और अपराधी समझे जाते थे।

मनुस्मृति अध्याय १० श्लोक ६३ में कहा है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय निग्रह के पाँच गुणों का पालन सामाजिक अर्थात् सर्वसामान्य धर्म है। ये सब सामाजिक सद्गुण हैं और समाज का स्वयं अस्तित्व बनाये रखने के लिए ही इनकी आवश्यकता है। इसी प्रकार मनुस्मृति अध्याय ६ श्लोक ९२ में दशलक्षण धर्म बतलाया गया है। धृति (धैर्य), क्षमा, दम (संयमन), अस्तेय, शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (आकलन शक्ति), विद्या, सत्य और अक्रोध को आवश्यक कहा गया है; और इनमें पहले जो पाँच गुण बतलाये गये हैं, वे सब गुण सभ्य तथा सुसंस्कृत समाज के लिए आवश्यक होते हैं। इन्हीं दसों गुणों के अनुसार वर्ण, जाति, व्यवसाय, व्यवहार, आश्रम और पुरुषार्थ का वर्गीकरण किया गया है और श्रेष्ठता तथा कनिष्ठता निश्चित की गई है। मन, शरीर और आत्मा की पवित्रता तथा दोष-निग्रह पर ही इन गुणों का आधार है। उच्चतम सद्गुणों के लिए पवित्रता और आत्मनिग्रह इन्हीं दोनों बातों की आवश्यकता मानी गई थी और काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह तथा मत्सर नामक अधम विकारों को दबाने के लिए भी यही दोनों बातें आवश्यक बतलाई गई थीं; और यह समझा जाता था कि इन्हीं दोनों

बातों की सहायता से उत्तम सामाजिक जीवन व्यतीत किया जा सकता है।

पाँचवाँ प्रकरण

मानवी जीवन के उच्च ध्येय और अंग

मनुष्य समाज में भिन्न भिन्न प्रकार के जीवन दिखाई देते हैं। उनमें से कुछ जीवन श्रेष्ठ भी होते है और कुछ कनिष्ठ भी। पहले हमें यह जान लेना चाहिए कि इस प्रकार के भिन्न भिन्न तथा विचित्र जीवनों में से किस प्रकार का जीवन उत्तम होता है; क्योंकि हमे इस बात का पता लगाना होगा कि किन प्रकारों से समाज का जीवन उत्कृष्ट हुआ करता है; और उस प्रकार के समाज के तत्व क्या हैं। हमें वही काम करने चाहिएँ जिनसे समाज की सामर्थ्य बढ़े और उस सामर्थ्य का उपयोग समाज के कल्याण तथा उन्नति के लिए हो।

उत्तम और सुखमय जीवन की कल्पनाएँ पुरानी परम्पराओं, वर्तमान आवश्यकताओं और भावी ध्येयों पर अवलम्बित रहती हैं और वह सभी लोगों की संस्कृति में ग्रथित मिलती है। उनमें स्थल, कार्य और काल के अनुसार वृद्धि और परिवर्तन होते रहते हैं। आजकल हम लोग मोटे हिसाब से पौर्वात्य और पाश्चात्य ये दो विभाग करते हैं; और अधिक विशद रीति से भारतीय, चीनी, मुसलमानी, यूनानी, ईसाई और युरोपीय आदि नामों से उनका वर्गीकरण करते हैं। इनमें से प्रत्येक संस्कृति के लोगों के अन्तिम सुख और सामाजिक संघटन सांसारिक कार्यों और परमार्थ के विषय में विशेष प्रकार का दृष्टिकोण और मार्ग होता है। इनमें से प्रत्येक वर्ग के लोग मानवी जीवन के अनेक अंगों और प्रासङ्गों की जो संगति बैठाते है और उनके सम्बन्ध में जो योजनाएँ करते हैं, उनमें

बहुत कुछ भेद देखने में आता है। उनके ध्येय, आवश्यकताएँ, संस्कार, परिस्थितियाँ और परम्पराएँ समान नहीं होतीं और उनके महापुरुषों के चरित्रों में भी बहुत कुछ अन्तर होता है; और इन्हीं कारणों से उनका स्वभाव और संस्कृति भिन्न भिन्न साँचों में ढली हुई दिखाई देती है।

यहाँ पहले भारतीय संस्कृति के मुख्य लक्षण बतलाये जायँगे और तब उन कल्पनाओं का विचार किया जायगा जो वर्त्तमान समय में उच्च मानवी जीवन और संस्कृति की पोषक हैं।

संसार के सुधरे हुए और सभ्य मानव वंशों में आर्य वंश प्रगति और उन्नति के अग्र भाग में है। आर्यों का इतिहास और संस्कृति बहुत प्राचीन है और उनकी सर्वोत्कृष्ट वृद्धि हुई है। उनका तत्वज्ञान जीवन को वीर्य-शाली, सद्‌गुणी और उपयोगी बनानेवाला है और उनका मन नवीन विचारों को ग्रहण करनेवाला है। इस आर्य वंश की भारतीय आर्य नाम्नी जो बहुत बड़ी शाखा है, उसका वेदों के समय से लेकर अब तक का प्रायः ७००० वर्षों का माननीय इतिहास वर्त्तमान है। भारतीय आर्यों ने जीवन के ध्येयों और तत्वों के सम्बन्ध में जो कुछ निश्चित किया है, उसको संसार के जीवन सम्बन्धी विचारों और आचारों में बहुत ऊँचा स्थान मिला है। उन्होंने व्यक्ति तथा समाज के उत्कृष्ट जीवन क्रम के तत्व और उद्देश्य निश्चित करने और उन्हें व्यवहार में लाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम जीवनोद्देश्यों की संगति स्थापित करके, उनमें सामंजस्य स्थापित करके और क्रम से उनकी उच्च, नीच आदि श्रेणियाँ निश्चित करके मनुष्य के ऐहिक तथा पारलौकिक जीवनों में एक-सूत्रता और व्यवस्था स्थापित की है। उन्होंने जीवन के सभी अंगों और आचारों, व्यवहारों तथा आवश्यकताओं का निरीक्षण किया है। उनके जीवन शास्त्र तथा तत्सम्बन्धी तत्वज्ञान का उच्च हेतु ही यह है कि मनुष्य उत्तम वैयक्तिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन-क्रम व्यतीत करने का पात्र बने और इस प्रकार वह अन्तिम परिणत स्वरूप की ओर अग्रसर हो।

ऐसे आचार बना दिये गये है जिनसे मनुष्यों के लिए सामाजिक और वैयक्तिक ध्येय निश्चित होकर उनके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं और उन्हें तत्सम्बन्धी अनुभव प्राप्त होता है। चार वर्ण, चार आश्रम, चार पुरुषार्थ, चार युग, तीन लोक, तीन अवस्थाएँ, तीन गुण और तीन दंड, कर्म और पुनर्जन्म, पुरुष और प्रकृति, आदि प्रमेयों, विश्वासों और संस्थाओं का आश्रय लेकर उन्होंने अपने समाजशास्त्र की रचना की है और समाज का संघटन किया है। इन्हीं कल्पनाओं के आधार पर उन्होंने अपने ऐहिक और पारलौकिक जीवन-क्रम की रचना की है और आवश्यकतानुसार उनके लिए निर्बन्ध बना दिये हैं। उन्होंने मनुष्य को एक स्वतन्त्र व्यक्ति भी माना है और समाज का एक घटक भी माना है; और इन्हीं दोनों दृष्टियों से उन्होंने इन यम-नियमों आदि में मनुष्य के लिए आचार, व्यवहार और दंड निश्चित किये हैं। इनमें उन्होंने मनुष्यों के आदि तत्व, उसका स्वभाव, उसके कर्म और कर्मों के फल, उसके जीवन की भिन्न अवस्थाएँ और स्वभावानुसार उसके भेद, उसके अनेक प्रकार के साध्य, उस पर के बन्धन, काल और सृष्टि के साथ उसका सम्बन्ध, विश्व में उसका अन्तिम स्थान और उसके अन्तिम ध्येय आदि सभी बातें ग्रथित की हैं।

हिन्दू शास्त्रकारों ने इस संसार और यहाँ के जीवन-क्रम की उपेक्षा नहीं की है। सांसारिक व्यवहारों और जीवन-क्रम में उन्होंने अपना सारा आधार प्रत्यक्ष अनुभव पर ही रखा है। उन्होंने जीवन के समस्त अंगों, उसकी अवस्थाओं और कार्यों की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल और अध्ययन करके मनुष्य का जीवन संघटित किया है और मनुष्य के परम ध्येय के साथ उसका सम्बन्ध बहुत अच्छी तरह से जोड़ दिया है। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन की अन्तिम संगति बैठाते समय उन्होंने मनुष्य के सामाजिक अंगों को मानवी अस्तित्व के मुख्य साध्य की अपेक्षा कनिष्ठ स्थान दिया है। मानवी जीवन के ध्येयों, हेतुओं तथा कार्यों और उनके वास्तविक पारस्परिक सम्बन्ध की

सापेक्ष उच्चता तथा नीचता का समन्वय करने का तत्व हिन्दू संस्कृति के मूल के साथ पूरी तरह से मिला हुआ है। उन्होंने यही माना है कि मनुष्यों का प्रत्येक स्वभाव विशेष मनुष्य के जीवन की प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक वैयक्तिक तथा सामाजिक हेतु एक दूसरे से सम्बद्ध है। उनमें से प्रत्येक का आचार और अनुभव दूसरों के साहचर्य से और उचित परिमाण में होना और लिया जाना चाहिए। यदि उनमें से किसी एक को ही प्रधानता दी जायगी अथवा किसी एक का ही अनुकरण किया जायगा तो जीवन में अपूर्णता, स्वार्थपरता और विपर्यस्तता आ जायगी। वह पूर्ण रूप से समाज-पर नहीं रह सकता। इसी लिए ऐसी अच्छी रीति से और उचित परिमाण में इन सब का समन्वय होना चाहिए जिसमें किसी एक ही अंग, गुण, स्थिति अथवा हेतु की प्रबलता न होने पावे; और इनसे भी बढ़कर जो श्रेष्ठ प्रकार तथा ध्येय हैं, उनके मुकाबले में उनकी कनिष्ठता भी बनी रहे। प्रत्येक मनुष्य के लिए उसका एक निजी और विशिष्ट कार्य और उस कार्य के करने का समय भी नियत कर दिया गया है। प्रत्येक जीवन की प्रत्येक अवस्था के लिए उसके अनुरूप परीक्षात्मक प्रसंग और स्वभाव विशेष भी लगा दिये हैं। चारो वर्णों, चारो आश्रमों और चारो पुरुपार्थों की योजना के मूल मे यह विचार या उद्देश्य है कि कामों के विभाग करके उनके साधन के ध्येय निश्चित कर दिये जायँ, भिन्न भिन्न व्यक्तियों को उनके गुणों और कर्मों के अनुसार काम बाँट दिये जायँ और श्रम का विभाग कर दिया जाय। परन्तु इन सब बातों को निश्चित करने में उन्होंने मुख्यतः इसी तत्व पर विशेष ध्यान रखा है कि मनुष्यों को सद्गुणपूर्ण जीवन व्यतीत करने में किस प्रकार प्रवृत्त किया जा सकता है और उन्हें परलोक में आध्यात्मिक जीवन किस प्रकार प्राप्त कराया जा सकता है। उन लोगों ने ऐसी योजना की है जिसमें मनुष्य को जीवन की सभी अवस्थाओं में जाना पड़े, अनुभव करने के सभी प्रसंग उसके सामने आवें, सभी प्रकार के भोगोपचार उसे प्राप्त हों और इस प्रकार ससार में प्रवृत्ति मार्ग का

आचरण करते हुए वह ऐसे ढंग से चले कि सभी अशाश्वत पदार्थों और आकांक्षाओं की ओर से उसकी आसक्ति हट जाय और वह उन सबसे मुँह फेरकर मोक्ष की ओर ले जानेवाले निवृत्ति मार्ग पर अग्रसर हो। उन लोगों का यह विश्वास है कि मनुष्य के जीवन का प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्य ऐसी दृष्टि से संघटित किया जा सकता है जिसमें वह उच्चतर ध्येय प्राप्त कर सके। वे लोग इस प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं करते कि यह ध्येय ठीक है, या वह ध्येय ठीक है, यह उपासना श्रेष्ठ है या वह उपासना श्रेष्ठ है, आदि। बल्कि वे यही कहते है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने लिए स्वयं ही विशिष्ट कार्य और कार्य-क्षेत्र चुन ले और उसी के सम्पादन में प्रवृत्त हो। हाँ इतना अवश्य है कि हम अपने लिए जो जीवन-क्रम चुनें, उसका दूसरे और उच्चतर जीवन के अंगों के साथ होनेवाला सापेक्ष सम्बन्ध सदा हमारी दृष्टि के सामने रहना चाहिए और हमें इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि हमारे गुण, कर्म और स्वभाव के कारण दूसरे कार्यों की अधोगति न होने पावे।

संसार का जीवन मुख्यतः साहचर्य और स्वानुभव का जीवन है। हमें दूसरों के साथ साहचर्य करना चाहिए और स्वानुभव प्राप्त करना चाहिए। हम भी इस संसार मे रहनेवाले बहुत से व्यक्तियों मे से एक हैं और उन अनेक व्यक्तियों के साथ हमारा उचित व्यवहार होना चाहिए; और इसी विचार से प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक आश्रम और प्रत्येक पुरुषार्थ के आचरण और व्यवहार के नियम, शिक्षा के विषय और अनुशासन आदि भी निश्चित कर दिये गये हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सम्बन्धी शास्त्रों में इन सभी बातों का समावेश कर दिया गया है। उनमे उत्तम ब्रह्मचारी, उत्तम गृहस्थ, उत्तम वानप्रस्थ और उत्तम संन्यासी, उत्तम ब्राह्मण, उत्तम क्षत्रिय, उत्तम वैश्य और उत्तम शूद्र, उत्तम राजा, उत्तम राज्य, उत्तम मंत्री, उत्तम प्रजा और उत्तम राष्ट्र आदि सभी के जीवन-क्रम, अधिकार और कर्तव्य निश्चित कर दिये गये है। और उनमें आदर्शभूत

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन किया गया है। इसी प्रकार इन सबके सामान्य धर्म बतला कर उनके आपद्धर्म, गुण-धर्म और स्वभाव धर्म भी वर्णित कर दिये गये हैं और अन्त में दुर्वृत्तों या ऐसे लोगों का भी जीवन-क्रम बतला दिया गया है जो अपने नियत स्थान और नियत धर्म से पतित हो जाते हैं; और यह भी दिखला दिया गया है कि यदि अधर्म्य और अयोग्य रीति से जीवन व्यतीत किया जायगा तो कैसी कैसी सामाजिक आपत्तियाँ खड़ी होंगी और कैसे कैसे दुष्परिणाम होंगे।

नागरिकता की एक व्याख्या यह भी है कि हमारे अनेक सामाजिक कर्त्तव्यों का उचित क्रम लग जाय। नागरिकता का उद्देश्य यह है कि जीवन के भिन्न भिन्न अंगों के सम्बन्ध में हमारे कर्त्तव्यों और कार्यों का सापेक्ष महत्व निश्चित कर दिया जाय और वे लोग कर्त्तव्य तथा कार्य कर सकें। हमें जिन उद्देश्यों का साधन करना होता है और हम जिस संस्था के घटक हैं, उसकी उन उद्देश्यों के साथ क्रमिक महत्व की दृष्टि से तुलना करके उनकी संगति बैठानी पड़ती है; और तब भिन्न भिन्न कर्त्तव्यों का क्रम लगाने का कार्य आरम्भ करना पड़ता है। हिन्दुओं ने अपनी सामाजिक संस्था और ध्येयों की संगति बैठाने और उचित क्रम निश्चित करने का कार्य किया है। चारों पुरुषार्थों, चारों वर्णों और चारों आश्रमों की संगति बैठाकर उन्होंने श्रेष्ठता और कनिष्ठता के विचार से उचित क्रम लगा दिया है। यदि प्रत्येक नागरिक के भिन्न भिन्न [illegible]न्न संस्थाओं और भिन्न भिन्न परिज्ञानों में कभी किसी [illegible] विरोध उत्पन्न हो तो साधारणतः यह बात सहज में ध्यान में आ जाती है कि किस अवसर पर किस कार्य को अधिक महत्वपूर्ण मानना चाहिए। इस विषय में उन्होंने एक सामान्य नीति-नियम भी बतला दिया है जो इस प्रकार है—

त्यजेद्देहं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

अपने कुल के हित के लिए शरीर अर्पित करना चाहिए, अपने ग्राम के हित के लिए कुल के हित का ध्यान छोड़ना चाहिए, देश के हित के लिए अपने गाँव के हित का परित्याग करना चाहिए और अपनी आत्मा के कल्याण के लिए सारे संसार का त्याग कर देना चाहिए। इस वचन में छोटे संघों का उनसे बड़े संघों के साथ उचित सम्बन्ध दिखलाया गया है और लोकहित की दृष्टि से भिन्न भिन्न संघों की उच्चता और नीचता निश्चित की गई है। इसी प्रकार यह भी दिखलाया गया है कि यदि हमारे भिन्न भिन्न हित-सम्बन्धों और कर्त्तव्यों में कभी कोई विरोध उत्पन्न हो तो हमें कौन सी बात ग्रहण करनी चाहिए और किसका त्याग करना चाहिए। आत्मा की मुक्ति को उन्होंने सबसे उच्च ध्येय माना है। परन्तु सांसारिक व्यवहारों में उन्होंने स्थानिक हित-सम्बन्धों को राष्ट्रीय और मानवी हित-सम्बन्धों की अपेक्षा छोटे दरजे का माना है। उन्होंने आधिभौतिक जीवन को आध्यात्मिक जीवन की अपेक्षा और स्थानिक जीवन को लोककल्याण-कारक जीवन की अपेक्षा कनिष्ठ ठहराया है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दू नीतिशास्त्रकारों ने मानवी जीवन के सभी प्रकारों का बहुत ही ध्यानपूर्वक परिशीलन किया है, उसकी सभी शक्तियों और सभी उत्साहों को प्रकट होने का अवसर दिया है और जीवन की नियमबद्ध योजना में उन सब का अच्छा उपयोग किया है। सब लोगों को अपनी अपनी मनोवृत्ति के अनुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता दी है; और इस सम्बन्ध में केवल यही कहा है कि सब लोगों को अपनी मनोवृत्ति शुद्ध करनी चाहिए, उसे अच्छे रास्ते पर लगाना चाहिए और संयम सीख कर उसे अच्छे साँचे में ढालना चाहिए। उन्होंने मनुष्यों के मूल मनो-विकारों को दुष्ट अथवा अयोग्य नहीं माना है। उन्होंने यह नहीं माना है कि मनुष्य स्वभावतः अपकारी और अप्रामाणिक या अवि-श्वसनीय है। हाँ कुछ अंशों में उसे उद्दण्ड और आलसी अवश्य माना है। मनुष्य को ज्ञानी, उपकारी, सद्वृत्तियों से युक्त और

शीलवान बनाना ही उनका उद्देश्य है। यही उनकी नागरिक नीति का उच्च ध्येय है। उनके विचार से प्रत्येक मनुष्य को अपने कार्यों और भूमिका को पूर्ण रूप से सिद्ध करना चाहिए और अपनी जाति, संस्कृति तथा स्वयं अपने आपको ऊपर की कक्षा में ले जाने का भार अपने ऊपर उठाना चाहिए। उच्च कोटि का जीवन क्रम उत्पन्न करना नागरिकता का ध्येय है। नागरिक का काम केवल यही नहीं है कि वह कुछ सत्ताओं और अधिकारों का उपभोग करे और कुछ राजकीय कार्य तथा कर्त्तव्य पूरे करे। नागरिकता के इन ध्येयों की सिद्धि उन स्थानिक परिस्थितियों में और भी अच्छी तरह से हो सकती है जहाँ शिक्षा और लोकसेवा के लिए उत्तम सन्धि या अवसर मिले। ऐसी परिस्थितियों में रहनेवाले नागरिक को अपने सब कार्य करने का पूर्ण अवकाश और उत्तेजना मिलती है और वहीं उसे अपनी समस्त शक्तियों, भावनाओं, हार्दिक कामनाओं और गुणों का उपयोग करने का निश्चित स्थान भी मिलता है।

हिन्दुओं के जीवन के तत्व और ध्येय ऐसे ही उच्च और उदार हैं। अब आगे आधुनिक काल के भिन्न भिन्न अंगों और ध्येयों का विचार किया जाता है।

भौतिक जीवन का हमारे शरीर के धारण और पोषण के साथ सम्बन्ध होता है। मनुष्य की पहली आवश्यकता यह है कि पहले वह यह निश्चित करे कि कम से कम कितनी वस्तुएँ और बातें किसी मनुष्य के जीवन-निर्वाह के लिए परम आवश्यक होती हैं; और तब ऐसी व्यवस्था करे जिससे सब लोग उसके अनुसार जीवन-निर्वाह कर सकें। जीवन-निर्वाह के लिए अन्न, वस्त्र, घर-बार, जल-वायु, विद्या, विश्रान्ति और औषधोपचार की तो अवश्य ही आवश्यकता होती है; और प्रत्येक मनुष्य के लिए प्रत्येक अवस्था में कम से कम इतनी बातों का सुभीता तो अवश्य ही होना चाहिए। उसके जीवन की उचित वृद्धि के लिए थोड़े से सुख और आराम के और श्रम का परिहार करने के साधन तो अवश्य ही होने चाहिएँ। मनुष्य चाहे

वृद्ध, अपाहिज, रोगी, उद्योगरहित अथवा अयोग्य ही क्यों न हो, पर फिर भी उसके जीवन की मूल आवश्यकताओं की पूर्त्ति तो अवश्य ही होनी चाहिए। यदि अपनी उन आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए वह किसी प्रकार का परिश्रम या सेवा न कर सकता हो तो भी किसी तरह काम चल जायगा। देश की सम्पत्ति और भौतिक सामग्री का देश के लोगों में उचित विभाग होना चहिए अथवा उन्हें इतना ज्ञान होना चाहिए कि इन सबका उचित उपयोग किस प्रकार किया जाता है। यदि सारी सम्पत्ति और सामग्री एकत्र होकर कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में चली जाय, बहुत ही थोड़े लोगों का उन पर स्वामित्व हो जाय और समाज के बहुत से लोगों में सोलहो आने दरिद्रता फैल जाय तो समाज के लोगों में वैमनस्य, दास्य वृत्ति और दुःख की ही सृष्टि होती है। इसका परिणाम यही होता है कि सामाजिक व्यवस्था शिथिल पड़ जाती है और दीन दुःखियों का क्लेश तथा असहायता और भी बढ़ जाती है। कौटिल्य ने कहा है—सुखस्य मूलं धर्मः। अर्थात् सुख का मूल धर्म है; और धर्मस्य मूलं अर्थः अर्थात् धर्म का मूल अर्थ या धन है। हमारा नैतिक और आध्यात्मिक जीवन हमारे आर्थिक जीवन के सन्तोषजनक होने पर ही निर्भर करता है। 'बुभुक्षितः किं न करोति पापं" वाले कथन के अनुसार जब आदमी के पेट में चूहे कूदने लगते हैं, तब वह सभी प्रकार के पाप कर सकता है। बिना पहले भोजन-पानी की व्यवस्था किये मनुष्य और कुछ कर ही नहीं सकता—उसके लिए और कोई उपाय ही नहीं है।

जीवन के नैतिक, बौद्धिक और भावनात्मक अंगों का मनुष्य के मन और सामाजिक प्रवृत्ति की वृद्धि और सिद्धता के साथ सम्बन्ध है। मनुष्य की शिक्षा-प्रणाली के साथ भी उसका अधिक सम्बन्ध रहता है, क्योंकि शिक्षा की सहायता से मनुष्य के मन को निरामय और स्वयं मनुष्य को साहसी, संयमी और निःस्वार्थी बनाया जाता है। मन या विवेक ही मनुष्य की विशेषता है। मन ही मनुष्य के बन्धन और स्वतन्त्रता का कारण है।

रोमन लोगों की एक कहावत का अभिप्राय है कि नीरोग शरीर में निरामय मन का निवास होता है। विचार करना मन का कार्य है और निर्दोष विचार करना (अच्छे और बुरे, पाप और पुण्य को समझना और उसका अन्तर जानना) शिक्षित और सुसंस्कृत मन का कार्य है। जब मन यह उच्च कार्य कर सकेगा, तभी मनुष्य का नैतिक जीवन सुधर सकेगा और उसका भावनात्मक जीवन सुन्दर हो सकेगा। सच्चे नैतिक जीवन की पहचान और उच्च मनोविकारों तथा उत्कट भावनाओं से उत्पन्न होनेवाली योग्य स्फूर्ति तथा कर्तृत्व शक्ति सदा उच्च कोटि के बौद्धिक जीवन पर ही अवलम्बित रहती है। जो कार्य हमे करना हो, उसमें अपना सारा मन और हृदय लगा देने से ही उच्च कोटि का नैतिक जीवन प्राप्त होता है। हिन्दुओं की उच्च नीति-विषयक कल्पनाएँ दशलाक्षणिक धर्म पर ही आश्रित हैं। सद्गुणी मनुष्य ही इन सब बातों की ठीक ठीक कल्पना कर सकता है और वही भिन्न भिन्न प्रसंगों पर उसका उचित उपयोग करना भी जानता है। इसी लिए हिन्दुओं ने सद्गुणी और सदाचारी मनुष्य को बहुत महत्त्व दिया है। पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ और ही तरह से उत्तम नैतिक कल्पनाओं का वर्णन किया है। वे इसके लिए स्वतन्त्रता, समता, बन्धुत्व, राष्ट्रीयता, विश्वकुटुम्बता, लोकसत्ता, न्यायशीलता और प्रगतिशीलता की आवश्यकता बतलाते हैं।

आध्यात्मिक अंगों का मनुष्य की आत्मा के ध्येय, परिणति और ऐहिक मार्गक्रमण के साथ सम्बन्ध होता है। आत्मा के विकास के लिए संयम और सम्बन्ध, योग और त्याग की आवश्यकता होती है; और आध्यात्मिक अंगों में यही सब बातें कही जाती हैं। आध्यात्मिक जीवन के मूल तत्वों और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन करते समय इन प्रश्नों का ऊहापोह किया जाता है कि आस-पास के परिवार में आत्मा का क्या स्थान है, उसका सच्चा स्वरूप और वास्तविकता क्या है, उसके विकास का क्या क्रम है, संसार के भौतिक जीवन में उसका क्या महत्व है, शरीर और समाज पर

उसका कितना अधिकार है और परम तत्व के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, इत्यादि। हिन्दुओं के मत के अनुसार आध्यात्मिक जीवन का ध्येय मोक्ष है और उसकी प्राप्ति के मार्ग प्रवृत्ति और निवृत्ति, संसार और संन्यास हैं। संसार-चक्र अर्थात् जीवन और मरण के फेर से मनुष्य को छुड़ाना या मुक्ति दिलाना ही उनका ध्येय है।

मनुष्य उत्तम जीवन तभी बिता सकता है जब समाज में स्फूर्त्ति उत्पन्न करनेवाले ध्येय अच्छे हों। समाज का शरीर ठीक प्रकार का होना चाहिए; केवल यही नहीं, बल्कि साथ ही उसके ध्येय भी उच्च कोटि के होने चाहिएँ। तभी मनुष्य उत्कृष्ट नागरिक हो सकता है। इन प्रश्नों का उत्तर देना सहज नहीं है कि उत्तम जीवन कैसा होता है और सर्वोत्कृष्ट सामाजिक तथा राजकीय ध्येय कौन से हैं। इस विषय में बहुत ही थोड़े लेखकों में एक-मत या एकवाक्यता है।

ध्येय वास्तव में प्रस्तुत संस्थाओं और परिज्ञानों में परिवर्त्तन तथा प्रगति उत्पन्न करनेवाले और उन महापुरुषों की कृतियाँ तथा आकांक्षाएँ हैं जो अब तक समाज में हो गये हैं। आदर्श ऋषि, राजा, साधु, सन्त, नेता, प्रणेता, संस्था और संघटन आदि के रूप में वे ध्येय मूर्त्त आकार प्राप्त करते हैं; अथवा केवल तत्वों और उपदेशों के द्वारा वे मनुष्यों के मन पर प्रतिबिम्बित किये जाते हैं। वे सुधार अथवा क्रान्ति के मार्ग से समाज की वर्त्तमान रचना और उद्देश्यों को ठीक ढंग पर लाते हैं। समाज के ध्येयों का उद्देश्य यह है कि कर्तृत्वक्षम और सर्वोत्कृष्ट मनुष्य तथा सुव्यवस्थित और कर्तृत्ववान् समाज का निर्माण हो।

उत्तम जीवन सदा सद्गुणी और सदाचारी, सदिच्छा का और उद्योगी, सार्वजनिक हित-बुद्धि और लोकसेवा का होना चाहिए। उदारचरितों और सत्पुरुषों का जीवन अर्थात् परार्थ और परहित के लिए व्यतीत किया हुआ जीवन ही उत्कृष्ट प्रकार का सामाजिक और नैतिक जीवन होता है।

आजकल के समय में उच्च वर्ग, श्रेष्ठ वर्ण या वंश आदि, कुलीनता

और जाति विषयक कल्पनाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। जाति की दृष्टि से बनाई हुई अग्रज और अन्त्यज की भावना और गुणों की दृष्टि से मानी हुई कुलीनता की भावना के लिए आज कल कोई स्थान नहीं है। कुलाभिमानी, शील-सम्पन्न, भोग-विश्रान्ति-सम्पन्न और संगीत कला सम्पन्न पुरुषों के लिए समाज के सम्मान और अधिकार-योग में विशेष वैयक्तिक स्थान नहीं है। आजकल का सामाजिक संघटन वस्तुतः लोकसत्ता के तत्वों और समता, स्वतन्त्रता तथा राष्ट्रीयता की कल्पनाओं पर आश्रित है। इस प्रकार की व्यवस्था और ध्येयों के कारण सन्मान्य लोगों को भी और सामान्य लोगों को भी समान अधिकार, समान स्वतन्त्रता और समान सुख की प्राप्ति होनी चाहिए; और जैसा कि उपयुक्ततावादी लोग कहा करते हैं—"बहुत से लोगों का बहुत सा सुख सम्पादित होना चाहिए।" ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें बहुत से लोगों को बहुत सा सुख मिले।

समाज के स्वास्थ्य के लिए, उसे ठीक अवस्था में बनाये रखने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—एक तो उत्तम व्यवस्था की और दूसरे प्रगति तथा सुधार की सन्धि या अवसर की।

समाज में सुव्यवस्था तभी हो सकती है जब लोगों में एक दूसरे के प्रति आदर और सहिष्णुता हो। सुव्यवस्था का उद्देश्य ही यह होता है कि जो बातें अब तक प्राप्त की जा चुकी हैं, उनकी रक्षा हो; और वह शान्तिपूर्ण परिस्थित उत्पन्न हो जिसकी मनुष्य के जीवन और सुधार के लिए सदा विशेष आवश्यकता हुआ करती है। यदि सुव्यवस्था न हो तो समाज अपने प्राप्त किये हुए सुखों और सुभीतों का उपभोग नहीं कर सकता। बिना सुव्यवस्था के न तो समाज इसी बात का अनुभव कर सकता है कि विशिष्ट प्रकार का सामाजिक जीवन कैसा होता है और न वह अपना सुधार ही कर सकता है। इसका कारण यही है कि निश्चित स्वरूप और चलती रहनेवाली सामाजिक स्थिति का कुछ काल तक कटु अनुभव कर चुकने और उसकी ठीक ठीक परीक्षा कर लेने के उपरान्त ही

सुधार करने की इच्छा उत्पन्न होती है और तभी इसके लिए समाज का प्रयत्न आरम्भ होता है। जब सुधार हो चुकते हैं, तब समाज की नवीन व्यवस्था सूचित होती है; और जब वह व्यवस्था स्थापित हो जाती है, तब वह नवीन सुधारों का विचार करने लगती है और लोगों को उसकी ओर ले जाती है। सुव्यवस्था तो सुधार और प्रगति का मूल आधार है और वही सुधारों तथा प्रगति के लिए अनुकूल और पोषक सन्धि या अवसर का निर्माण करती है।

सुव्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में राष्ट्र के विधि-निर्बन्ध और समाज के नीति-नियम तथा परम्परा को शिरोधार्य करने की वृत्ति हो। इन बन्धनों के स्वरूप दुष्ट या निग्रहात्मक भी होते हैं और शिष्ट या अनुग्रहात्मक भी। परन्तु यदि सुव्यवस्था के लिए अन्यायपूर्ण नीति-निर्बन्ध, नीति-रहित नियम और विवेकशून्य रीति-रवाज प्रचलित हो तो वह कभी सुव्यवस्था नहीं है; बल्कि एक ओर से वह जुल्म और जबरदस्ती की और दूसरी ओर से गुलामी की अवस्था है। वह कभी स्वतन्त्रता और समता की स्थिति नहीं हो सकती। सुव्यस्था का उद्देश्य यह होता है कि प्रगति और सुधारों के लिए उपयुक्त परिस्थिति उत्पन्न हो; और इसी लिए स्वतन्त्रता सदा सुव्यवस्था और प्रगति का एक आवश्यक लक्षण है। यदि स्वतन्त्रता न हो तो मनुष्य और समाज कभी जीर्णशीर्ण कल्पनाओं और रीति-रवाजों तथा प्रतिकूल और प्रतिगामी बन्धनों को छोड़कर आगे बढ़ ही नहीं सकते। सुव्यवस्था और स्वतन्त्रता की स्थिति में बुद्धिमान तथा भावना प्रधान लोग अपने विशेष विचार, भाव तथा आकांक्षाएँ प्रकट कर सकते हैं और उनकी प्राप्ति या सिद्धि करने में समर्थ होते हैं। सुव्य-वस्था और प्रगति की दृष्टि से शिक्षा का भी उतना ही महत्व है जितना स्वतन्त्रता का है। शिक्षा की सहायता से मनुष्य नवीन कल्पनाओं का आकलन कर सकता है। सुव्यवस्था और प्रगति का महत्व समझने के लिए मनुष्य को उनके प्रति निष्ठायुक्त होकर उसकी उपयुक्तता को मान्य करना

चाहिए। शिक्षा मन को तैयार करती है और परिस्थिति उसे इस योग्य बनाती है कि वह नवीन ध्येयों तथा सुधारों को पसन्द करे और उनके अनुसार चले।

मानवी समाज की सर्वांगीण और सदैव होनेवाली प्रगति की कल्पना नवीन है। प्राचीन काल में अधोगति-चक्रनेमि-क्रम, प्रलय और ईश्वरीय योजना की कल्पनाएँ मान्य समझी जाती थीं। पर आजकल प्रगति की कल्पना शिष्ट सम्मत हो गई है। उसी के कारण मनुष्य में प्रयत्न की दृष्टि, उच्चाकांक्षा की वृत्ति, स्वतन्त्रता का उत्साह, उत्थान की धीरता और साहस का व्यवहार दिखाई पड़ता है। आजकल लोगों का यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि मनुष्य अपने सत्कर्मों के द्वारा अनेक प्रकार के सुधार कर सकता है और सारे समाज को, संस्कृति की दृष्टि से आगे ले जाता है; और लोगों के इस प्रकार के विश्वास का समर्थन इतिहास से भी होता है। इतिहास हमे बतलाता है कि मनुष्य, उसका समाज और उसकी संस्कृति पहले आरम्भिक और जंगली अवस्था में थी; और धीरे धीरे सुधार होते हुए वह कृषि-प्रधान, उद्यम-प्रधान, विवेक प्रधान, शील प्रधान और अध्यात्म-प्रधान आदि अनेक अवस्थाओं को पार करती हुई आज प्रौढ़ स्थिति मे आ पहुँची है। बहुत से लोगों के साथ होनेवाले मेल-जोल, विचार-विनिमय और अनुकरण के कारण जो अनेक आधार, विचार, विद्याएँ, कलाएँ और रीति व्यवहार उत्पन्न हो गये है, उनका रूप मिश्रित है। इस समय सब लोगों का यही दृढ विश्वास है कि अब आगे सामान्यतः सारे संसार का एक ही प्रकार से सुधार होगा। पर यह भी माना जाता है कि उनमें से कुछ लोगों की कुछ विशिष्ट पुरानी बातें भी अवशेष रूप से बची रह जायँगी। अब यह माना जाता है कि सत्ययुग अथवा स्वर्ण युग बीत नहीं गया है, बल्कि आगे आनेवाला है।

प्रगति की कल्पना मे मनुष्य और समाज के सद्गुणों की वृद्धि, उपकार वृत्ति, सेवा भाव, समता दृष्टि, भलाई, सत्कार, मैत्री, आरोग्य,

आयु और सुख आदि की वृद्धि की ओर और शिक्षा तथा ज्ञान के प्रसार की ओर विशेष ध्यान देना पड़ता है। केवल लोकसंख्या, धन-संपत्ति, शास्त्रीय अन्वेषण और कला कौशल को वृद्धि की ओर ही ध्यान देने से काम नहीं चलता। प्रगति की उपयुक्तता केवल परिमाण रूप में नहीं की जाती, बल्कि परिणाम रूप में और परिणत दृष्टि से करनी पड़ती है। और इसी की सहायता से व्यक्तियों की शारीरिक, मानसिक, नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए।

स्वतन्त्रता वस्तुतः पुराने राजकीय जीवन की प्रमुख कल्पना थी। स्वतन्त्रता का अर्थ केवल यही नहीं था कि परकीय राजसत्ता का अभाव हो; बल्कि उसका यह अर्थ समझा जाता था कि नागरिक लोग राजकीय कार्यों में उचित रूप से सम्मिलित हों, उनके साथ ठीक तरह से न्याय हो और उन्हें यह अधिकार प्राप्त हो कि निर्बन्ध या कानून की दृष्टि में वे सबके समान माने जायँ। राज्य संस्था उस समय प्रजा को जकड़ रखने-वाली शृंखला और उन्हें दबाये रखनेवाली उद्दंड शक्ति नहीं थी। शासितों की सम्मति पर ही उसका अस्तित्व था। यह माना जाता था कि राज्य के कार्यों में सम्मिलित होना वे अपना अधिकार समझते थे। इसके सिवा यूनानियों की कल्पना के अनुसार स्वतन्त्रता के द्वारा लोगों को विश्राम का, बौद्धिक और ललितकलाकारों का, सामाजिक सद्-अभिरुचि का और सुख का जीवन प्राप्त होता था।

आजकल के समय में स्वतन्त्रता में लोकनीतिक, राजनीतिक, राष्ट्रीय और धार्मिक स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का समावेश किया जाता है। इन सभी दृष्टियों से प्रत्येक व्यक्ति के कुछ मूलभूत अधिकार होने चाहिएँ और कुछ सुखों तथा सुभीतों की परिस्थिति प्राप्त होनी चाहिए। अब यह मत कोई नहीं मानता कि राज्यतन्त्र ही सब प्रकार से अधिकारी है। उसके लिए भी कुछ नैतिक मर्यादाएँ हैं। राज्यतन्त्र को भी कुछ निर्बन्धों को मानते हुए आचरण या व्यवहार करना चाहिए। यह मनुष्यों के कल्याण

और संरक्षण का केवल एक साधन है; इसके सिवा और कुछ नहीं है। स्वतन्त्रता में इस प्रकार की भी एक कल्पना अन्तर्भूत है कि मनुष्य के अन्तःकरण में कुछ पवित्रता और भलाई भी है। इसी लिए उसे जीवन के सभी अंगों और व्यवहारों में अधिकार तथा कर्त्तव्यों के रूप में सम्मिलित होने और इस प्रकार अपने समाज के साथ साथ स्वयं अपनी भी प्रगति या उन्नति करने की स्वच्छन्दता होनी चाहिए। इसी प्रकार मनुष्य में कुछ बुराई और अज्ञानमूलक बात भी है; और इसलिए सच्ची स्वतन्त्रता की दृष्टि से उसका नियन्त्रण होना चाहिए। स्वतन्त्रता की सच्ची मर्यादा यही है कि यह माना जाय कि सार्वजनिक हित भी कोई चीज है; और वैयक्तिक अथवा सांघिक स्वतन्त्रता के कारण उस सार्वजनिक हित की हानि नहीं होनी चाहिए।

पीड़ित राष्ट्रों और पतित समाजों का स्वतन्त्रता के इस ध्येय से बहुत काम निकला है और यह ध्येय उनके लिए स्फूर्ति के अखंड झरने के समान उपयोगी सिद्ध हुआ है। स्वतन्त्रता के ध्येय ने बहुत सी पुरानी व्यवस्थाओं में उलट-फेर कर दिया है। पर सब मिलाकर उसका परिणाम यही हुआ है कि उसके द्वारा लोगों को राष्ट्रीय, राजकीय, लोकनीतिक और धार्मिक स्वतन्त्रता तथा सामर्थ्य प्राप्त हुई है। उत्तम जीवन की प्राप्ति के उद्देश्य से उसकी ध्वजा फहराये रखने के लिए बड़े बड़े युद्ध और सन्धियाँ हुई हैं।

स्वतन्त्रता का वास्तविक उद्देश्य यह नहीं है कि मनुष्य और लोगों के सहवास से बचकर कहीं दूर भाग जाय, बल्कि उसका सच्चा उद्देश्य यह है कि मनुष्य दूसरों के कार्यों और व्यवहारों में अधिकाधिक सम्मिलित हो। यदि मनुष्य को दूसरों के साथ मिलने-जुलने, उनके साथ रहकर काम करने और आदान-प्रदान करने का समान अवसर मिले, तभी उसे आनन्द आता है और तभी वह समझता है कि मुझे स्वतन्त्रता मिली है; क्योंकि इसी के द्वारा उसकी कार्य क्षमता और कर्तृत्व को अपना स्वरूप दिखलाने का अवसर मिलता है और उसका जीवन पूर्ण होता है।

सामाजिक समता सम्बन्धी झगड़ा बहुत ही पुराना है और अभी तक उसका निपटारा नहीं हुआ है। जाति, कुल, बुद्धि, नीति, सत्ता, धन और व्यवसाय की श्रेष्ठता के कारण जो सामाजिक विषमता उत्पन्न हो गई है, उसके विरुद्ध अधिकारहीन और धनहीन लोग बराबर आन्दोलन करते आये हैं। समता ही उनका ध्येय है। उन्नत और आगे बढ़े हुए देशों में राजनीतिक दृष्टि से सब लोगों की समानता मान ली गई है। उसके द्वारा सामाजिक और आर्थिक विषयों में उच्च और नीच जाति, वर्ग और वर्ण का भेद कम करने में सहायता मिली है। समता का यह ध्येय मनुष्यों के हित-सम्बन्ध, उनकी इच्छाओं और साध्यों की समानता का प्रश्न मुख्य रूप से सामने लाता है। मनुष्यों में चाहे शरीर, मन, सामर्थ्य और कर्तृत्व की दृष्टि से भले ही अन्तर हो, पर फिर भी प्रत्येक मनुष्य समाजशील और प्रगतिशील है; और इसी लिए उसे दूसरे मनुष्यों की भाँति समान सन्धि और स्थान मिलना चाहिए। मनुष्य चाहे बुद्धि-बल, नीतिमत्ता अथवा सिद्धता की दृष्टि से औरों के समान न भी हो, पर फिर भी जहाँ तक सामाजिक ध्येयों और हितों का सम्बन्ध है, वहाँ तक प्रत्येक मनुष्य समान ध्येयोंवाला ही समझा जाना चाहिए। विधि और निर्बन्ध की दृष्टि से सभी लोग समान समझे जाने चाहिएँ। प्रत्येक मनुष्य की कम से कम, पर निश्चित कुछ आर्थिक स्थिति होनी चाहिए और नागरिक की हैसियत से प्रत्येक मनुष्य के अधिकार और कर्त्तव्य बहुत से अंशों में समान ही होने चाहिएँ। राजकीय सत्ता को ऐसी सहायता करनी चाहिए जिसमें सभी लोगों को आर्थिक दृष्टि से उदर-निर्वाह और सुख तथा सुभीते के लिए उचित साधन प्राप्त हों और वे उसका उपभोग कर सकें।

कुछ बलवानों और ऐसे बड़े लोगों ने, जिन्हें जन्म से ही कुछ विशिष्ट अधिकार तथा साधन प्राप्त हुए हैं, कुछ ऐसा मनमाना व्यवहार किया है जिससे संसार में बहुत कुछ विषमता उत्पन्न हो गई है; और उसी विषमता का नाश करने के लिए समता का सिद्धान्त सामने आया है। समता का

वह ध्येय बहुत ही इष्ट है जिसकी सहायता से पिछड़े हुए लोग अधिक अच्छी तरह से रह सकें। इसी लिए समाज का ठीक तरह से वर्गों में विभाग करते समय भिन्न भिन्न मनुष्यों की आवश्यकताओं, उनके कर्तृत्वों तथा कार्यों का विचार करना पड़ेगा; और इतने काम के लिए पूर्ण समता का नियम मर्यादित करना पड़ेगा, क्योंकि प्रत्येक आदमी से समान सेवा और समान कार्य हो सकना सम्भव नहीं है।

नागरिकों को आपस में बन्धु भाव से रहना चाहिए। सामाजिक जीवन और समागम का मुख्य लक्षण सहकार और सेवा है। प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों की सहायता करनी चाहिए और उनकी अड़चनें दूर करनी चाहिएँ। किसी को औरों पर अपना प्रभुत्व या बड़प्पन नहीं दिखलाना चाहिए। इसके लिए ध्येय के अनुसार कुटुम्बत्व की सर्वोच्च कल्पना समाज के समान ही व्यापक करनी चाहिए और समस्त नागरिकों के सम्बन्ध में बन्धुत्व की भावना रखनी चाहिए। वहाँ न तो किसी के स्वार्थ के लिए कोई स्थान रह जाता है और न दासता का कहीं ठिकाना रह जाता है। वहाँ प्रत्येक मनुष्य दूसरों के हित की इच्छा रखता है और उसके लिए प्रयत्न करता है। उसमें दूसरों के कार्यों और भावनाओं के विषय में सहिष्णुता, सहानुभूति और आदर आदि गुणों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार समता का ध्येय सामान्य मनुष्यों की योग्यता बढ़ाता है और स्वतन्त्रता का ध्येय उसे अवसर और कार्यक्षमता देता है, उसी प्रकार बन्धुत्व का ध्येय मनुष्यों को एकता, प्रेम, करुणा और मैत्री के बन्धन में बाँध कर एक कराता है।

न्यायवाले ध्येय की व्याख्या करना कठिन है। कुछ लोग तो कहते हैं कि उसका आधार विधि-निर्बन्ध अथवा धर्म-बन्धन है; और कुछ लोग सदाचार, बड़े लोगों के दिखलाये हुए मार्ग और अन्तःकरण की प्रवृत्ति अथवा विद्वानों के किये हुए निर्णय को उसका आधार मानते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि उसके मूल में सत्य, समता,

अहिंसा आदि वे सूक्ष्म तत्त्व हैं जो धर्मशास्त्रकारों और अर्थशास्त्रकारों ने बतलाये है।

सामाजिक न्यायबुद्धि का काम यह है कि वह व्यक्ति के सामाजिक अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित करती है और उसे इनकी प्राप्ति कराती है। शासन का मुख्य हेतु रक्षा और न्याय करना है। न्यायबुद्धि के मूल में समानता और निष्पक्षता का तत्त्व है। उसकी सहायता से मनुष्यों में परस्पर सख्य, प्रेम और विश्वास दृढ़ होता है और पारस्परिक द्वेष तथा भय कम होता है। शासन की व्यवस्था करनेवालों का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि यदि दो व्यक्ति अथवा संघ आपस में लड़ते हों तो उनका न्याय करे और उनमें शान्ति बनाये रखे। यह काम न्यायाधीशों और निर्बन्धों या कानूनों के द्वारा होता है। जब तक न्याय-बुद्धि न हो, तब तक समाज कभी ठहर नहीं सकता। मनु और प्लेटो (अफलातून) का मत यह है कि जिस सामाजिक व्यवस्था में प्रत्येक मनुष्य को उसके गुणों और कर्मों के अनुसार उचित स्थान और कार्य दिया जाता है, वहीं न्याय होता है। कभी कभी न्याय का लोकमत और लोकाचार से विरोध भी हो जाता है। उस समय "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयं नाचरणीयं" वाले सिद्धान्त के अनुसार काम करना पड़ता है। जब तक पहले से मनुष्यों को सुशिक्षित न कर दिया जाय, तब तक वे कभी नवीन धर्म, नवीन ध्येय और वास्तविक न्याय के अनुकूल नहीं होते, वे इन सब बातों को मानने के योग्य नहीं होते।

आजकल सामर्थ्य और कर्तृत्ववाले ध्येयों की प्रबलता बढ़ रही है। जिन लोगों में पहले से सामर्थ्य और कर्तृत्व है और जो लोग उन्हें बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं, आगे चल कर उन्हीं लोगों की उन्नति और वृद्धि होगी। जिस समाज में समता का तत्त्व माना जायगा और वृद्धि होगी, उस समाज में सामर्थ्यवान्, कर्तृत्वशाली, साहसी और बुद्धिमान् लोगों को जगह नहीं मिलेगी। इसलिए वह समाज और उसके व्यक्ति और पिछड़े रह जायँगे।

सभी लोग सब कामों के लिए विशेषतः अधिकार, शासन, विद्यादान आदि ऐसे कामों के योग्य नहीं होते जो बुद्धि, शील, सामर्थ्य, आदि पर अवलम्बित रहते हैं। समाज के व्यवहारों में सुस्थिति और प्रगति की दृष्टि से कर्तृत्व को मुख्य स्थान मिलना चाहिए।

कुछ लोगों ने अपना ध्येय केवल धर्म, केवल अर्थ, केवल काम अथवा केवल मोक्ष की प्राप्ति करना ही मान रखा है। इसी लिये अन्यान्य पुरुषार्थों मे सामंजस्य बना रहना चाहिए और इनकी उचित श्रेष्ठता तथा कनिष्ठता बनी रहनी चाहिए; और इस प्रकार समाज के समस्त अंगों का परिपोषण होना चाहिए और वह सुस्थिति में रहना चाहिए। जो समाज केवल धर्म-प्रधान, केवल अर्थ प्रधान, केवल काम प्रधान अथवा केवल मोक्ष-प्रधान हुए है, वे जीवन-कलह और सद्‌गुणवर्धन में पिछड़ गये है; और ऐसे कुछ समाजों का ह्रास हो रहा है।

सुख ही मनुष्य जाति का मुख्य ध्येय है। पर समाज मे सभी के सुख अथवा प्रत्येक व्यक्ति के सुख की व्यवस्था करना कठिन है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की सुख सम्बन्धी कल्पनाएँ कभी समान या एक सी नहीं होतीं। उपयुक्ततावादियों ने यह बतलाया है कि समाज का ध्येय यह होना चाहिए कि बहुत से लोगों को बहुत सा सुख मिले। यह सुख मनुष्यों का तात्कालिक और निकटवर्त्ती सुख नहीं है। वह अन्तिम सुख या कल्याण है। ऐसा सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब निकटवर्त्ती सुख को तिलांजलि दे दी जाय और उस अन्तिम सुख की प्राप्ति के लिए बहुत बड़ा प्रयास किया जाय। पर यहाँ उस अन्तिम सुख का अभिप्राय पारलौकिक सुख नहीं है। वह ऐहिक सुख का ही उच्च स्वरूप है। उसमे समाज के हित, स्थिरता, सुस्थिति, प्रगति, स्वतन्त्रता, सुसम्पन्नता, निरामयता आदि बलवर्धक, नीतिवर्धक और अर्थवर्धक बातों का विशेष रूप से अन्तर्भाव होता है।

आजकल एक ओर तो धन-सम्पन्न, मान सम्पन्न और सत्ता-सम्पन्न

लोगों के वर्ग उत्पन्न हो गये हैं और वे लोग खूब मनमानी करते हैं; और दूसरी ओर अकिंचन, पतित और पीड़ित लोगों के वर्ग उत्पन्न हो गये हैं और उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इन सब बातों के कारण दोनों प्रकार के लोगों में परस्पर विरोध और लड़ाई-झगड़े होने लग गये हैं; और साथ ही साथ नीचे दरजे के वर्गों में समता, स्वतन्त्रता, सत्ता और सम्पत्ति की प्राप्ति की इच्छा भी उत्पन्न हो गई है। इन्हीं सब बातों को प्राप्त करने के लिए पीड़ितों और दु:खितों को इस समय यह उद्देश्य अपने सामने रखना पड़ा है कि हम स्वयं अपने प्रयत्न पर भरोसा करें और दूसरों के नियन्त्रण तथा पीड़न से मुक्त हों; और उन्हें ऐसा जान पड़ने लगा है कि इस प्रकार सब लोग श्रेष्ठ जीवन के ध्येयों तक पहुँच सकेंगे।

लोकसत्ता के मूल में रहनेवाले समता, स्वतन्त्रता, बन्धुता आदि तत्वों का हम ऊपर विचार कर चुके हैं। वर्त्तमान युग के व्यवहारों में लोकसत्ता का एक ऐसा ध्येय है जो सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी दृष्टियों से मान्य हो चुका है। लोकसत्ता का राजनीतिक उद्देश्य यह है कि सब लोग प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रतिनिधियों के द्वारा राज्य के कार्यों, विधि-निर्बन्धों और न्याय आदि के कार्यों में सम्मिलित हो सकें। सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से भी समता, स्वतन्त्रता और बन्धुता का प्रचार लोकसत्ता के ही द्वारा होता है और लोकसत्ता ही इन सबमें एकवाक्यता अथवा सामंजस्य स्थापित करती है। लोकसत्ता एक ऐसी लोक-समाज की न्याय व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करती है जिसमें प्रत्येक मनुष्य को उचित स्थान, अवसर और कार्य मिल सकें।

यूनान के नगर-राज्यों का और उनमें से विशेषतः एथेन्स का प्रधान लक्षण यही है कि उसमें लोकसत्ता स्थापित थी। इसी लोकसत्ता की प्रधानता के कारण वहाँ सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं का एक ऐसा बड़ा वर्ग बन गया था जिसने अपने जीवन का यही कार्य और ध्येय बना लिया था कि अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाय और देश के राजनीतिक

अधिकारों और लोकनैतिक व्यवहारों में हमें पूरा पूरा अंश मिले। परन्तु एथेन्स में जो लोकसत्ता प्रचलित थी, वह प्रत्यक्ष प्रकार की थी और उसका स्वरूप प्रातिनिधिक नहीं था। प्रत्येक यूनानी नागरिक अपने यहाँ की राज्य-संस्था का सभासद होता था। परन्तु यह लोकसत्तात्मक राज्य-व्यवस्था केवल उन्हीं लोगों के लिए थी जो यूनानी जाति के होते थे; अर्थात् उसका स्वरूप मर्यादित था। यूनानियों को छोड़ कर और जातियों के लोगों को न तो नागरिक का स्थान ही मिलता था और न उसके अधिकार ही प्राप्त होते थे। इसलिए और जातियों के लोग वहाँ की राज्यसत्ता और राज्यतन्त्र में सम्मिलित नहीं हो सकते थे।

आजकल जो लोकसत्ता प्रचलित है, वह प्रातिनिधिक स्वरूपवाली है। जिन राज्यों का क्षेत्र बहुत बड़ा होता है और जिनके कार-बार भी बहुत बड़े-बड़े होते हैं, उन देशों में प्रत्यक्ष स्वरूपवाली राजसत्ता चल ही नहीं सकती। जिस प्रकार यूनान के छोटे छोटे नगर-राज्यों में विचार-विनिमय के लिए सभी लोग एकत्र हुआ करते थे, उसी प्रकार बड़े बड़े क्षेत्रोंवाले राज्यो के सब लोग कभी एकत्र हो ही नहीं सकते। वे अपना मत सूचित करने के लिए केवल प्रतिनिधि ही भेज सकते हैं। इन्हीं प्रतिनिधियों की सम्मति और विचार से राज्य और शासन के काम-काज चलाने पड़ते हैं। पहले प्रतिनिधित्व का यह अधिकार केवल उच्च कुलों के अथवा सम्पन्न लोगों को, उच्च वर्णवालों को अथवा धर्मोपदेशकों को ही हुआ करता था। अर्थात् इसी वर्ग के लोग जनता के प्रतिनिधि हो सकते थे। पर धीरे धीरे इस विषय में सम्पत्ति और कुलीनता का विचार कम होने लगा; और अब यह सिद्धान्त सर्वमान्य हो गया है कि प्रतिनिधि सभा में प्रवेश करने का अधिकार सभी लोगों को होना चाहिए।

लोकसत्ता के ध्येय के सम्बन्ध में कुछ आक्षेप किये गये हैं। कुछ आक्षेप करनेवालों का कहना है कि ऐसा राज्य अशिक्षितों और नालायकों का राज्य होता है। वे समझते हैं कि इस प्रकार की व्यवस्था उदार नीति

और प्रगति के प्रतिकूल है। उनका मत है कि इससे लोगों के मत एक खास साँचे में ढल जाते हैं और स्थिति-प्रिय बन जाते हैं; और तब नवीन तथा पोषक मतों के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। स्वार्थ-बुद्धि, नीतिभ्रष्टता और अज्ञान आदि दोषों का भी उस पर आरोप किया जाता है, जैसा कि वशिष्ठ ऋषि ने कहा है—

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्वं न विद्यते॥

लोकसत्ता पर आक्षेप करनेवालों का कहना है कि जो लोग अच्छे जानकार या तत्वज्ञ, कर्तृत्ववान् और बुद्धिमान् होते हैं, उनके नेतृत्व के लिए लोकसत्ता में स्थान नहीं रह जाता; और वस्तुतः ऐसे ही लोगों में समाज के विकट प्रश्नों की मीमांसा करने की शक्ति हुआ करती है। अज्ञानी बहुजनों की सत्ता का अर्थ समाज का ह्रास और नाश है और बुद्धिमान् महाजनों की सत्ता का अर्थ समाज की प्रगति और कल्याण है।

लोकसत्ता कहती है कि चाहे मनुष्य और उनके स्वभाव अनेक प्रकार के क्यों न हों, पर फिर भी प्रत्येक नागरिक को अनुकूल सन्धि और गुण के अनुसार स्थान तथा कार्य मिलने का समान अधिकार और समान स्वतन्त्रता होनी चाहिए। चाहे इसके प्रत्यक्ष व्यवहार में कुछ दोष भले ही उत्पन्न हो गये हों, पर फिर भी इस लोकसत्ता के कारण बहुजन समाज की स्थिति इस समय पहले की अपेक्षा बहुत कुछ अच्छी हो गई है। लोकसत्ता केवल राज्य-पद्धति या शासन-प्रणाली के रूप में चलाई जाने के लिये नहीं है, बल्कि वह सारी सामाजिक व्यवस्था का ध्येय और उसे एक में बाँध रखनेवाला सूत्र है। यदि मनुष्य प्रगतिशील हो, उसका ज्ञान बराबर बढ़ता जाता हो और उसका आचरण उन्नत होता जाता हो तो लोकसत्ता अवश्य इस योग्य सिद्ध होगी कि उसका समर्थन किया जाय। सत्ता स्वार्थ-साधक और परार्थ-घातक भी हो सकती है, इसलिये उस सत्ता को धारण करनेवाले लोग ऐसे होने चाहिएँ जो समाज

की दृष्टि में ज्ञानी, नीतियुक्त और उपकारी हों। समाज और शासन-प्रणाली की मुख्य कसौटी यही है कि उससे लोगों का कल्याण और रक्षा हो। और जिस सामाजिक तथा राजकीय प्रणाली से मनुष्यों की उच्च प्रवृत्तियों को पूरा पूरा और निरन्तर प्रोत्साहन मिलता है, और जिसके द्वारा लोगों को सर्वांगीण वृद्धि या उन्नति में सहायता मिलती है, वही व्यवस्था अधिक मान्य हुई है।

लोकसत्ता का ध्येय तभी उपयोगी हो सकता है जब जन-साधारण आलसी न हों। जन-साधारण को सदा चैतन्य, निर्भीक, शिक्षित, विवेकशील और प्रामाणिक होना चाहिए। उनमें ऐसी चिकित्सक दृष्टि होनी चाहिए जो गुणों और दोषों की परीक्षा या जाँच कर सके। उनमें बढ़ते हुए ज्ञान, विवेक तथा न्यायशीलता की आवश्यकता है। जब आदमी स्थानिक और सार्वजनिक कार्यों में सम्मिलित होता रहता है, तब अनुभव से उसके इन गुणों की वृद्धि होती है। लोकतन्त्र तो तभी सफल हो सकता है जब लोकमत सुबुद्ध हो। इसके लिए लोकमत सदा विचारशील, चिकित्सक और चर्चानुकूल होना चाहिए। लोगों में न्यायशीलता, नीति-प्रियता और सार्वजनिक भाव होने चाहिएँ।

यदि कोई भ्रमणशील जाति-समूह किसी प्रदेश में निश्चित रूप से अपना निवास-स्थान बना ले तो कहा जायगा कि उसने अपने सांस्कृतिक जीवन में बहुत बड़ी क्रान्ति और प्रगति की है। भ्रमणशील समाज का जीवन कुछ बहुत व्यवस्थित और विद्या तथा कला से युक्त नहीं होता और मानसिक विकास तथा कर्तृत्व के लिए उसे बहुत ही थोड़ा अवसर तथा अवकाश मिलता है। भ्रमणशील अवस्था में तो उसके आर्थिक जीवन के साधन भी निश्चित और सुव्यवस्थित नहीं होते। पर जब वह समाज किसी अच्छे प्रदेश में जमकर बस जाता है, तब वह अपने आर्थिक जीवन की आवश्यक वस्तुएँ, जैसे अन्न वस्त्र, घर-बार, औषध आदि का निश्चित रूप से सम्पादन कर सकता है; और इसलिए उसके मानसिक

विकास तथा विद्याओं और कलाओं की वृद्धि के लिए उचित अवकाश मिलता है।

इन्हीं सब कारणों से उस समाज के लोगों में अपने देश के सम्बन्ध में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। वह देश उनकी सांसारिक आवश्यकताएँ पूरी करने लगता है, इसलिए वे लोग अपने धार्मिक विश्वासों के अनुसार उस स्थान को ग्रामदेवता या क्षेत्र-देवता के रूप में पूजने लगते हैं। इसका कारण यही है कि जिस स्थान पर लोग बसते हैं, वह स्थान ही शत्रुओं से उनकी रक्षा करता है, उनकी आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करता है और उन्हें नैतिक तथा मानसिक उन्नति करने के लिए अवकाश देता है। पुराने जमाने के लोग इस प्रकार के कार्य करनेवाली शक्ति या साधन को देवता के रूप मे मानते थे, क्योंकि वे अपने देवताओं से इसी प्रकार की बातों के लिए अर्थात् सम्पत्ति-संरक्षण और समृद्धि के लिए ही प्रार्थना करते थे; और इन्ही उद्देश्यों से उनका पूजन करते थे। वे लोग जो प्रार्थना या पूजा करते थे, वह अपनी भूमि, पर्वत, नदी, नगर और ग्राम आदि में निवास करनेवाली प्राकृतिक शक्ति के उद्देश्य से ही करते थे। वे लोग यह समझते थे कि इस प्रकार की देवता-रूपी शक्तियों के कोप से बचने अथवा उनकी कृपा सम्पादित करने के लिए उनकी प्रार्थना और पूजा आदि करके उन्हें प्रसन्न करने की आवश्यकता होती है।

इस प्रकार एक देश में रहनेवाली भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर व्यवहार और सम्बन्ध बढ़ने लगता है। ये व्यवहार और सम्बन्ध पहले तो आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उत्पन्न होते हैं और तब वे धीरे धीरे समाज के अन्यान्य व्यापारों और सम्बन्धों के रूप में भी उत्पन्न होने लगते हैं। इनके कारण समाज के धार्मिक, नैतिक तथा सामूहिक भाव अधिक विस्तृत तथा दृढ़ होते हैं। इन पारस्परिक सम्बन्धों के कारण परस्परावलम्बन के कारण देसवासियों में देश-भक्ति और जातीयता का भाव भी उत्पन्न हो जाता है। देश ही अपने निवासियों के नागरिकता के बन्धनो

दृढ़ करता है और निवासी लोग अपने देश का पालन तथा उन्नति करते हैं और उसे देव-निर्मित देश, पुण्य-भूमि, जन्मभूमि और मातृ-भूमि आदि नामों से सम्बोधन करने लगते हैं। इस प्रकार एक विशिष्ट प्रदेश बहुत से लोगों में एकता उत्पन्न करता है और उन लोगों की एकता का परिणाम यह होता है कि उस देश में राष्ट्र का निर्माण हो जाता है। वे सब लोग एक साथ रहकर एक मन से सब काम करने लगते हैं और आपस में मिल जुलकर आनन्दपूर्वक रहने लगते हैं। उन लोगों में अपनी एकता और साहचर्य का पूरा ज्ञान होता है। उन्हें अपने देश में जन्म लेने, वहाँ की संस्कृति से सम्पन्न होने और वहाँ अपना जीवन व्यतीत करने का बहुत बड़ा अभिमान जान पड़ने लगता है। उनमें एक प्रकार की राष्ट्रीय भावना और परम्परा उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनका जीवन कुछ और ही रास्ते पर लग जाता है। उन लोगों की इसी राष्ट्रीय भावना और देश के प्रति होनेवाले प्रेम को देश भक्ति कहते हैं; और हमारे यहाँ की यह देश-भक्ति हमारे साहित्य के इस वचन में ग्रथित की गई है—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरियसी"। इसके कारण नागरिकता की कल्पना उत्पन्न होती है और उससे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक हो जाता है। ये कार्य उचित रूप से करने के लिए सामाजिक जीवन के अनेक अंगों, मुख्य लक्षणों, विशिष्ट परम्पराओं और प्रमुख हेतुओं का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है।

मातृभूमि अथवा जन्मभूमि आजकल लोगों के लिए बहुत ही पूज्य हो गई है। वह लोगों के स्वार्थ-त्याग और उपासना का विषय हो गई है। देशभक्ति लोगों की संकुचित कुटुम्ब-भावना, जाति-भावना, ग्राम भावना और नगर-भावना का विकास करके आज-कल राष्ट्र-भावना में स्थित है। देश-भक्ति की कल्पना का लोगों की भिन्नता अथवा समानता के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। सब लोगों के जिस सामान्य गृह या जन्म भूमि में सब लोगों की भौतिक, नैतिक और पारमार्थिक आवश्यकताओं की संसिद्धि,

संप्राप्ति और समृद्धि होती है, उस जन्मभूमि के सम्बन्ध में सब लोगों के मन में देवत्व की भावना उत्पन्न करना ही इस देश-भक्ति का काम है। उसके कारण श्रद्धा का एक ऐसा दृढ़ मार्ग बन जाता है जिस पर चलते हुए लोग यह समझते हैं कि हमारा देश और सब देशों से निराला, अच्छा और श्रेष्ठ है। लोगों के मन से यह कल्पना बिलकुल निकल जाती है कि देश केवल एक भू-विभाग है। देश का क्षेत्र-फल इस देश-भक्ति की केवल स्थल-मर्यादा, आरम्भ स्थान और आधार-स्थान दिखलाता है। इस भूगोलात्मक आधार पर जो एक भावना खड़ी होती है, उसी के बन्धन से बद्ध होनेवाले मनुष्य समाज का उसमें समावेश होता है। वह एक प्रेम और बन्धुत्व की भावना है। वह एक ऐसी वृत्ति है जिससे सब लोग समझते हैं कि हम सब लोग सहवासी, सहकारी और समान रूप से दुःख और सुख भोगनेवाले हैं। यह भावना और यह वृत्ति देश में जन्म लेने और बसनेवाले सभी लोगों को आकृष्ट करके एक साथ बाँध देती है। इस वृत्ति में लोग केवल यही नहीं समझते कि हम सब लोगों का केवल एक साथ रहनेवाला एक समूह है, बल्कि उसमें सब लोगों के समान ध्येय, स्फूर्ति तथा एकता के लिए नागरिक व्यक्तियों के साहचर्य और प्रेम भाव की कल्पना भी है। यदि देश में एकता की भावना और सहकारिता की वृत्ति अच्छी तरह बढ़ी हुई न हो और देशवासियों में विषमता, उच्च-नीचता और जाति-विरोध हो तो देश-भक्ति की दृष्टि से यह समझा जाता है कि वहाँ राष्ट्र का निर्माण अभी तक हुआ ही नहीं है। ऐसी अवस्था में देश केवल एक निवास-स्थान अथवा भौगोलिक क्षेत्र ही रह जाता है। देश-भक्ति की कल्पना में भावना की दृष्टि से सारा देश एक घर के समान हो जाता है और उसमें रहनेवाले लोग विचारों, भावनाओं और कृत्यों में बहुत ही निकट के अर्थात् एक कुटुम्ब के लोगों के समान हो जाते हैं। जिस देश के समस्त निवासियों के मन में यह विश्वास हो कि हम सब लोग मिलकर एक स्वतंत्र समूह के रूप में है और हम सभी लोगों का

यही बात उन विचारों और वृत्तियों, उद्देश्यों और कृत्यों की एकता उत्पन्न करती है जिनकी आवश्यकता देश-भक्ति की भावना और श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए होती है। इसके कारण एक प्रादेशिक जन-संघ में दूसरों से भिन्न और अपने काम भर की एकता की भावना उत्पन्न होती है।

इस भावना का यह अर्थ नहीं है कि देश-भक्ति की भावना से भरा हुआ कोई प्रदेश मनुष्यों की सर्व-सामान्य आवश्यकताओं और भूत-दया की कल्पना को दूर हटाकर दूसरे मनुष्य-संघों के साथ कलह करनेवाला एक युद्धयमान संघ ही है। सामान्यतः ऐसा देश कभी संसार के बौद्धिक, धार्मिक, व्यापारिक और लोकोपयोगी सहकार्य में बाधक नहीं होता। पर प्रत्येक प्रश्न और विषय की ओर देखने के लिए उस की एक विशेष प्रकार की दृष्टि होती है और उसका स्वयं अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता, शासन-प्रणाली और संस्थाओं पर ही विश्वास होता है।

जिस प्रकार मनुष्यों की अन्यान्य धार्मिक, वांशिक और आर्थिक भावनाओं की परिणति बराबर भिन्न भिन्न पन्थों, गणों और राज्यों का निर्माण करती हुई दिखाई देती है, उसी प्रकार यह देश-भक्ति की भावना भी ऐसे ढंग से बढ़ सकती है जिसमे वह सर्व-सामान्य मानवी संस्कृति और जाति के लिए विघातक सिद्ध हो। कुछ देशों के निवासी केवल अपने ही लाभ या सुभीते के लिए—फिर चाहे वे लाभ और सुभीते न्यायसंगत हों अथवा न्याय-विरुद्ध—केवल अपने ही हित की बातों का समर्थन करते हैं और अपनी सारी शक्ति का उपयोग करके दूसरों के पक्ष का—फिर चाहे वह पक्ष सच्चा और ठीक ही क्यों न हो—नाश करने के विचार से युद्ध तक करने के लिए तैयार हो जाते हैं। नैतिक व्यवहार के उच्च तत्वों की उपेक्षा और दूसरों की हानि करके प्राप्त की हुई अपनी सम्पत्ति, शक्ति और प्रदेश की ऐसे ढंग से वृद्धि करना, जिसका किसी प्रकार समर्थन ही न हो सके, बहुत बड़े दोष हैं, और ये दोनो ही महादोष युरोप के अनेक देशों की देश भक्ति की भावना में अधिष्ठित अथवा मिश्रित दिखाई देते

हैं। इसी लिए उन देशों के निवासियों की देश-भक्ति की कल्पना अत्यन्त संकुचित होती है। यह तो मानों एक बड़ी और उच्च भावना की विकृति ही है। दूसरों का सर्वस्व हरण करनेवाली बुद्धि और अपने कर्त्तव्यों की झूठी कल्पना के कारण ये दोष उत्पन्न होते हैं; और इनके कारण उस उच्च भावना का नीचतम स्वार्थपूर्ण वृत्ति में रूपान्तर हो जाता है।

देश-भक्ति और मानव-हित की भावनाएँ ऐसी नहीं हैं जिनका परस्पर विरोध हो। हम लोग देश के रूप में समस्त मानव जाति के एक घटक हैं। किसी विशिष्ट देश के नागरिक होने से पहले हम मूलतः मनुष्य हैं। सारी मनुष्य जाति स्वभावतः एक है। उसका मूल एक ही है। इतिहास काल में मनुष्य जाति चाहे भिन्न भिन्न मार्गों से ही आगे बढ़ी हो और भिन्न भिन्न अवस्थाओं तक जा पहुँची हो, पर फिर भी मानसिक और नैतिक आदि मुख्य मुख्य बातों में सारी मनुष्य जाति में समानता ही है। चाहे और लोगों के साथ हमारा कुछ भी सम्बन्ध न हो, तो भी मनुष्य मात्र के लिये हमारे मन में सहानुभूति उत्पन्न होती ही है; और जब हम इस तत्व की ओर ध्यान देते हैं, तब समस्त जाति की एकात्मता सहज में स्पष्ट हो जाती है। यदि हम यह बात न भूल सकते हों कि देश-बन्धुता का क्षेत्र विश्व-बन्धुता के क्षेत्र से छोटा है, तो साथ ही हमें यह बात भी न भूलनी चाहिए कि बहुसंख्यक मनुष्यों के अविचारी और सुधारणा प्रतिकूल स्वार्थ के लिए अल्पसंख्यक देशवासियों के सच्चे हित का बलिदान नहीं किया जा सकता। अपने उच्च ध्येय और कल्पनाएँ प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने का प्रयत्न करनेवाले छोटे छोटे संघों में भी उत्कृष्ट विश्वबन्धुता प्रकट होती है। उचित प्रकार की देश-भक्ति वास्तव में स्थल भर के उपयोग में लाई हुई विश्वबन्धुता और उन उन मर्यादित क्षेत्रों के श्रेष्ठ सद्गुणों और भावनाओं का प्रत्यक्ष आचरण ही है। दूसरे राष्ट्रों की ओर से जो अतिक्रमण होता अथवा हो सकता है, उसके सम्बन्ध में लोगों में जो सावधानता होती है, देश-भक्ति उसी सावधानता की

द्योतक है; और इसी लिए एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्रों के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसमें भी यह देश भक्ति सहज में ही दिखाई पड़ती है। इसके सिवा छोटे छोटे संघों अथवा राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों और विरोधों से जो अनुभव प्राप्त होता है, उससे हमारी समझ में यह बात आ जाती है कि मनुष्य जाति के लिए कौन सी बात श्रेयस्कर है; और साथ ही हम यह भी समझ लेते है कि अपने राष्ट्र के विशिष्ट गुणों और कार्यों का संरक्षण करने और दूसरे राष्ट्रों के कामों मे उनका उपयोग करने में ही मनुष्य जाति का सर्व-सामान्य कल्याण हो सकता है।

जो देश-भक्ति दूसरों की स्वतन्त्रता पर आक्रमण करती हो, उसका निषेध करना चाहिए और उसे दबा रखना चाहिए। परन्तु अभी तक सारे संसार ने अपना व्यावहारिक जीवन और शासन-प्रणाली स्वतन्त्र रूप से एकमुखी अथवा संयुक्त रूप से संघटित नहीं की है। ऐसी अवस्था में राष्ट्र केवल अखिल मनुष्य जाति के संघटित कार्यों का एक साधन ही है। यदि बड़े बड़े और उन्नत राष्ट्रों के अनुभव एकत्र किये जायँ तो हमारी समझ में यह बात आ सकती है कि सम्पूर्ण मनुष्य जाति के क्या अधिकार होने चाहिएँ। पर इस प्रकार के अनुभवों अथवा ध्येयों की प्राप्ति किसी राष्ट्र के असहिष्णु प्रचारक, लोभी व्यापारी, राक्षसी राजनीतिज्ञ या शस्त्रास्त्रों से लदे हुए भीषण सेनापति से नहीं हो सकती। विश्वबन्धुता के सर्वोच्च ध्येय सदा वनों में निवास करनेवाले विचारशीलों अथवा नगरों में रहनेवाले साधु सन्तों और तत्वज्ञानियों से ही प्राप्त होते है।

मनुष्य के आज-कल के जीवन, उसके विचारों और ध्येयों, उसके कृत्यों और प्रयत्नों पर समस्त मनुष्य जाति की सामान्य और पूर्वार्जित कल्पनाओं और संस्थाओं का परिणाम पड़ा होता है। इसी लिए हमें इस बात में भूले नहीं रहना चाहिए कि हम स्वयं-पूर्ण और स्वतन्त्र हैं। हमारी वृत्ति ऐसी नहीं होनी चाहिए जो केवल हमारे ही लिए पूरी हो और दूसरों के लिए उसका कोई उपयोग न हो। संसार में परोपकार के सम्ब-

न्ध में अनेक नई कल्पनाओं का निर्माण हुआ है; और दूसरों के साथ व्यवहार करने के लिए कुछ और ही गुणों को महत्व प्राप्त हुआ है। आज-कल समाज-विषयक सम्बन्ध और ज्ञान बहुत कुछ बढ़ गया है। ऐसी अवस्था में यदि सारे संसार का कोई एक ही सामाजिक और राजकीय संघटन न हो तो भी हमें अपनी देश-भक्ति और राष्ट्र सम्बन्धी भावना का कूप-मंडूकवाली वृत्ति से अर्थ नहीं करना चाहिए। दूसरे देशों के दीर्घ काल के अनुभव और बड़े बड़े महापुरुषों से प्राप्त होनेवाली नवीन कल्पनाओं, सद्गुणों और विस्तृत ज्ञान का निरीक्षण करके उन्हें ग्रहण करना चाहिए और सर्वोत्कृष्ट स्वरूपवाली जागतिक संस्कृति के उत्तरा-धिकारी बनकर हमें उसका पोषण और वर्द्धन करना चाहिए। हमारा जो प्राचीन वैभव, नैतिक बल, बौद्धिक ओज और आत्मिक ज्ञान है, वह हमारे उस मार्ग में बाधक नहीं होना चाहिए जो हमें वर्त्तमान स्थिति से आगे या ऊपर की ओर ले जाता है। नहीं तो आधुनिक संसार में हमे दलित, बहिष्कृत और बिलकुल अकेले होकर रहना पड़ेगा, हमारी बाढ़ रुक जायगी और हमारा ह्रास होने लगेगा। हमें केवल अपने पर-म्परागत विद्यापीठों और संस्कृति के केन्द्रों में उच्च ज्ञान का अध्ययन और प्राप्ति नहीं करनी चाहिए, बल्कि बाहरी संसार की विद्या और संस्कृति के केन्द्रों में भी जाकर ज्ञान सम्पादित करना चाहिए और उसका उपयोग करना चाहिए।

देश-भक्ति की कल्पना में अधिकारों की कल्पना की अपेक्षा कर्त्तव्यों की कल्पनाओं का ही अधिक समावेश होता है। देश-भक्ति का मुख्य उद्देश्य यही है कि हम अपने ग्रामवासी, नगरवासी और देशवासी पड़ोसियों आदि से सम्बन्ध रखनेवाले कर्त्तव्यों का ही विशेष रूप से पालन करें। अपने पड़ोसियों के हित करने का जो धर्म है और इस सम्बन्ध में जो ध्येय तथा संस्थाएँ हैं, उन्हें शिरोधार्य करके हमें सब लोगों के हित-साधन का प्रयत्न करना चाहिए। स्वजनों के इसी सान्निध्य और उनकी इसी सेवा में लग कर

द्वारा उसे ऐसे साझेदार मिलते हैं जो उसके साथ मिलकर नित्य-नैमित्तिक सुख और दुःख भोगते हैं।

आर्थिक अंग उसकी शारीरिक रक्षा के अर्थात् अन्न-वस्त्र और घर-बार के काम देखते हैं। इन आर्थिक अंगों से उसके आयुष्य और आरोग्य, सन्तति और सम्पत्ति की भली भाँति रक्षा होती है। ये मनुष्यों को व्यवसायों के रूप में करने के लिए काम देते हैं; और इन कामों में मनुष्य जो परिश्रम करता या साहस दिखलाता है, उससे उसे साधन, सम्पत्ति और सुख तथा विश्रान्ति की प्राप्ति होती है। इन सम्पत्तियो पर वह अपना स्वामित्व रखकर अपना उदर-निर्वाह, संचार और संगोपन करता है। यह आर्थिक जीवन अनेक संघों और व्यवसायों के द्वारा सिद्ध होता है और लोग उत्पन्न की हुई सम्पत्ति का उचित विभाग, विनिमय और उपभोग करके सुखी होते हैं।

धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक अंग भी उसकी अध्यात्म प्राप्ति, सद्गति, शील संवर्धन और मानसिक उन्नति के कार्य करते रहते हैं। इनके द्वारा समाज में उदारता, परोपकार, समता, बन्धुता, स्वतन्त्रता, सख्य, सत्संगति, सेवा-भाव, ऐक्य-भाव, साधु भाव, आनन्द, त्याग वृत्ति, तत्व-जिज्ञासा, ज्ञान-लालसा, विद्या-प्रेम आदि भाव और वृत्तियाँ उत्पन्न होती तथा बढ़ती हैं। इनसे समाज में उच्च जीवन और उदार चारित्र्य का यथेष्ट प्रचार होता है, मनुष्य के परिणत स्वभाव, गुण और संस्कृति का पूरा ज्ञान प्राप्त होता है और ऐहिक जीवन में सत्य, सौन्दर्य और सामर्थ्य दिखाई पड़ती है। इनसे मनुष्य को यह पता चलता है कि हमारा अन्तिम ध्येय क्या है, वह संसार के सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजय के सम्बन्ध में निरासक्त होता है और अपनी वृत्तियों को उच्च करके समाधानपूर्वक रहने लगता है। अनेक धर्मों और गुणों, त्याग और योग तथा पन्थों और सम्प्रदायों द्वारा इन अंगों का सम्पादन और संरक्षण किया जाता है।

शिक्षणात्मक अंग मनुष्य की स्वाभाविक शक्तियों और स्फूर्तियों को

ठीक मार्ग पर लगाता है और उसके शरीर तथा मन को सामर्थ्यवान्, संयमी, साहसी और संस्कृति-सम्पन्न बनाता है। इससे मनुष्य का शील और चरित्र, भावना और वासना, व्यवसाय और उद्योग सुसंस्कृत तथा सुव्यवस्थित होते हैं। इससे मनुष्य को विद्या और सामर्थ्य, कला और कौशल, अन्वेषण-बुद्धि और जिज्ञासा प्राप्त होती है और समाज को स्थिरता, शक्ति या बल, विचार और दूर-दृष्टि प्राप्त होती है। यह शिक्षणात्मक कार्य विद्यापीठों, पाठशालाओं, संगोपनगृहों, पुस्तकालयों, प्रयोगशालाओं, वाचनालयों, देवालयों, छात्रालयों, विद्वत्परिषदों और शास्त्रीय मंडलों के द्वारा होता है। इससे मनुष्य की समझ में साध्य और साधन, ध्येय और उपाय आदि आ जाते हैं, उसे अपने योग्यतानुसार अपना जीवन उत्कृष्ट रूप से व्यतीत करने का अवसर मिलता है; और वह कार्यक्षम, बलवान् तथा सुसंस्कृत होकर समाधान पूर्वक रहता है।

आरोग्यात्मक अंग मनुष्य के आस-पास स्वच्छता और सफाई करता है और उसे शुचिता तथा शुद्धतापूर्वक शिक्षा, ज्ञान और नियम प्रदान करता है। इससे वह घातक रोगों, संसर्गजन्य रोगों और गन्दगी आदि से मुक्त रहता है। इससे उसके आयुष्य और बल की वृद्धि होती है और आरोग्य की प्राप्ति होने पर वह समाधान और उत्साह से रहता है।

राजकीय अंग मनुष्य के देश की रक्षा और योग क्षेम का काम करता है; अर्थात् जो वस्तुएँ उसे अब तक नहीं मिली होतीं, उनकी वह उसे प्राप्ति कराता है, मिली हुई वस्तुओं की रक्षा कराता है और साथ ही उनकी वृद्धि तथा उचित विभाग करता है। इससे समाज में शान्ति और व्यवस्था का राज्य होता है और वह षड्यन्त्र, भीतरी कलह और दूसरों के कुचक्रों से बचता है। इसके द्वारा दुष्टों को दंड दिया जाता है, शिष्टों को मान की प्राप्ति होती है और राष्ट्र का सब प्रकार से संरक्षण और पोषण होता है। इस प्रकार एक विशिष्ट और स्वतन्त्र प्रदेश का लोक-समाज राज्य के रूप में एकत्र, संघटित और सुव्यवस्थित होता है और

उसके उच्च जीवन के कार्य बिना किसी प्रकार की बाधा या विघ्न के अच्छी तरह चलने लगते हैं।

मनुष्य के जीवन के यही प्राचीन और अर्वाचीन ध्येय तथा अंग माने गये हैं और नागरिक नीति की दृष्टि से इन सब अंगों का बहुत महत्त्व है।

छठा प्रकरण

सामाजिक जीवन

"समाज" शब्द के सामान्य अर्थ में केवल मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध ही आता है, प्रदेशों का सम्बन्ध नहीं आता। किसी ऐसे हेतु अथवा कार्य के लिए, जिसका सम्बन्ध सभी लोगों के साथ समान रूप से हो, मनुष्यों का जो समूह या संघ परस्पर सम्बद्ध होता है, उसी को समाज कहते हैं। मनुष्यों के एकत्र होने के जो अनेक प्रकार के ढंग या प्रणालियाँ हैं, उन सभी के लिए यह एक सामान्य शब्द है।

समाज का संघटन बिलकुल स्वाभाविक है। मनुष्य की आवश्यकताओं और रुचि आदि के अनुसार उसमें वृद्धि और परिवर्त्तन होता है। आरम्भिक अवस्था में मनुष्यों का समाज, मुख्यतः सहवास और संगति सम्बन्धी, उनकी प्रवृत्ति के अनुसार बनता है; और आगे चलकर वह कुछ तो मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार, कुछ उनकी पसन्द के अनुसार और कुछ परिस्थितियों के अनुसार बढ़ता और बदलता रहता है। समाज के इस संघटन से मनुष्यों के सुख, सुभीते, रक्षा और वृद्धि में सहायता मिलती है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं, परिस्थितियों और ध्येयों के अनुरोध से समाज का बुद्धिमत्तापूर्वक संघटन करने में समर्थ है। समाज मनुष्य की वृद्धि और संगोपन के लिए ही है। यद्यपि मनुष्य को समाज की आवश्यकता होती है, तो भी समाज के हेतु में और समाज की सत्ता के अधीन

पड़कर उसकी स्वतन्त्रता लुप्त नहीं होती। मनुष्य ने अपनी उच्च मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने और उसका उपभोग करने के लिए जन्म लिया है; दूसरों की सत्ता अथवा परिस्थितियों के अधीन पड़कर बुरी तरह से दबे रहने के लिए उसने जन्म नहीं लिया है। उसने सुख भोगने के लिए जन्म लिया है, तकलीफ में पड़कर परेशान होने के लिए जन्म नहीं लिया है। पर सब लोगों के सच्चे हित के विचार से उसकी स्वतन्त्रता और सुख को मर्यादित कर दिया गया है। इसी में उसे सच्ची स्वतन्त्रता और सुख प्राप्त होता है।

समाज की व्यवस्था और कार बार में प्रत्येक मनुष्य को उचित स्थान मिलना चाहिए। तभी वह अपनी बुद्धि और शक्ति का ऐसे ढंग से उपयोग कर सकेगा जिसमें वह सभी के हितों और कार्यों में अनुकूल और सहायक हो सके और तभी वह सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में भी सम्मिलित हो सकेगा। मनुष्य में लड़ाई झगड़ा करने, अपने स्वार्थ का साधन करने अथवा दूसरों के साथ बल-प्रयोग करने की अपेक्षा परस्पर मिलकर कार्य करने का समाजवाला तत्व ही अधिक परिमाण में है। सामाजिक शान्ति और चैतन्य इसी तत्व पर अवलम्बित है। मनुष्य के बनाये हुए निर्बन्धों या नियमों पर ये दोनों बातें उतनी अधिक आश्रित नहीं हैं।

सामाजिक व्यवस्था में मनुष्य को भूलें करने और अपने अनुभव के अनुसार सुधार करने का अवसर दिया जाना चाहिए। समाज-सत्ता को केवल ऐसे ही नियम या निर्बन्ध लगाने चाहिएँ जो उसके मार्ग की बाधाओं और अड़चनों को दूर करनेवाले हों। यदि उस पर अधिक दबाव डाला जायगा अथवा उसका अधिक नियन्त्रण किया जायगा तो बहुत सम्भव है कि मनुष्य की सहज स्फूर्ति और अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्यवहार करने की स्वतन्त्रता नष्टप्राय हो जाय। लेकिन फिर भी यदि मनुष्य बहुत अधिक स्वतन्त्रतापूर्वक या मनमाना व्यवहार करे तो उससे दूसरों को कष्ट पहुँचता है; और इसी लिए समाज सत्ता की ओर से उसका नियन्त्रण करना इष्ट

होता है। सत्ता का कार्य यही है कि वह ऐसे निर्बन्ध और निग्रह प्रस्तुत करे जिसमें एक का आचरण दूसरे के हित का घातक न हो; और साथ ही लोगों के आचरण को ऐसे मार्ग पर लगावे जिसमें वह दूसरों के हित-साधन में विधायक या सहायक हो।

मनुष्य अपने सारे समाज का कोई स्वतन्त्रता-विरहित अथवा अधिकार-विरहित अवयव नहीं है; और व्यक्ति को छोड़कर समाज का कोई अलग अस्तित्व नहीं है। दोनों में अवयव और अवयवी का भाव है। समाज-पुरुष का संगोपन कभी व्यक्ति के सच्चे हित और स्वतन्त्रता में बाधक नहीं होना चाहिए। समाज का अस्तित्व और हित भी कभी उसका अन्तिम साध्य नहीं हो सकता। मनुष्य अपने समाज-पुरुष का कोई स्नायु की तरह का भाग नहीं है, बल्कि मनुष्य को स्वतन्त्र रूप से अपनी भावनाओं का भोग करने और अपने अन्तिम कल्याण का साधन करने का अधिकार है। समाज के ठीक दशा में बने रहने का आधार व्यक्ति की विवेक शक्ति है। चाहे मनुष्य को समाज की स्वभावतः भले ही आवश्यकता हो, पर फिर भी यह बात कभी मानी नहीं जा सकती कि समाज सदा मनुष्य को सब प्रकार से बद्ध करनेवाला और उसकी स्वतन्त्रता तथा सुख का हरण करनेवाला संघटन है। समाज में मनुष्य को अपने चारों पुरुषार्थों के साधन के लिए मार्ग मिलना चाहिए। उसे अपना देश, धर्म, समाज, व्यवसाय, जाति और कुल का त्याग अथवा इनमें परिवर्तन करने का अधिकार होना चाहिए। ऐसा होने पर फिर चाहे कोई समाज या संघ हो, वह मनुष्य की स्वतन्त्रता और प्रगति का पोषक ही होगा।

यदि हम इस बात का विचार करना चाहें कि मनुष्य का समाज में कौन सा स्थान है अथवा समाज के साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध है, तो पहले हमें यह निश्चित करना पड़ेगा कि मनुष्य को कम से कम कौन कौन से अधिकार और सुख अवश्य ही मिलने चाहिएँ और दूसरों के

साथ उसके सामाजिक सम्बन्ध तथा व्यवहार की कौन सी मर्यादा होनी चाहिए। मनुष्य अकेला नहीं रह सकता; और उसके अस्तित्व तथा अभ्युदय के लिए जिस समाज की आवश्यकता होती है, उस समाज का वह एक दृष्टि से घटक होता है; तो भी दूसरी दृष्टि से समाज में ही रहकर वह अपना ध्येय और परिपूर्ण जीवन प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में यह सिद्ध हुआ कि समाज वस्तुतः मनुष्य के अस्तित्व और अभ्युदय का साधन है; और इसी लिए उसका निजी संघटन, निजी ध्येय और निजी कार्य होने चाहिएँ। समाज को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें मनुष्य को वे सब बातें या वस्तुएँ प्राप्त हों जिनकी उसे कम से कम आवश्यकता है; और जहाँ तक हो सके, उसकी अधिक से अधिक इच्छाएँ तृप्त हो सकें। उसे अपने सब घटकों में परस्पर सहिष्णुता और सहानुभूति, सार्वजनिक भावना और प्रयत्न उत्पन्न करने और बढ़ाने का उद्योग करना चाहिए।

समाज की उत्पत्ति, अवस्था, स्वरूप, संघटन, क्षेत्र और हित से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विचार विद्वानों ने प्रकट किये हैं। यहाँ उन सब का विशद रूप से विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है। समाज-शास्त्र इन बातों का वैज्ञानिक ढंग से और सांगोपांग विवेचन करता ही है। इसलिए हम यहाँ उन सब विचारों का संक्षेप में ही दिग्दर्शन करा देते हैं।

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो मनुष्य के जन्मजात स्वभाव और बाहरी आवश्यकताओं के कारण ही समाज का निर्माण होता है। समाज से मनुष्य को सुख मिलता है। कुछ समाज तो नैमित्तिक प्रकार के और कुछ नित्य प्रकार के हुआ करते हैं। यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो प्रारम्भ में लोकसमूह और उसमें का सहवास तथा साहचर्य अनेक कारणों से उत्पन्न होता है; जैसे वैषयिक विकार, आवश्यकता और समागम, बलवानों का भय और उनके द्वारा कष्ट पहुँचने की आशंका, आत्म-रक्षा की आवश्यकता, संगतिप्रियता, वात्सल्य भावना, अन्न-वस्त्र तथा घर-बार

प्राप्त करने के लिए अथवा इसी प्रकार के और कठिन कामों के लिए आवश्यक सहकार्य, काल्पनिक देवताओं, पूर्वजों अथवा विरुद्धों के सम्बन्ध का आदर अथवा भय, भौगोलिक बाधाएँ और शान्ति तथा सुव्यवस्था की इच्छा आदि। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह बतलाना बहुत ही कठिन है कि सबसे आरम्भ में समाज तथा उसमें का सहवास और साहचर्य कब और कहाँ उत्पन्न हुआ। समाज की उत्पत्ति का स्थान, समय और परिस्थिति अभी तक ठीक ठीक बतलाई नहीं जा सकती। इतिहासज्ञ लोग केवल यही बतला सकते हैं कि उसकी किस प्रकार वृद्धि हुई, वह किस प्रकार भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पहुँचा और उसके स्वरूप में कैसे कैसे परिवर्त्तन हुए।

कुछ तात्विक लेखकों ने यह बतलाया है कि मूल और प्रारम्भ में मनुष्य की स्थिति समाज-रहित थी। पर जब उनमें अड़चन और अशान्ति उत्पन्न हुई और वह स्थिति असह्य हो गई, तब बहुत से लोगों ने एकत्र होकर अपनी सम्मति से और प्रतिज्ञा करके समाज की स्थापना की और उसे नियमन तथा शासन करने का अधिकार दिया। ऐसे लेखकों में से कुछ का तो यह मत है कि समाजपूर्व मनुष्य की स्थिति शान्ति और सुख की थी; और कुछ लोगों का यह मत है कि उसकी स्थिति कलह और मार-काट की थी। कुछ लोगों की दृष्टि में मनुष्य स्वभावतः, सद्गुणी, सदाचारी और देव-वृत्तिवाला था; और कुछ लोगों की दृष्टि में वह दुर्गुणी, दुराचारी और पशु-वृत्तिवाला था। पहले वर्ग के लेखकों का मत यह है कि कुछ समय बीतने पर जब मनुष्य विकट परिस्थितियों से पीड़ित हुए, तब वे लोग सद्गुणों और सदाचार से पतित हो गये, उनमें दुर्गुण बढ़ने लगे और वे आपस में लड़ाई-झगड़ा और मार-काट करने लगे। शान्ति का वह सत्य युग बहुत दिनों तक न ठहर सका। जन-संख्या भी बराबर बढ़ रही थी और आर्थिक आवश्यकताएँ भी बराबर बढ़ती जाती थीं, इसलिए वह पुरानी स्थिति ठहर ही नहीं सकती थी। इसी लिए लोग

लोभी हो गये और दूसरों की वस्तुओं का हरण करने लगे। शान्ति उन लोगों में से निकल गई। कलह का आरम्भ हुआ। उस समय शान्ति और सहिष्णुता स्थापित करने के लिए, जीवन और धन की रक्षा करने के लिए और अपनी अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए लोगों को किसी सामाजिक संघटन की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी लिए सब लोगों ने एक स्थान पर बैठकर एक-मत होकर कुछ नियम और निर्बन्ध आदि प्रस्तुत किये और उन्हीं के अनुसार आचरण करने की प्रतिज्ञा की। इसी के साथ साथ शासकों की भी आवश्यकता उत्पन्न हुई। बिना किसी नियन्त्रण और शासन के सामाजिक व्यवहार और नियमन चलना असम्भव हो गया। इन शासकों के अधिकार और शासन के क्षेत्रों का विचार आगे चलकर राजसत्ता का विवेचन करते समय किया जायगा।

कुछ तत्वज्ञों का तो कहना है कि समाज का नियन्त्रण करनेवाले लोगों के हाथ में अमर्याद और अनिर्बन्ध सत्ता दे दी गई थी और समाज में व्यक्ति का स्थान तथा सत्ता-स्वतन्त्रता को गौण रखा गया था। दूसरे लोगों का यह मत है कि समाज का नियन्त्रण करनेवालों के हाथ में जो सत्ता दी गई थी, वह मर्यादित और नियमित थी; और समाज के व्यक्तियों ने यह निश्चित कर लिया था कि यदि ये लोग जीवन तथा धन, स्वतन्त्रता और सुख की रक्षा करने का काम ठीक तरह से न करेंगे तो हम लोग इनके विरुद्ध विद्रोह खड़ा करेंगे; और नया नियन्ता नियुक्त करने का अधिकार उन्होंने अपने हाथ में रख लिया था।

इन सब तात्विक सिद्धान्तों का मुख्य दोष यही है कि इन सब का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। उन्होंने जिस प्राथमिक समाज की कल्पना की है, उसका स्पष्ट स्वरूप प्रौढ़ और परिणत है। बिलकुल आरम्भिक काल में इस प्रकार का सर्वांगपूर्ण और विवेक-प्रधान समाज होना और उसमें परिषद् तथा सम्मति की प्रौढ़ कल्पना का होना सम्भव नहीं है।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य पहले से ही समाज-निष्ठ रहा है और

उसे सहवास तथा सहकार्य की आवश्यकता रही है। मानव समाज की वृद्धि भिन्न भिन्न अवस्थाओं को पार करके धीरे धीरे और आवश्यकतानुसार होती गई है। उसकी प्रारम्भिक अवस्था और स्वरूप अधिकांश में शिथिल, अनियमित और साधारण झुंड की तरह की जान पड़ती है। पर जब आगे चलकर उन्हें अपने सगे-सम्बन्धियों का ज्ञान होने लगा, उन्हें अपनी रक्षा और काम की वस्तुएँ प्राप्त करने की आवश्यकता हुई, एक जगह जमकर बसने की जरूरत हुई और बहुत से लोगों की चाल-ढाल एक ही तरह की होने लगी, तब उनमें भीतरी बन्धन और बाहरी विरोध उत्पन्न होने लगे। इसी लिए उनकी भ्रमणशील और झुंडवाली अवस्था का अन्त हो गया और उनमें स्थायी रूप से कुटुम्ब, कुल और जाति की सृष्टि हुई। इसी आद्य रूपी अवस्था से समाज की वृद्धि और विकास हुआ। बढ़ते हुए और अनेकांगी जीवन के कार्यों के लिए कुटुम्बवाला समूह पूरा नहीं हुआ। ज्यों ज्यों लोकसंख्या बढ़ती गई, त्यों त्यों कुटुम्ब-संख्या भी बढ़ती गई। इसी लिए विशिष्ट प्रदेश में रहनेवाले अनेक कुटुम्बों के संघ बनते हैं, उनमें राजनीतिक, आर्थिक और व्यापक सामाजिक दृष्टि से परस्पर सम्बन्ध उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार ग्राम-समाज तथा नगर-समाज बनते हैं। इन्हीं ग्रामों और नगरों के संघटन और संघीकरण से प्रान्त और देश बनते हैं। यह संघटन और एकीकरण उनकी स्वेच्छा से होता है; अथवा अपनी सार्वजनिक और बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने और संकटों तथा दूसरों के कुचक्रों का सामना करने के लिए उन्हें विवश होकर ऐसा संघटन करना पड़ता है। इस प्रकार जब गाँवों और नगरों का ऐच्छिक अथवा आवश्यक संघटन हो जाता है, तब नवीन प्रादेशिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक कल्पनाओं और आवश्यकताओं का एकीकरण होता है, तब ऐसे राष्ट्र का जन्म होता है जिसमें सब लोगों की विशिष्ट प्रकार की समान आकांक्षाएँ और उद्देश्य होते हैं और जिनकी विशिष्ट प्रकार की समान परम्परा और पूर्वेतिहास होता है। इन आकांक्षाओं और उद्देश्यों

की सिद्धि तथा इन परम्पराओं और पूर्वेतिहास की रक्षा के लिए उन लोगों में अभिमान और स्वार्थत्याग की दृढ़ भावना उत्पन्न होती है। ये प्रौढ़ समाज आरम्भ में मुख्यतः धार्मिक, जातीय, सांस्कृति अथवा आर्थिक भावना की प्रेरणा से बनते हैं। पर जब उन समाजों के व्यक्तियों के कार बार और व्यवहार सार्वजनिक हेतु और ध्येय से प्रेरित होते हैं और जब प्रत्येक व्यक्ति और संघ को सार्वजनिक जीवन-क्रम में अपना अपना आवश्यक अंश प्राप्त होता है, तभी सच्चे राष्ट्र का निर्माण होता है और उसमें स्थिरता तथा सुसंगता रहती है।

समाज का स्वरूप वस्तुतः मनुष्यों की परस्पर सम्बन्ध रखने की व्यवस्थित प्रणाली है। समाज के स्वरूप के मुख्यतः तीन रूपान्तर माने जाते हैं—एक प्राथमिक, दूसरा मध्ययुगीन और तीसरा आधुनिक। प्राथमिक अवस्था में जन-संघ का स्वरूप छोटा और असम्बद्ध सा था। उन दिनों अन्न-जल और वस्त्र आदि की व्यवस्था करना कठिन होता था। उन दिनों आवागमन आदि के लिए वाहनों और उत्पादन के साधनों की कमी थी और विद्या तथा कला का ज्ञान अपनी बाल्यावस्था में था। भ्रमणशील, मृगयाजीवी और पशु-पालनवाली वृत्ति के लोग बहुत ही थोड़े आदमियों के लिए भोजन आदि का प्रबन्ध कर सकते थे। उनके पालतू जानवरों के झुंडों को चराने के लिए बहुत अधिक हरी-भरी भूमि की आवश्यकता हुआ करती थी। इसी लिए उन लोगों में बहुत बड़े बड़े लोकसंघ स्थापित नहीं हो सकते थे। इसी प्रकार आरम्भ में जो लोग किसी एक स्थान पर जम कर बस जाते थे, उन्हें खेती-बारी करनी पड़ती थी; और इस काम के लिए भी बहुत सी जमीन और खुले मैदान की आवश्यकता होती थी; और उन दिनों खेती-बारी से बहुत अधिक उपज भी नहीं होती थी। उन दिनों खेती-बारी कुछ वैज्ञानिक अथवा व्यवस्थित रूप से तो होती ही नहीं थी और न थोड़ी सी जमीन में आजकल की तरह बहुत सा अनाज ही पैदा होता था। इसी लिए अनेक

ऐसे संघ उत्पन्न हो गये थे जो आकार मे छोटे होते थे। उन लोगों में उदर-निर्वाह के साधन प्राप्त करने और अपनी अपनी भूमि तथा सम्पत्ति की रक्षा करने के लिए सदा लड़ाई झगड़े और युद्ध आदि होते रहते थे। और फिर इन प्राथमिक समाजों के स्वरूप, पारस्परिक सम्बन्ध और वृद्धि भौतिक साधनों पर अवलम्बित रहती थी। दूसरे संघों के साथ उन लोगों के बराबर लड़ाई-झगड़े और युद्ध आदि होते रहते थे जिससे उनमें आपस में एकता की भावना दृढ़ होती थी, लोगों के नेता या सरदार उत्पन्न होते थे और अधिकार तथा आज्ञा-पालन के भाव लोगो में फैलते थे; और इस प्रकार कुछ समय में धीरे धीरे एक दूसरे की सहायता करने की प्रणाली और नागरिक वृत्ति के मूल स्वरूप का प्रादुर्भाव होता था।

आरम्भिक समाजों में रीति रवाज और रूढियों की प्रबलता होती थी और धार्मिक भावों का प्राधान्य रहता था। व्यक्तियों को आचार-विचार सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। उन पर गतानुगतिकता और परम्परा का दबाव रहता था। प्रायः सभी समाज स्थितिप्रिय और विचारान्ध हुआ करते थे और व्यक्तियो पर उनका विशेष प्रभुत्व और सत्ता रहा करती थी।

जब आगे चलकर लोग और सभ्य होने लगे, तब धीरे धीरे पुराने लड़ाई झगड़ो का अन्त होने लगा और अनेक छोटे छोटे संघों के योग से कई बड़े बड़े संघ बनने लगे। यह कार्य नवीन धर्म प्रवर्त्तकों तथा क्षत्रिय राजाओं ने किया था। मध्य युग में यह काम हिन्दू, ईसाई और इस्लाम धर्मों ने और बड़े बड़े उच्चाकांक्षी राजाओं तथा क्षत्रियों आदि ने किया था। इससे अनेक संघों का धार्मिक और राजनीतिक संघटन हुआ जिससे समाज को नवीन तथा व्यापक रूप प्राप्त हुआ। इस समय में लोगों की वृत्ति अधिक पारलौकिक थी। पर इससे कोई बहुत अधिक ऐहिक अभ्युदय या उन्नति नहीं हुई। हाँ वेदान्त और साहित्य, विद्या और कला का थोड़ा बहुत विस्तार अवश्य हुआ। पर उन सबका मुख्य भाव पारमार्थिक ही था। धर्म की दृष्टि से जगद्‌गुरुओं, आचार्यों और

भिक्षुओं की ही विशेष प्रबलता थी। वे धार्मिक विषयों में, और कभी कभी राजनीतिक तथा सामाजिक विषयों में भी, अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित किया करते थे। इससे धर्मगुरुओं और राजाओं के झगड़े बहुत उग्र रूप धारण किया करते थे। राजकीय कार्यों में राजाओं और उनके मन्त्रियों, अध्यक्षों तथा अधिकारियों की ही सत्ता विशेष रूप से चलती थी। राजाओं की बलहीनता, प्रजा की अज्ञानता और राजकीय कार्यों की अड़चनों के कारण सरदारों और ऐसे लोगों की सत्ता दृढ़ हो गई थी जिनके हाथों बहुत बड़े बड़े काम हुआ करते थे। ऐसे लोगों के प्रान्त और अधिकार अलग तथा स्वतन्त्र होते थे जिससे मुख्य राजसत्ता बल-हीन हो गई थी। एक ही समाज में अनेक व्यवसायात्मक, सम्प्रदायात्मक, और जात्यात्मक संघ बन गये थे। तो भी उन दिनों के राज्य और साम्राज्य बड़े बड़े और विस्तृत हुआ करते थे, समाज अधिक एकता के सूत्र में बँधे होते थे और वे सुधरे हुए या सभ्य, साहित्य और संगीत कला के अभिज्ञ, विचारवान् और साथ ही साथ श्रद्धावान्, प्रामाण्य बुद्धिवाले और पन्थ-प्रेमी हुआ करते थे। हाँ तब तक उनमें प्रगति, शास्त्रीय ज्ञान, विवेक और ज्ञानोपासना की ज्योति नहीं जगी थी। उनमें निःश्रेयस्, धर्म, नीति, न्याय, परलोक का दारुण भय, पन्थ-द्वेष, धार्मिक पागलपन या कट्टरपन और असहिष्णुता आदि भावनाओं की विशेष प्रबलता थी। अधिकांश जन-समाज मूढ, निरक्षर और दासता की स्थिति में था। समाजों में अल्पजन-सत्ता प्रचलित थी और कुलीनता तथा जातीय विशिष्टता की प्रबलता थी।

आजकल हम लोगों को राष्ट्रीय स्वरूपवाले स्वाभाविक एकात्मक समाज, संयुक्त स्वरूपवाले निर्मित संघात्मक समाज और साम्राज्यात्मक स्वरूपवाले एकतन्त्री समाज दिखाई पड़ते है। आजकल उनका जो विभाग दिखाई पड़ता है, वह मुख्यतः राजनीतिक संघटन और स्वतन्त्रता की ही दृष्टि से किया हुआ होता है। इस प्रकार के प्रत्येक एकात्मक

राष्ट्र, संघात्मक राष्ट्र और साम्राज्य में वंश और धर्म की कल्पनाओं का विशेष मान नहीं होता। वे समाज राजसत्ता द्वारा एक में गुथे और बँधे हुए होते हैं। उन समाजों के लोग राजकीय निर्बन्धों के अनुसार ही सहकार और साहचर्य करते हैं। उनमें स्वयं अपने लोगों के प्रति प्रेम, पराये लोगों के प्रति द्वेष और राष्ट्रीय भावनाएँ ही विशेष रूप से होती हैं। परन्तु आजकल का नवीन ध्येय "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाला ही है। आजकल लोगों में कुछ इसी प्रकार के विचार फैल रहे हैं कि समस्त राष्ट्र और राज्य बन्धु भाव से और शान्तिपूर्वक रहें और व्यवहार करें, संसार के छोटे छोटे राष्ट्रों के संघ-राष्ट्र बनें, उन सबका एक ही राज्यतन्त्र हो और उनमें सख्य तथा सहकार की वृद्धि हो।

आजकल इस राष्ट्र समाज के नागरिकों को जो कर्तव्य करने पड़ते हैं, उनके साथ ही साथ उन्हें राजसत्ता में भी उपयुक्त अधिकार और समाज में स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वे लोग कानून बनाने या बदलने, शासन सम्बन्धी कार्य करने और न्याय आदि के काम करने में भी सम्मिलित हो सकते हैं। उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता, आचार-विचार और संचार की स्वतन्त्रता और लेखन तथा व्याख्यान आदि की भी स्वतन्त्रता होती है। उनकी आर्थिक, शिक्षा सम्बन्धी, शारीरिक और बौद्धिक आवश्यकताओं की पूर्ति और सुख तथा सुभीते की ओर भी ध्यान दिया जाता है। ऐसे समाजों में मनुष्य सदा मनुष्य ही समझे जाते हैं, फिर चाहे वे किसी धर्म, वंश या संस्कृति के हों। आजकल राष्ट्रों में इसी बात का प्रयत्न होता है कि लोगों के जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, सामर्थ्य और सुख की रक्षा और पोषण उचित प्रकार से हो, वे लोग हीन-दीन, पंगु और पतित अवस्था को न प्राप्त होने पावें, उनके दुःख, दरिद्रता और इच्छाएँ कम हों।

समाज की सृष्टि मनुष्य की मनोवृत्ति और सहवास तथा साहचर्य से हुई है; इसलिए समाज का कुछ स्वतन्त्र स्वभाव और स्वरूप हुआ करता है। उसमें अनेक वैयक्तिक भावनाओं और विचारों की संगति और

जोड़ बैठते हैं। समाज स्थायी रहनेवाला संघटन है। उसे मनुष्यों की अनेक विरोधी इच्छाओं और आकांक्षाओं, आचार-विचारों और व्यवहारों में से हितवर्धक और कल्याणकारी मार्ग निकालने पड़ते हैं। इसी लिए समाज की उपमा सचेतन प्राणी के साथ दी गई है। समाज चाहे सच-मुच प्राणधारी पुरुष न हो, पर फिर भी प्राणधारी पुरुष के साथ उसकी कुछ न कुछ समता अवश्य है। समाज का संघटन भी प्राणधारी पुरुष के समान ही होता है और अपने इस संघटन के कारण उसमें एक प्रकार का शरीर और मन उत्पन्न हो जाता है। उसकी परम्परा ही उसके स्वभाव का रूप धारण कर लेती है। उसकी कार्यकारी, निर्बन्धकारी और निर्णय-कारी संस्थाएँ उसके मन के भाव, नीति और व्यापार प्रकट करती हैं और उसके प्रत्यक्ष व्यवहारों तथा कार्यों की क्रियाएँ और अंग आदि प्रकट करती है। समाज का संघटन कार्य-विभाग के सिद्धान्त पर हुआ है। समाज-पुरुष के कुछ विवक्षित अवयव और कार्य होते हैं। समाज-नीति के विविध अंग और उद्देश्य होते हैं। समाजशास्त्रकारों का यह दृढ़ विश्वास है कि इसी कार्य-विभाग के संघटन पर संसार की नैतिक प्रगति और सुख तथा व्यक्तियों की परिणति अवलम्बित है।

पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो समाज कोई देहधारी सजीव संघटन नहीं है। उसके घटकों में परस्पर जो मानसिक और नैतिक सम्बन्ध हुआ करते हैं, उन्हीं के कारण उन घटकों में एक प्रकार का संघटन उत्पन्न हो जाता है जिससे उसमे चेतनता आ जाती है; और साथ ही क्रिया करनेवाले अंगों को धारण किया हुआ इन्द्रियत्व भी होता है। कहा जाता है कि समाज भी सेन्द्रिय पदार्थों के ही समान है; और इसका कारण यही है कि समाज के सभी अवयवों का पारस्परिक मानसिक सम्बन्ध हुआ करता है। उसके भिन्न भिन्न भागों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति होती है, उन सबके हित एक दूसरे के साथ बँधे हुए होते हैं और वे एक दूसरे के साथ सहकारिता करते हैं।

समाज का किसी देहधारी सजीव प्राणी की अपेक्षा किसी संघटित संस्था के साथ अधिक साम्य है। समाज भी मनुष्य-निर्मित होता है और उसकी मानसिक वृत्तियों तथा सम्बन्धों का एक संघटन होता है। परन्तु फिर भी उसकी अवस्थाओं में परिवर्त्तन तथा उसका विकास उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार किसी सजीव वस्तु का होता है। पहले आरम्भिक अवस्था में उसका स्वरूप बहुत ही सादा था और उससे बढ़ते हुए अब उसे अनेक अंगोंवाला आधुनिक स्वरूप प्राप्त हुआ है। उसमें कार्य-विभाग और कार्य करनेवाले अगों की वृद्धि हुई है। साथ ही उसमे भी उसी प्रकार उद्देश्य और आकांक्षाएँ है जिस प्रकार किसी सजीव वस्तु मे हुआ करती है।

कुछ लेखक समाज को एक प्रकार का निसर्गसिद्ध, सेन्द्रिय, देहधारी और सचेतन प्राणी समझते है। कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो उसे यन्त्र की तरह का एक कृत्रिम संघटन मानते है। पहले प्रकार के लेखकों के मत से मनुष्यों की ही तरह समाज में भी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और एक प्रकार का संघटित शरीर होता है और उसके कार्य तथा अंग परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार बदलते या बढ़ते रहते हैं। इस मत के अनुसार मनुष्य का विना समाज के जीवित रहना और अच्छी तरह जीवन व्यतीत करना सम्भव ही नहीं है। और न समाज के बिना मनुष्य का कोई महत्व ही हो सकता है। समाज मे नीति-दृष्टि और हित-दृष्टि भी होती है और उत्पत्ति, स्थिति, गति और लय-भी होता है।

परन्तु यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता। केवल सादृश्य के आधार पर साम्य का प्रतिपादन करना भूल है। जिस प्रकार सजीव प्राणी और समाज में कुछ सादृश्य है, उसी प्रकार उन दोनों में कुछ भेद भी है। समाज में स्वाभाविक शरीर, इन्द्रियाँ और प्राण नहीं होते। उनका स्वरूप एक सा और निश्चित नहीं होता। बिना मनुष्यों के समाज का संघटन ही नहीं हो सकता। मनुष्य स्वतन्त्र, देहधारी, स्वयंभू, आत्मवश और उन्नत

प्राणी है। उसमें नैतिक सामर्थ्य, इच्छा शक्ति, विवेक, अच्छे और बुरे की पहचान और व्यक्तित्व होता है। परन्तु समाज में ये सब बातें नहीं होतीं। समाज के सम्बन्ध में हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि उससे मनुष्यों की समाजशील वृत्ति को चरितार्थ होने का अवसर मिलता है और वह आध्यात्मिक, मानसिक, आर्थिक और नैतिक सम्बन्धों का संघटन करनेवाला व्यक्ति-समूह है।

समाज का मुख्य उद्देश्य यही है कि मनुष्यों में उच्च प्रकार का व्यक्तित्व उत्पन्न हो और उसकी वृद्धि की जाय; और साथ ही साथ मनुष्यों में समाजशीलता और समाजनिष्ठा की उचित जानकारी पैदा की जाय और उसकी वृद्धि की जाय। मुख्यतः मनुष्य के आध्यात्मिक और कुछ अंशों में नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक स्वतन्त्रता को छोड़कर शेष अंगों पर समाज के अधिकार का क्षेत्र और नियमन की मर्यादा प्रयुक्त होती है। मनुष्य की आत्मा के विकास और शरीर तथा मन की उन्नति में समाज का नियन्त्रण कभी बाधक नहीं होना चाहिए, बल्कि इसके विपरीत समाज का नियन्त्रण ऐसा होना चाहिए जो मनुष्य के इस प्रकार के विकास और उन्नति के लिए पोषक परिस्थिति का निर्माण करनेवाला हो। समाज के अधिकार-क्षेत्र में मनुष्य की शिक्षा, रक्षा, धारण, पोषण, व्यवहार और सम्बन्ध, व्यवसाय और वृत्ति आदि तथा इसी प्रकार के कुछ और विषय आते हैं। इन सब बातों का ठीक ठीक अध्ययन करके उसके लिए उपयुक्त शास्त्र और नियम आदि बनाकर मनुष्य को उचित मार्ग की ओर प्रवृत्त करना पड़ता है।

इस विषय में तत्वज्ञों में बहुत कुछ मत-भेद है कि समाज का सच्चा हित किन तत्वों और ध्येयों पर अवलम्बित है। कुछ लोगों का मत है कि जब मनुष्य सद्गुणी और सदाचारी होता है, तब वह समझ लेता है कि स्वयं मेरा और दूसरों का सच्चा हित किन बातों में है; और इससे समाज के सच्चे हित का साधन होता है। इस प्रकार के मत में स्वतन्त्रता की

प्रेरणा करनेवाली, शिक्षा और विचारों की स्वतन्त्रता का अधिक आदर है। कुछ दूसरे लोगों का यह मत है कि जब समाज की रचना और संस्थाएँ किसी विशेष तत्व के अनुसार संघटित होती हैं और विशेष ध्येयों की प्रेरणा से बनती है, तब बहुत से लोगों को बहुत अधिक सुख मिलता है; अर्थात् तब समाज का सच्चा हित होता है। इस मत में भी उन्हीं विशिष्ट तत्वों और ध्येयों के अनुसार विशिष्ट शिक्षाप्रणाली प्रचलित करने की योजना है। पर इसमे स्वतन्त्रता का आदर नहीं है, बल्कि कुछ विशिष्ट तत्वों, ध्येयों और योजना का आदर है। इसमे समाज का तत्व अधिक ग्राह्य है। इस मत का उद्देश्य यही है कि एक विशिष्ट योजना के अनुसार मनुष्य के लिए उत्तम परिस्थिति उत्पन्न की जाय और उसके लिए नियम बनाये जायँ, क्योकि इसी में मनुष्य और समाज का हित है। इनमें से पहले मत में तो मनुष्य की स्वतन्त्रता पर और दूसरे मत में मनुष्य के संघटन पर अधिक जोर दिया गया है। पहले मत में मनुष्य की सामर्थ्य और इच्छा शक्ति के लिए असीम अवसर दिया गया है; और दूसरे मत मे उसके सुख और सुभीते की योजना की गई है। पहले मत के कारण अल्पसंख्यक, बुद्धिमान्, कर्तृत्ववान, उद्योगी और साहसी लोगों का लाभ होता है और वैयक्तिक हित का साधन होता है। दूसरे मत के कारण बहुसंख्यक, प्रयत्नहीन, साहसहीन और परिस्थिति तथा परम्पराओं से पीड़ित लोगों के सामाजिक हित का साधन होता है। पहले मत में वैयक्तिक प्राप्ति, व्यवसाय, साहस, स्वतन्त्रता, कुटुम्ब-प्रणाली और सुख को पवित्रता तथा समाज की दृष्टि से उसकी आवश्यकता मानी गई है। दूसरे मत मे सामयिक सम्पत्ति, उसकी सामयिक उत्पत्ति और विभाग, गुणानुसार व्यवसाय, समता, संयम, विवाह की स्वतन्त्रता और सन्तति-नियमन की पवित्रता और समाज-हित की दृष्टि से उसकी आवश्यकता मानी गई है।

आज-कल इन मतों का अनुकरण करनेवालों में अनेक वाद-प्रवर्तक

उत्पन्न हो गये हैं। उनका वर्गीकरण व्यक्तिवादी और समूहवादी, कुलीन-वादी और साम्यवादी, निरंकुशवादी और नियन्त्रणवादी आदि नामों से किया जा सकता है।

मनुष्य के सामाजिक उद्देश्यों और हितों का साधन समाज संस्थाओं के द्वारा होता है। समाज संस्थाएँ इस समाज-व्यवस्था के स्वरूप और कार्यक्षेत्र दिखलाती है। उन्हीं के द्वारा सामाजिक जीवन का कार्य होता है। इन समाज-संस्थाओं के साथ साथ सामाजिक परिज्ञान या विश्वास और रीति रवाज भी यही कार्य करती है। समाज-संस्थाएँ अनेक है। स्थल, काल और कार्य के अनुसार उसके भिन्न भिन्न रूप हो गये हैं। हम यहाँ उनमे से कुछ विशेष संस्थाओं का वर्णन और विवेचन करना चाहते है। उनके कई स्वरूप हैं और प्रत्येक स्वरूप के कई भेद हैं। यथा—आप्त स्वरूपवाली गोत्रात्मक संस्थाएँ; जैसे कुल, कुटुम्ब और जाति; प्रादे-शिक स्वरूपवाली संस्थात्मक संस्थाएँ; जैसे ग्राम, नगर और देश; व्याव-सायिक स्वरूपवाली कार्यात्मक संस्थाएँ; जैसे वर्ण, संघ और श्रेणी; धार्मिक स्वरूपवाली ध्येयात्मक सस्थाएं, जैसे पन्थ और सम्प्रदाय आदि हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कृत्रिम स्वरूपवाली संस्थाएँ भी है जिनमे परस्पर किसी प्रकार का निश्चय या करार होता है। यहाँ हमें केवल आप्त विष-यक संस्थाओं का विचार करना है।

कुटुम्ब की संस्था सभी देशों और समाजो में मिलती है। समाज को ठीक स्थिति में रखने और सुधारने या उन्नत करने में इस संस्था से बहुत अधिक सहायता मिली है। मनुष्य की संस्कृति का यह मानो मूल आधार है। मुख्यतः वंश का विस्तार और रक्षा करने के लिए एक साथ रहनेवाली स्त्रियों और पुरुषों की सबसे छोटी संस्था यही कुटुम्ब है। उनके बाल-बच्चों की गणना भी कुटुम्ब में ही होती है। यहीं से समाज की रचना का आरम्भ होता है। कुटुम्ब "रतिपुत्रफलवती" संस्था है। इसमें मनुष्य की काम सम्बन्धी तथा वात्सल्य की प्रबल भावनाओं के विकसित होने का स्थान

मिलता है; और इस सम्बन्ध में उसका साधन या सन्तोष तथा तृप्ति होती है। इसका सामान्य कार्य यही है कि विवाह के द्वारा स्त्री और पुरुष में जो सम्बन्ध होता है, उस सम्बन्ध को तथा दाम्पत्य-सहवास और सुख को अप्रतिबन्ध स्वतन्त्रता दी जाय, और स्वयं दम्पति तथा उनके बाल बच्चों के पालन-पोषण के लिए और शिक्षा के लिए सर्वोत्कृष्ट वस्तुएँ प्रस्तुत की जायँ, इस सम्बन्ध में उन्हें अच्छी सहायता दी जाय और दम्पति स्वयं अपने अधिकार या शासन में इन सब बातों के लिए अनुरूप परिस्थिति प्रस्तुत कर लें। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध की पवित्रता, बाल-बच्चों के संगोपन, सन्तान के आज्ञापालन और स्त्री-पुरुष के उदर निर्वाह तथा योग-क्षेम के लिए आवश्यक व्यवसाय और उद्योग पर कुटुम्ब-संस्था अवलम्बित है।

समाज व्यवस्था में कुटुम्ब-संस्था का महत्त्व बहुत अधिक है। इस संस्था के द्वारा समाज के बहुत से कार्य होते हैं। वंश-परम्परा और संस्कृति का संवर्धन, संरक्षण और पोषण, गुण, नीति और धर्म की शिक्षा तथा रक्षा, आश्रम व्यवस्था का पालन, वर्ण और व्यवसाय का सम्पादन, विद्या और कला का संवर्धन आदि अनेक कार्य इस संस्था के द्वारा बहुत ही सुलभ रीति से होते रहते हैं। इससे लोगों को नागरिकता के अनेक आरम्भिक पाठ (यथा—आज्ञा पालन, कर्त्तव्य, बन्धुता, सेवा, भूत दया, दान, त्याग, कार-बार आदि) प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होते हैं। इस कुटुम्ब के वातावरण में मनुष्य के गुणों की अच्छी तरह देख-भाल होती है, उन गुणों में व्यवस्था और मर्यादा आती है, मनुष्यों में साहस और संयम आता है, उनकी त्याग-बुद्धि तथा परोपकार-बुद्धि बढ़ती है और इसी प्रकार के और अनेक कार्य होते हैं। इससे मनुष्य की समझ में यह बात आती है कि कुटुम्ब संस्था के आर्थिक, धार्मिक, कामिक, शैक्षणिक, नैतिक सहवास, साहचर्य और सहकार आदि अनेक अंग हैं। और यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो इस संस्था का बहुत कुछ महत्व है। इसमें सम्पत्ति के स्वामित्व और उत्तराधिकार, दाय-विभाग, दत्तक, विवाह और अपने परिवार या

नाते के लोगों के सम्बन्ध-विषयक नियम आदि निश्चित किये जाते हैं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि गृहस्थाश्रम में जितने कर्त्तव्य होते हैं और इस आश्रम का जितना महत्त्व है, वह सब इसी संस्था के कारण समझ में आता है।

बहुत प्राचीन काल से आर्यों में, और आर्यों से भिन्न बहुत से दूसरे वंशों मे भी, यह कुटुम्ब-संस्था प्रचलित है। उसके अनेक प्रकार हैं जिनमें से पितृप्रधान और मातृप्रधान कुटुम्ब तथा विभक्त और अविभक्त कुटुम्ब मुख्य हैं। पितृप्रधान कुटुम्ब में पुरुष की सत्ता प्रधान होती है। ऐसे कुटुम्ब के सब काम पुरुष की ही आज्ञा से चलते हैं। इसमे पुरुष ही सारी सम्पत्ति का स्वामी होता है और घर की स्त्रियाँ, बच्चे तथा नौकर-चाकर सब उसी की अधीनता मे रहते हैं। कुटुम्ब के सब कार-बार वही चलाता है। वही कुटुम्ब के रक्षण-पोषण का अधिकारी होता है। वही घर का कर्त्ता और गृहपति होता है। ऐसे कुटुम्बों में बहुपत्नीकत्व की भी प्रथा होती है। स्त्रियों की स्वतन्त्रता और अधिकार बहुत थोड़े होते हैं और उन्हें घर के सब काम घर के स्वामी पुरुष के आज्ञानुसार करने पड़ते हैं। सच्चा पातिव्रत ही उनका सबसे बड़ा गुण माना जाता है। इसमें पुरुष के आचरण के सम्बन्ध में उतने अधिक बन्धन नहीं होते। उनका नीतिभ्रष्ट आचरण या व्यवहार गौण और दोषार्ह तो अवश्य समझा जाता है, पर वह दंडनीय नहीं होता। स्त्रियों का नीति-विरुद्ध आचरण कुल में कलंक लगाता है और दंडनीय समझा जाता है। आजकल स्त्रियों और पुरुषों को बराबरी के अधिकार और स्वतन्त्रता मिल रही है और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है कि कुटुम्ब के कार-बार और व्यवहार में दोनों का एक सा मान और अधिकार होना चाहिए। यह भी आग्रह किया जाता है कि दोनों की नीति की पवित्रता समान रखी जाय। इस सिद्धान्त में बहुपत्नीकत्व के लिए कोई स्थान नहीं है। एक-पति और एक-पत्नीवाली प्रथा धर्म-संगत समझी जाती है। पुरुष प्रधान व्यवस्था में

बच्चों को पिता की आज्ञा और अधीनता में रहना चाहिए, और पिता उनके लालन-पालन और शिक्षा आदि की जो व्यवस्था करे, उसी के अनुसार उन्हें चलना चाहिए। पिता के उपरान्त सम्पत्ति का उत्तराधिकार और गृहपतित्व का अधिकार उसके लड़कों के हाथ में चला जाता है। लड़कियों को उसमें से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। यहाँ तक कि माता को भी अपने पुत्रों की आज्ञा के अनुसार ही व्यवहार करना पड़ता है।

मातृप्रधान कुटुम्ब व्यवस्था में गृहपति के अधिकार, स्वतन्त्रता और स्थान गृहिणी को प्राप्त होते हैं। वही समस्त सम्पत्ति और अधिकारों की स्वामिनी होती है। पुरुष का स्थान कनिष्ठ या गौण होता है। सम्पत्ति आदि का उत्तराधिकार माता के उपरान्त उसकी कन्याओं को मिलता है। इस प्रकार की व्यवस्था आजकल मलाबार देश के नायर लोगों में प्रचलित है; और दूसरे कुछ स्थानों में भी कुछ कुछ इस प्रकार की प्रथा देखने में आती है।

यदि कोई गृहस्थ, उसकी पत्नी और बच्चे सब मिलकर एक ही स्थान में रहते हों तो उसे विभक्त या अकेला कुटुम्ब कहते हैं। पर यदि उसके भाई, चाचा, ताया और उनकी स्त्रियाँ तथा बाल-बच्चे भी वहीं एक साथ रहते हों तो उन सबके कुटुम्ब को अविभक्त अथवा एकत्र कुटुम्ब कहते हैं। यदि किसी एक ही मूल पुरुष के वंशज दो तीन पीढ़ियों तक एक साथ ही और एक ही जगह रहें, तो इस प्रकार का एक बहुत बड़ा कुटुम्ब तैयार हो जाता है; और जब तक पिता-पुत्र, भाई-भाई, चाचा-भतीजे आदि अपनी अपनी सम्पत्ति का विभाग नहीं कर लेते और जब तक वे अपने आय-व्यय, घर-बार, अन्न-वस्त्र और धर्म-कर्म का सम्बन्ध तथा व्यवहार नहीं तोड़ते, तब तक वे अविभक्त कुटुम्बवाले ही समझे जाते हैं। ऐसे कुटुम्बों का रहना-सहना, खान-पान, आय-व्यय, धर्म कर्म, धन-सम्पत्ति आदि सब एक साथ ही होती है। घर बार और धन-सम्पत्ति पर एकत्र स्वामित्व होता है। इसमें पिता अथवा बड़ा भाई ही घर

का कर्त्ता धर्त्ता होता है और घर की व्यवस्था तथा व्यवहार उसी के हाथ में रहता है। कुटुम्ब के अधिकार और कर्त्तव्य के सब व्यवहार उसी के द्वारा औरों के साथ होते हैं। वह कुटुम्ब का प्रतिनिधि होता है। साधारणतः सब लोगों को उसी के आज्ञानुसार सब काम करने पड़ते हैं। यदि घर के किसी पुरुष की और लोगों के साथ न पटती हो तो वह अपने बड़ों की कमाई हुई सामुदायिक सम्पत्ति और घर-बार में से अपना हिस्सा माँग सकता है। कुटुम्ब में उसका जो स्थान होता है, उसके अनुसार उसे धन-सम्पत्ति में से उचित अंश मिलता है; और यदि घरवालों पर कोई ऋण हो तो उसे वह ऋण चुकाने के लिए भी अपना अंश देना पड़ता है। जो लड़कियाँ विवाह होने पर दूसरे कुटुम्बों में चली जाती हैं, उनका अपने पिता के कुटुम्ब में कोई अधिकार नहीं होता। विवाह-सम्बन्ध के कारण दूसरे कुटुम्ब की जो स्त्रियाँ अपने कुटुम्ब में आती हैं, उन्हें और अविवाहित लड़कियों को उनके जीवन-काल में अन्न-वस्त्र, स्वामित्व के विभाग या अंश और स्त्री धन आदि से सम्बन्ध रखनेवाला मर्यादित अधिकार प्राप्त होता है।

प्राचीन काल में कुटुम्ब के गृहपति अथवा कर्त्ता को धन-सम्पत्ति तथा घर के और लोगों पर विशेष प्रकार का अधिकार प्राप्त होता था। पर अब राजसत्ता ने उसका वह अधिकार या सत्ता नियमित कर दी है। और नहीं तो पहले घर के अपराधी आदमियों को दंड आदि देने अथवा उनसे बदला चुकाने का काम भी कुटुम्ब ही करता था।

एकत्र या अविभक्त कुटुम्ब-प्रणाली में यदि कुछ गुण हैं तो साथ ही उसमें कुछ दोष भी हैं। उसमें आर्थिक दृष्टि से आपत्ति काल में एक दूसरे की सहायता तो होती है, पर साथ ही आलसी तथा कर्तृत्वहीन मनुष्यों को भी औरों के समान अधिकार तथा भोग प्राप्त होते हैं जिससे उद्योगी, साहसी और कर्तृत्ववान लोगों पर दूसरों के पालन-पोषण का भी भार आ पड़ता है और उनके उत्साह में एक प्रकार की बाधा आ खड़ी होती है।

आजकल के आर्थिक अड़चनों और स्पर्द्धा के युग में प्रत्येक मनुष्य को प्रयत्न, साहस और परिश्रम अवश्य ही करना चाहिए। स्त्रियों और पुरुषों के उत्साह और साहस की दृष्टि से एकत्र या अविभक्त कुटुम्ब व्यवस्था अनुचित ठहरती है। केवल समता और स्वामित्व का ध्यान रखकर अपने ऊपर अपनी गृहस्थी का उचित भार न लेना और एक ही जगह रहकर आपस में भाईबन्दी करते रहना कुटुम्ब तथा समाज के स्वास्थ्य और प्रगति की दृष्टि से घातक है। इससे कुटुम्ब के पालन-पोषण और संस्कृति की रक्षा का कार्य ठीक तरह से नहीं होता। इससे मनुष्य की स्वतन्त्रता, संयम तथा साहस में बाधा होती है और संसार के बड़े बड़े कार्यों और प्रयत्नों के लिए उसमें रहनेवाले लोग यथेष्ट संख्या में नहीं प्राप्त होते। लोग केवल गतानुगतिक और परम्परा प्रिय हो जाते है।

प्रत्येक कुटुम्ब के सब लोग एक ही पूर्वज के वंशज होते हैं और इसलिए उनमें एक ही प्रकार का परम्परागत आचार, धर्म और देवता होते हैं। बहुत से लोगों में पूर्वजों की पूजा, श्राद्ध और तर्पण आदि करने का कुलाचार होता है। इससे उनके रिश्ते-नाते के लोगों की एकता और आचार धर्म की विशिष्टता बनी रहती है। और शारीरिक सम्बन्ध की दृष्टि से एक ही कुटुम्ब के स्त्री-पुरुषों का विवाह-सम्बन्ध उनके नाते-रिश्ते के कुल में तो नहीं होता, पर दूसरे सवर्ण और सजातीय कुलों की स्त्रियों और पुरुषों के साथ हो सकता है।

हमारे समाज में कुल की दृष्टि से अपने ही गोत्र और प्रवर के कुटुम्बों के साथ शारीरिक या विवाह सम्बन्ध त्याज्य समझा जाता है। सगोत्र विवाह प्रथा धर्म-संगत नहीं मानी जाती, परन्तु सवर्ण अर्थात् अपनी ही जाति के भिन्न गोत्र और प्रवरवाले दूसरे कुलों के साथ विवाह-सम्बन्ध करने की प्रथा धर्म-संगत समझी जाती है। ये दोनों ही प्रकार की प्रथाएँ अर्थात् सवर्ण विवाह (Endogamy) और असगोत्र विवाह (Exogamy) बहुत से समाजों में चाहे निश्चित रूप से न प्रचलित हों, तो भी

स्थूल रूप से ये अवश्य ही प्रचलित हैं।

इस प्रकार की पुरुष-प्रधान कुटुम्ब प्रणाली में स्त्रियाँ बाहर से आने-वाली और बाहर जानेवाली समझी जाती हैं, और इसी लिए कुटुम्ब में उनका स्थान अनेक प्रकार से कनिष्ठ स्वरूपवाला होता है। 'स्त्रियाँ कुछ कमाई तो करती ही नहीं, इसलिए आर्थिक दृष्टि से भी उनका मान कम होता है। सम्पत्ति का स्वामित्व और अधिकार धनोपार्जन करनेवाले पुरुषों के हाथ में रहता है। धर्म की दृष्टि से उन्हें अपने पति की आज्ञा मानने और उसकी सेवा करने के नियम का पालन करना होता है। पति को देवता का स्थान दिया जाता है और इसी लिए पत्नी को किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता। हाँ उसके पीछे अनेक प्रकार के कर्तव्य और घर के काम-धन्धे अवश्य लगे होते हैं। वे सब प्रकार से पुरुषों पर ही, चाहे वे पिता, चाचा, पति, देवर अथवा पुत्र के रूप में ही क्यों न हों, अवलम्बित रहती हैं। धर्म, अर्थ और काम की दृष्टि से उनकी स्थिति कनिष्ठ ही रहती है। उन्हें सत्ता, स्वतन्त्रता और समता आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होती और पुनर्विवाह, शिक्षा, स्वामित्व, उत्तराधिकार और व्यवसाय आदि के सम्बन्ध में उसके लिए अनेक प्रकार के बन्धन होते हैं। पर आजकल ये बन्धन कुछ कम हो चले हैं और स्त्रियों को समान अधिकार तथा स्वतन्त्रता दी जाने लगी है। प्राचीन काल में अर्द्धांगिनी और सहधर्मिणीवाली कल्पना प्रत्यक्ष व्यवहार में अधिक देखने में नहीं आती थी। बहुत होता था तो धार्मिक कृत्यों में उन्हें अपने पति के साथ स्थान और मान मिल जाता था। पर उनके लिए स्वतन्त्र रूप से आचरण करना अथवा पुनर्विवाह करना गौण अथवा गर्हित कर्म समझा जाता था। पति के मरने पर सती होना अथवा जीवित रहकर पातिव्रत और वैधव्य व्रत का पालन करना धर्म-संगत समझा जाता था। यदि वह पुनर्विवाह करती थी तो पतित गिनी जाती थी। परन्तु पुरुषों के लिए इस प्रकार के दृढ़ बन्धन नहीं थे। उसे पुनर्विवाह, अनेक-पत्नी-विवाह और स्वैरकर्म

आदि करने की स्वतन्त्रता थी। इस सम्बन्ध में बीज, क्षेत्र, संयोग और शुद्धता के सम्बन्ध में कुछ विशिष्ट कल्पनाएँ अवश्य थीं। आजकल कहीं कहीं कुटुम्ब-संस्था में स्त्रियों की स्थिति की दृष्टि से और पुरुषों की नीति की दृष्टि से पुनर्वर्टन और पुनर्जन्म होने लग गया है।

व्यक्तियों की स्वतन्त्रता, समता और सुख के सम्बन्ध में आजकल जो अनेक प्रकार की बढ़ी-चढ़ी और अतिरेकी कल्पनाएँ प्रचलित हो रही हैं, उनके कारण कुटुम्ब संस्था धीरे-धीरे शिथिल पड़ने लगी है। स्त्रियों, बच्चों और नौकरों के स्थान, अधिकार और स्वतन्त्रता जो बहुत कुछ बढ़ गई है, उससे भी यह संस्था छिन्न भिन्न होने लग गई है। स्त्रियों को स्वतन्त्र व्यवसाय और राजनीतिक अधिकार भी मिलने लग गये हैं। बच्चों को पाठशालाओं में नई शिक्षा और उसके साथ साथ स्वतन्त्रता भी मिल रही है। नौकरों को नये और स्वतन्त्र काम मिल रहे हैं और नागरिकता के समान अधिकार प्राप्त हो गये हैं। पहले उनके कामों और स्वतन्त्रता पर जो बन्धन थे, वे अब कम हो गये हैं। इन्हीं सब बातों के कारण कुटुम्ब की आवश्यकता और सत्ता कम हो गई है। विवाह सम्बन्धी बन्धन भी कम हो गये हैं। विवाह के सम्बन्ध में पवित्रता का जो पुराना भाव था, वह नष्ट हो चला है और अब उसे करार या स्वेच्छा से किये जानेवाले सहवास का स्वरूप प्राप्त हो रहा है। कुछ स्थानों में और कुछ लोगों के मत से अब कुटुम्ब व्यवस्था अपूर्ण और इसलिए त्याज्य हो गई है। जहाँ पुरानी रीति-रवाजों और विश्वासों को लोग निन्दनीय समझते हैं, जहाँ लड़के-वालों के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा आदि का प्रबन्ध सरकारी संस्थाओं में हो सकता है, जहाँ व्यभिचार किसी प्रकार का अपराध नहीं समझा जाता, जहाँ खाने-पीने की सारी व्यवस्था होटलों में होती है और जहाँ विश्राम के लिए क्लब, नाटक-शालाएँ आदि होती हैं, वहाँ लोगों के सामने यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कुटुम्ब-संस्था की आवश्यकता ही क्या है। आजकल हमारे सांसारिक जीवन का मुख्य

केन्द्र, क्षेत्र और साधन कुटुम्ब ही है; और वही हमारी वैयक्तिक इच्छा, आकांक्षा और व्यवसाय का अधिकार क्षेत्र है। इस समय कुटुम्ब ही एक ऐसा स्थान है जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी परिस्थिति और अनुभव के अनुरूप आचरण और बरताव कर सकता है। इसी में मुख्यतः लोगों की कायिक, कामिक और मानसिक आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। तो भी आजकल कुटुम्ब-व्यवस्था के गुणों और कर्मों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के आक्षेप भी किये जाते हैं।

इस कुटुम्ब-व्यवस्था पर आक्षेप करनेवालों में से कुछ लोग सुधार-वादी या सुधारक हैं। उनके मत से कुटुम्ब की रचना पति और पत्नी की समता की दृष्टि से होनी चाहिए। कुटुम्ब में इन दोनों के अधिकार और कर्तव्य समान होने चाहिएँ। घर की सम्पत्ति और व्यवस्था पर इन दोनों का समान प्रभुत्व और अधिकार होना चाहिए। और स्त्रियों को भी उतनी ही स्वतन्त्रता, सुख और विश्राम मिलना चाहिए जितना पुरुषों को मिलता है।

ऐसे लोगों का यह भी मत है कि बच्चों की दृष्टि से भी बच्चों के सम्बन्ध में माता और पिता के अधिकार मर्यादित होने चाहिएँ। माता-पिता को अपने कर्तव्यों की अधिक जानकारी रखनी चाहिए और बच्चों को शिक्षा देते समय उनके स्वभाव, इच्छाओं और स्वतन्त्रता का अधिक परितोष किया जाना चाहिए।

इस प्रकार की सुधरी हुई कुटुम्ब-रचना में बाल-विवाह, एकत्र अवि-भक्त प्रणाली, कन्यादानवाली विवाह-प्रणाली, दहेज, बहुपत्नीकत्व आदि बातें त्याज्य रखी गई हैं और प्रौढ़ विवाह, दत्तक, स्वयंवर, विधवा-विवाह, एकपत्नीकत्व आदि बातों का सादर स्वीकार किया गया है। इस प्रकार के सुधारक यह भी चाहते हैं कि स्त्रियों के शरीर पर सन्तान उत्पन्न करने का विशेष भार न पड़े और वे अव्याहत रूप से दाम्पत्य सुख का भोग कर सकें; और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सन्तति-निय-

मन या सन्तान-निग्रह का शास्त्र और उसके मार्ग मान्य समझे जाते हैं। इससे इस बात की सम्भावना है कि बच्चों की संख्या नियमित हो जाय और उनका पालन-पोषण ठीक प्रकार से हो सके।

पर इन सुधारों के कारण अनेक नये दोष भी सामने आ खड़े होते हैं। लड़कों को जो अधिक स्वतन्त्रता, सुख तथा सुभीते मिलते हैं, उनके कारण उनकी वृत्ति कठोर परिश्रमी, स्वावलम्बी, दृढ़ और निश्चयी नहीं होती, बल्कि वे प्रायः विलास और विहार की ओर ही अधिक बढ़ते हैं। इससे उनकी वृत्ति बहुत अधिक सामर्थ्यहीन, परावलम्बी और दूसरों पर निर्भर रहनेवाली हो जाती है। फिर न तो वे बन्धनों को पसन्द करते हैं, न देवी-देवताओं को या ईश्वर को मानते हैं और न उन्हें धर्म की आवश्यकता रह जाती है। वे यह बात ही भूल जाते हैं कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों को ठीक मार्ग पर लगाकर विद्याध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार सामर्थ्यवान बनना चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि दृढ़तर उद्योग करने और आपत्तियों का निवारण करने के लिए जितने मानसिक और शारीरिक बल की आवश्यकता होती है, उतना बल उनमें नहीं आता और वे इन सब कामों के लिए समर्थ नहीं हो सकते।

जब स्त्रियों और पुरुषों का अधिक सहवास होता है, तब उनमें उच्च भावनाओं का परिपोष नहीं होता, बल्कि उनमें छोटी छोटी बातों पर लड़ाई-झगड़े होने लगते हैं, वे एक दूसरे के सम्बन्ध में सन्देह करने लगते हैं, एक दूसरे पर तुच्छ और निन्दनीय आरोप करते हैं और प्रायः ऐसा होता है कि कुटुम्ब में इन सब बातों के सिवा और कुछ होता ही नहीं। विलासपूर्ण वृत्ति के कारण व्यभिचार भी बढ़ जाता है। और फिर कोमलमति बालकों के मन पर इन सब बातों का और धारणा शक्ति या परिज्ञान पर अनिष्ट परिणाम होता है और वे उचित मार्ग पर चलने के योग्य नहीं रह जाते।

कुछ और आक्षेपक ऐसे हैं जो विध्वंसक हैं। उनका मत यह है कि

आजकल की नवीन परिस्थितियों और संस्कृतियों में कुटुम्ब संस्था का कोई उपयोग ही नहीं है। बल्कि उनकी समझ में तो यह संस्था और भी घातक ही है। वे कहते हैं कि बच्चों के उचित पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा और स्वतन्त्रता की दृष्टि से तथा स्त्रियों की स्वतन्त्रता और सुख की दृष्टि से कुटुम्ब-व्यवस्था ठीक नहीं है। बच्चों को संगोपन-गृहों और पाठ-शालाओं में ही ठीक तरह से स्वतन्त्रता और शिक्षा मिल सकती है और वहीं शास्त्रीय रीति से उनका पालन-पोषण हो सकता है। स्त्रियों और पुरुषों के भी आहार विहार, निवास और व्यवहार के लिए सार्वजनिक भोजनालय, नाटकशालाएँ, विश्रान्तिगृह, औषधालय, रुग्णालय और शुश्रूषालय आदि बन गये हैं और बहुत से नये तथा उत्तम सुभीते हो गये हैं। उनकी तुलना में ये सब आवश्यकताएँ पूरी करनेवाला एक मात्र कौटुम्बिक गृह ही बहुत अपूर्ण और असन्तोषजनक है और कौटुम्बिक बन्धन भी स्वतन्त्रता का हरण करनेवाले और सुख के विघातक हैं।

परन्तु इन नवीन विध्वंसक मतों में स्त्रियों और पुरुषों के सच्चे सहवास और साहचर्य के सुख के लिए कोई स्थान नहीं है और न मनुष्य की सच्ची समाजशीलता के लिए ही कोई स्थान है। इसमें कामिक भाव-नाओं और स्वैर वृत्ति की ओर ही विशेष ध्यान दिया जाता है। नैतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक भावनाओं की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। परन्तु शारीरिक और आर्थिक सुखों में ही सारे मानवीय कल्याण और ध्येय समाविष्ट नहीं हैं, इसलिए हमारा मत है कि यह भोग मार्ग और स्वैरवाद गर्हित है।

कुटुम्ब संस्था ने समाज का नियन्त्रण करने और समाजनिष्ठा का निर्माण करने के उत्तम कार्य किये हैं। इसने मनुष्यों को समाजशीलता, समाज-सेवा, सहवास और सहकारिता की ओर प्रवृत्त किया है और उनमें इन सब बातों की आदत डाली है और व्यवसाय सम्बन्धी कलाओं तथा शिल्प और उद्योग सम्बन्धी कौशल को बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी रक्षित

रखा है। इसने विवाह के क्षेत्र और आनुवंशिक गुण तथा संस्कार की उचित मर्यादा रक्षित रखी है और मनुष्य के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों, सत्ता और स्वतन्त्रता में सामंजस्य स्थापित किया है और लोगों को इन सब बातों का पालन करना सिखलाया है। इसने अपने सगे सम्बन्धियों और आपस-वालों की कठिनाइयाँ दूर करने में सहायता की है और पुश्त दर पुश्त कुटुम्बियों की शिक्षा आदि का सुभीता किया है।

इनमें से बहुत से काम ऐसे हैं जो राजसत्ता आजकल सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा कर रही है। इससे कुटुम्ब संस्था का काम और महत्व कम होता जा रहा है। कुटुम्ब संस्था पर आजकल जो ये नये आक्षेप और आघात हो रहे हैं, इसका कारण यही है कि वह संस्था स्त्रियों, पुरुषों और बाल-बच्चों की इच्छाएं और आवश्यकताएँ पूरी करने में असमर्थ हो रही है।

जाति संस्था बहुत प्राचीन है और सभी जगह देखने में आती है। यदि यह बात मान ली जाय कि समाज के प्रारम्भ से ही कुटुम्ब का अस्तित्व था, तो यह कहना पड़ेगा कि उसीके विस्तार के कारण कुल ऐसे अनेक कुटुम्बों का समूह है जो एक ही पूर्वज से उत्पन्न हैं। उस कुल का पूर्वज अथवा गोत्रपुरुष एक ही व्यक्ति होता है और इसलिए उस कुल के घटकों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होता। पर इस प्रकार के अनेक पूर्वजों में समान परम्परा, व्यवसाय और रीति-रवाज थी, इसलिए वे सब कुल सवर्ण और सजातीय मान लिये गये और इसी लिए वे सब कुल आपस में विवाह-सम्बन्ध और दूसरे सामाजिक तथा आपसदारी के व्यवहार करते हैं।

परन्तु जाति संस्था एक ही पूर्वज की अनेक कुटुम्ब-शाखाओं का विस्तृत वृक्ष अथवा समूह नहीं है, बल्कि वह समान स्वरूपी कुलों के सामाजिक सम्बन्धों और खान-पान के व्यवहार का रक्षित क्षेत्र है। इस क्षेत्र के बाहर ये सम्बन्ध और व्यवहार नहीं किये जाते। यह कोई आ-

वश्यक बात नहीं है कि एक जाति के सब लोगों का व्यवसाय भी एक ही हो। पर हाँ एक ही सा व्यवसाय करनेवाली जाति को एक वर्ण के या किसी खास नाम से सम्बोधन करते हैं। वर्ण की कल्पना में व्यवसाय की कल्पना मुख्य है। और जाति में यह कल्पना विवाह-सम्बन्ध की है। वर्ण कोई जाति नहीं है और जाति एक ही वर्ण की नहीं होती। पर जब किसी जाति के सब लोग लगातार बहुत दिनों तक एक ही व्यवसाय करते रहे, तब लोग उस जाति को उसी व्यवसाय के वर्ण में गिनने लगे। कुछ दिनों के बाद ऐसा जान पड़ने लगा कि जाति और वर्ण एक ही प्रकार की कल्पना और व्यवस्था है और जाति को वर्ण को व्यवसायात्मक अंग और वर्ण को जाति के सामाजिक सम्बन्धवाले अंग का रूप प्राप्त हुआ। अब ज्यों ज्यों नवीन और विशेष प्रकार के व्यवसाय बढ़ते गये, त्यों त्यों वे व्यवसाय करनेवाली उपजातियाँ भी बढ़ती गईं। पर यहाँ "जाति" शब्द व्यवसायात्मक है, विवाह-सम्बन्धात्मक नहीं है। पर आगे चल कर व्यवसाय की भिन्नता के कारण उपजाति में ही सामाजिक सम्बन्ध और व्यवहार होने लगे, क्योंकि भिन्न भिन्न व्यवसायों का समाज की दृष्टि से उच्च और नीच स्थान था।

परम्परा, रीति रवाज, सम्बन्ध और व्यवसाय के कारण अनेक जातियाँ और उपजातियाँ बन गई हैं। परन्तु वर्ण अथवा वर्ग सामान्यतः चार ही माने गये हैं। विचारी और पुजारी वर्ग, संरक्षक और लड़नेवाला वर्ग, उत्पादक और व्यवहारी वर्ग और काम करनेवाला तथा सेवक वर्ग बस यही चार वर्ग समाज को ठीक स्थिति में रखने और चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने गुणों और कर्मों के अनुसार उपयुक्त और ठीक कार्य कर सकता है। समाज के हित की दृष्टि से और व्यक्ति की स्वाभाविक, मानसिक और शारीरिक प्रवृत्ति तथा सामर्थ्य के अनुसार ही इन वर्गों की कल्पना की गई है।

जातियों और उपजातियों की अनेकता के बहुत से कारण हैं। इनमें

से कुछ की सृष्टि आरम्भ में वंश की दृष्टि से और सामाजिक विशिष्टता के कारण हुई थी। समाज की आरम्भिक अवस्था में ये जन अथवा गण के रूप में मिलती हैं। इनकी रीति-रवाज और विश्वास आदि भिन्न भिन्न हुआ करते हैं। इनमें रिश्ते-नाते के सम्बन्ध बहुत कुछ मर्यादित होते हैं और कोई जाति अपने रक्त में मिश्रण अर्थात् जाति-संकरता नहीं होने देती।

कुछ जातियाँ व्यवसाय की भिन्नता के कारण भी उत्पन्न होती हैं। व्यवसाय और कला की रक्षा तथा उन्नति या वृद्धि के लिए सारी जाति एक साथ मिल कर रहा करती थी। ऐसी जातियों में एक ही काम और एक ही कला बराबर पीढ़ी दर पीढ़ी चलती रहती है। इससे उनको रीति-रवाज और विश्वास बिलकुल एक ही तरह के हो जाते हैं और वे दूसरे धन्धे करनेवाली जातियों से अलग रहती हैं। उनके सम्बन्ध और सामाजिक व्यवहार केवल अपनी ही जाति में होने लगते हैं।

कुछ जातियाँ देशान्तर के कारण उत्पन्न होती हैं। अपनी ही तरह की पुरानी जातियों के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता; और जब वे दूसरे देशों में जाकर रहती हैं, तब अनेक कारणों से उनका उन जातियों के साथ भी सम्बन्ध नहीं होता जो बहुत सी बातों मे स्वयं उनके समान ही होती हैं। इससे उनकी एक स्वतन्त्र उपजाति बन जाती है।

बहुत सी ऐसी जातियाँ भी हैं जो धर्मान्तर या नवीन सम्प्रदायों के कारण उत्पन्न हुई हैं। धर्म की भिन्नता के कारण उनमें सामाजिक भिन्नता और विरोध उत्पन्न होते हैं और तब उनका स्वरूप और आकांक्षाएँ बिलकुल स्वतन्त्र और अलग हो जाती हैं।

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो आचार की पवित्रता और रक्त तथा वंश की शुद्धता पर ही जाति की कल्पना अवलम्बित है। जो जातियाँ ऊँची गिनी जाती हैं, वे सभी यही समझती हैं कि हमारा आचार और व्यवहार उच्च है, हमारा रक्त और भाषा शुद्ध है; और दूसरी जातियों की ये सब बातें कनिष्ठ तथा भिन्न हैं।

जाति-व्यवस्था में कुछ गुण भी दिखाई पड़ते हैं और कुछ दोष भी। परन्तु आजकल यह जाति-व्यवस्था राष्ट्रीय दृष्टि से ग्राह्य नहीं मानी जाती, बल्कि इसके विपरीत वह गर्हित समझी जाती है।

जातियों के द्वारा समाज के स्वतन्त्र और बलवान घटक उत्पन्न हुए हैं और उन्होंने समाज के धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक कार्य बहुत अच्छी तरह किये हैं। इन जातियों के कारण वैयक्तिक स्पर्धा और प्रतियोगिता और सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यवसायों के क्षेत्र निश्चित हो गये हैं और प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति में ही अवसर मिल जाने के कारण उसने दूसरी संस्थाओं के अभाव में विद्या, साहित्य, कला-कौशल धनोपार्जन और दान-धर्म की रक्षा तथा वृद्धि की है। समाज-संस्था की रक्षा और नियन्त्रण का काम इन जातियों ने ही किया है। पहले ये काम राजसत्ता और धर्मसत्ता के हाथ में नहीं थे। राजसत्ता के हाथ में केवल यही काम था कि शान्ति की रक्षा हो, अपराधियों को दंड दिया जाय और समाज की व्यवस्था बिगड़ने न पावे। और धर्मसत्ता के हाथ में समाज-व्यवस्था की पवित्रता प्रतिपादित करने का काम था।

जाति के बन्धन के कारण दूसरी छोटी जातियों के साथ संकरता न होने पाई और कुछ आनुवंशिक तथा परम्परागत उच्च संस्कार और कला-कौशल और कुछ नैतिक, मानसिक तथा शारीरिक गुण बने रहे। धनोपार्जन की दृष्टि से व्यवसाय और श्रम का विभाग हो गया था जिससे इनका उत्कर्ष और वृद्धि हुई। फिर लोगों का यह भी दृढ़ विश्वास था कि जाति-संस्था धर्म-सम्मत है, इसलिए भिन्न भिन्न जातियों में द्वेष और असन्तोष न फैल सका और सब लोग अपने पूर्वजों के व्यवसाय और व्यवहार करने लगे। इससे समाज-व्यवस्था में क्रान्ति न होने पाई। प्रत्येक जाति के विशेष धर्म और व्यवसाय बने रहे और सब प्रकार के पारस्परिक व्यवहार सहज में और सुभीते से होते रहे और उन सबकी कार्यक्षमता के कारण समाज के सभी अंगों का कल्याण हुआ।

आजकल की परिस्थिति में जाति-संस्था का उपयोग कम हो गया है। समता और स्वतन्त्रता के ध्येयों के कारण, शिक्षा के सुभीते के कारण नवीन सामाजिक सिद्धान्त के कारण और बहुत बढ़े हुए पारस्परिक हेल-मेल और सम्बन्धों के कारण लोग अब जाति बन्धन को मानने के लिए तैयार नहीं है। अब लोग यही समझने लग गये हैं कि हम जो आर्थिक व्यवसाय करना चाहें, वह कर सकते हैं और जिसके साथ सामाजिक सम्बन्ध करना चाहें, उसके साथ हमें ऐसा सम्बन्ध करने का अधिकार और स्वतन्त्रता प्राप्त है। अब जाति का बन्धन उनकी राजनीतिक एकता और उन्नति में भी बाधक हो रहा है। अब जातियों में परस्पर सहिष्णुता, सहानुभूति और सहकारिता नहीं रह गई है। इससे उनमें वह अन्तिम एकता की भावना नहीं दिखाई पड़ती जिसकी राष्ट्रीय समाज के लिए आवश्यकता होती है। अब समाज में जातियाँ अनेक विरोधी तथा स्वार्थी घटकों के रूप में हो गई हैं। अब उनमें राष्ट्रहित और एकता की इच्छा नहीं रह गई है। जातियों की बद्धता के कारण वह लोक-संग्राहक और विचार-संग्राहक वृत्ति नष्ट हो गई है जिसकी समाज में आवश्यकता हुआ करती है। अब उनमें परचक्रसंकट और सामाजिक तथा आर्थिक वि-पत्तियों का सामना करने की सामर्थ्य और उत्साह नहीं रह गया है। सब लोग अपनी ही अपनी जाति का हित देखते हैं। हम लोगों की समाज-व्यवस्था में जातियों की बहुत अधिक प्रबलता हो गई है। इससे हमारे धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक और आरोग्य सम्बन्धी आचार तथा विचार मर्यादित और नियमित हो गये हैं। राजसत्ता और धर्मसत्ता इन विषयों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं कर सकती। पर अब दूसरों की प्रतियोगिता के कारण बहुत सी आर्थिक अड़चनें आ पड़ी हैं और धार्मिक तथा सामाजिक सुधार सम्बन्धी विचारों, राजनीतिक आकांक्षाओं पाश्चात्य सामाजिक तत्वज्ञान और व्यवस्था, भिन्न भिन्न धर्मों, नवीन शिक्षा, छोटी जातियों की जाग्रति, हेल-मेल और पारस्परिक व्यवहारों की

वृद्धि तथा पारस्परिक अधिक सहवास और साहचर्य आदि अनेक कारणों से जाति-व्यवस्था और जाति-कल्पना शिथिल पड़ गई है। लोकसत्ता और राष्ट्रीयता की प्रबल भावनाओं ने लोगों के पुराने मत बदल दिये हैं; और जिसे देखिए, वही समता, स्वतन्त्रता और ऐहिक सुखों के पीछे पड़ा हुआ है। अब जाति के आनुवंशिक गुणों की ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। इस समय कुछ ऐसी सम्भावना जान पड़ती है कि आगे चल कर जाति व्यवस्था नष्ट हो जायगी।

विवाह एक ऐसी संस्था है जो स्त्रियों और पुरुषों की सम्भोग सम्बन्धी स्वतन्त्रता और वैषयिक अतिरेक पर बन्धन लगाती है। पहले तो बाल-बच्चों के संगोपन या लालन-पालन की दृष्टि से ही उसका अस्तित्व हुआ था; पर आगे चलकर वह वात्सल्य प्रेम, कामिक इच्छा, मत्सर और धर्म की आज्ञा के कारण चलती रही। विवाहित स्त्रियों और पुरुषों का दूसरे पुरुषों और स्त्रियों के साथ जो विवाह-बाह्य सम्बन्ध हुआ करता था, उसका नाम "व्यभिचार" रखा गया और इस प्रकार का व्यभिचार करना धार्मिक पाप और सामाजिक अपराध गिना जाने लगा। विवाह-संस्था और उससे सम्बन्ध रखनेवाले नीति-नियम अभी तक सभी प्रौढ़ समाजों में माने जाते हैं। हाँ इतना है कि भिन्न भिन्न स्थानों और जातियों मे विवाह करने के प्रकार अवश्य एक दूसरे से अलग और जुदा हैं। आजकल यह मत प्रतिपादित किया जा रहा है कि विवाह स्वयंवर की प्रणाली से होना चाहिए; अर्थात् विवाह के सम्बन्ध में वर और कन्या की इच्छा ही विशेष मान्य होनी चाहिए और साथ ही विवाह प्रौढ़ावस्था में होना चाहिए। अब बाल-विवाह त्याज्य समझा जाता है, क्योंकि इससे शरीर को हानि पहुँचती है और आयुष्य कम होती है। और साथ ही इस सम्बन्ध में यह भी समझा जाने लगा है कि बाल-विवाह से पति पत्नी में अनुरूपता, प्रेम भाव और सहकार नहीं उत्पन्न होता। इस सम्बन्ध मे नया मत यही है कि जब तक शरीर और मन दोनों प्रौढ़ न हो जायँ, तब तक स्त्री और पुरुष का शारीरिक सम्बन्ध होना ठीक नहीं है।

आजकल पुनर्विवाह भी ठीक माना जाने लगा है। पति अथवा पत्नी की असमय में ही मृत्यु हो जाने पर युवकों और युवतियों को फिर से विवाह करने देना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है। इससे अनीति, अतिरेक और व्यभिचार रुकता है और समाज की नीति बिगड़ने नहीं पाती। विवाह हो जाने पर विषयी लोग बन्धन में बँध जाते हैं और समाज का स्वास्थ्य नष्ट नहीं होने पाता। गर्भपात, बाल-हत्या, वेश्याओं का व्यवसाय और फेंके जानेवाले बच्चों की संख्या कम हो जाती है।

आजकल विवाह प्रणाली में स्वतन्त्रता और समता का सिद्धान्त अधिक मान्य हो रहा है। अब कुछ ऐसी प्रथा भी चल रही है कि सब लोग अपनी इच्छाओं के अनुसार अपने लिए पति या पत्नी चुना करें; यदि आगे चलकर पति और पत्नी में न बने तो दोनों विवाह-बन्धन से अपना छुटकारा करा लें, अर्थात् एक दूसरे को तलाक दे दें; और ऐसे पति-पत्नी के जो बाल-बच्चे हों, उनके पालन-पोषण और शिक्षा आदि की व्यवस्था किसी और उपाय से की जाया करे।

विवाह-संस्था पर भी अब नये नये आक्षेप तथा आघात होने लगते हैं। एक ओर तो यहाँ तक कहा जाता है कि विवाह-संस्था बिलकुल उठा ही दी जाय; और दूसरी ओर कहा जाता है कि इसके बन्धन और मर्यादा का पालन लोगों की इच्छा पर ही छोड़ दिया जाय; जो जब तक इसका पालन करना चाहें, वह तब तक करें। आजकल इसी प्रकार के मतों का प्रतिपादन हो रहा है कि विवाह-बन्धन को जन्म भर मानना आवश्यक न समझा जाय, अर्थात् इच्छा होने पर बीच में ही वह बन्धन तोड़ा जा सके और सब लोग जब और जिससे चाहें, सहवास करें और जब चाहे तब उसे छोड़ दें।

हमारे विचार से जो यह नवीन वासना और मनोषा उत्पन्न हुई है, वह मनुष्यों की अर्थकाम-प्रधान वृत्ति के कारण हुई है और उच्च कल्याण की दृष्टि से यह कुटुम्ब-संस्था, नीति और संस्कृति के लिये घातक है। यह

आहार-निद्रा-मैथुनवाली पाशवी वृत्ति सभी नैतिक तथा आध्यात्मिक पुरुषार्थों का नाश करनेवाली है।

प्राचीन काल के लोगों का दास भाव और अस्पृश्यता पर विश्वास था और वे इन बातों को ठीक समझते थे और बहुत से लोग दासों और अस्पृश्यों की अवस्था में पड़े रहते थे। अरिस्टाटल या अरस्तू के मत से कुछ जातियाँ जन्मतः और वंश-परम्परा से ही दास हुआ करती हैं। हमारे यहाँ भी कुछ जातियाँ जन्मतः अस्पृश्य मानी गई हैं। ऐसे मतों और रूढ़ियों के कारण बहुत से लोगों को समाज में बहुत निम्न कोटि का और अधिकार तथा सत्ता से विरहित स्थान मिलता है। उन्हें हीन प्रकार के और ऐसे काम सौंपे जाते हैं जिनके करने में बहुत कष्ट होता है। उन लोगों को राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं होती। उनके साथ बहुत ही अनुचित रूप से व्यवहार किया जाता है। कुछ स्थानों में तो यहाँ तक होता है कि ऐसे लोग बहुत अधिक कष्ट और परिश्रम करके जो सम्पत्ति उपार्जित करते हैं, उस सम्पत्ति पर भी उनका कोई अधिकार या स्वामित्व नहीं रहता और उनके घर-बार तथा कुटुम्ब तक स्वतन्त्र नहीं रहते।

कुछ स्थानों में ऐसा भी होता था कि जो लोग महापातकों या बड़े अपराधों के कारण समाज और सत्ता से बहिष्कृत हो जाते थे, अथवा युद्ध में जिन पर विजय प्राप्त की जाती थी, वे लोग भी इसी प्रकार के वर्गों में रख दिये जाते थे और तब उनके वंशज भी बराबर उसी स्थिति में पड़े रहते थे, बल्कि कुछ स्थानों में अब तक उसी स्थिति में पड़े हुए हैं। कुछ स्थानों में धर्म के उपदेश के कारण, राजसत्ता की सहायता के कारण, किसी प्रकार ऐसे बन्धनों से निकल भागने के कारण अथवा साम, दाम और दंड के द्वारा उन लोगों का छुटकारा हो जाता था; और कुछ स्थानों में जाति-प्रथा के कारण अथवा धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक अड़चनों के कारण उन्हें विवश होकर उसी स्थिति में रहना पड़ता था।

परन्तु आजकल इस प्रकार की कल्पनाएँ गर्हित समझी जाती हैं। अब तो प्रत्येक मनुष्य के लिए समता और स्वतन्त्रता आवश्यक समझी जाती है। अब कोई व्यक्ति जन्मतः अथवा किसी विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने के कारण ही किसी का ताबेदार नहीं होता। उसे धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवहारों में समान स्थान और स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए। उसे अपने इच्छानुसार व्यवसाय और व्यवहार करने की स्वतन्त्रता है। अपनी सम्पत्ति तथा कुटुम्ब-रचना पर उसका स्वतन्त्र स्वामित्व होता है। आजकल संसार में दास्यावस्था और अस्पृश्यता बहुत कुछ कम हो गई है; और जिन स्थानों में इनका अस्तित्व है भी, वहाँ वह बहुत कुछ शिथिल पड़ गई है। परन्तु अब तो प्रत्येक राष्ट्र, समाज और धर्म को उचित है कि वह इस प्रकार की सब बातों का पूरा पूरा अन्त कर दे; और साथ ही उन्हें यह भी उचित है कि वे प्रत्येक मनुष्य के लिए ऐसा सुभीता कर दें और उसे ऐसी शिक्षा, स्वतन्त्रता तथा अधिकार दें कि वह अपने मानवी कल्याण का साधन कर सके।

खान-पान के विधि और निषेध आदि के सम्बन्ध में अब तक लोगों में जो विश्वास थे, वे अब बराबर कम होते जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि अब दूसरी जातियों, वर्णों और लोगों की ओर से भय तथा पारस्परिक द्वेष कम हो रहा है, परस्पर व्यवहार या हेल-मेल और सख्य भाव बढ़ रहा है, रहन-सहन और खाने-पीने के ढंग धीरे धीरे एक समान होते जा रहे हैं, स्वच्छता और रुचि के प्रकार भी समान होते जा रहे हैं और खाने-पीने के सम्बन्ध के धार्मिक बन्धन ढीले हो जा रहे हैं। पहले खान-पान के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले कठोर बन्धन या निर्बन्ध हुआ करते थे। इस प्रकार के निर्बन्धों में से कुछ तो दैविक हुआ करते थे और कुछ ऐसे उद्देश्य तथा उपदेश होते थे जो संकरता के प्रतिबन्धक होते थे। पर आजकल ऐसे निर्बन्धों पर लोगों की कोई श्रद्धा नहीं रह गई है। आजकल खान-पान और छूआछूत के प्रश्नों का वैद्यक की

दृष्टि से संशोधन हो रहा है और यह देखा जा रहा है कि इनमें से कौन कौन सी बातें ऐसी हैं जो मनुष्य के आरोग्य, शारीरिक पुष्टि और बलवर्धन के लिए उपयोगी हैं। खाने-पीने की सड़ी-गली चीजों और दुर्गन्धियुक्त मनुष्यों से दूर रहना आवश्यक है। और ऐसा करने में किसी प्रकार का नैतिक दोष नहीं है।

प्रत्येक समाज में सामाजिक सुधार और सेवा का अंग होना चाहिए। इससे सामाजिक व्यवस्था संस्थाओं और विश्वासों की शास्त्रीय और सांगोपांग परीक्षा होती है और समाज बलवान्, स्वतन्त्रता का पोषक, प्रगति या उन्नति करनेवाला और नीतिमान् बना रहता है। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्वास्थ्य तथा उन्नति के लिए समाज के सभी अंगों, रचनाओं और ध्येयों की ठीक ठीक परीक्षा होनी चाहिए और उसके अनुसार उनमें सुधार भी होना चाहिए। समाज की कुछ संस्थाएँ और कुछ विश्वास आदि ऐसे भी होते हैं जो समाज के कुछ वर्गों के लिए कष्टदायक होते हैं जिससे उन वर्गों में असन्तोष और द्वेष फैलता है। यदि इस प्रकार की बातों में परिवर्त्तन न किये जाएँ तो आज नहीं तो कल वे वर्ग आदि उन बातों का विरोध करने लगेंगे; और इस प्रकार के विरोध से समाज में फूट और अत्याचार होने लगते हैं। समाज में एकता और शान्ति बनाये रखने के लिए ऐसे वर्गों के असन्तोष के कारण ढूँढ़ निकालने चाहिएँ और उनकी स्थिति में आवश्यक तथा उपयुक्त सुधार करने चाहिएँ। नहीं तो समाज बलहीन हो जाता है; अपनी रक्षा, अभ्युदय और धारण-पोषण करने में असमर्थ हो जाता है और देश में दूसरों की सत्ता तथा दूसरों के धर्मों का प्रवेश तथा प्रबलता होने लगती है। समाज के भिन्न भिन्न वर्गों में परस्पर सहानुभूति और सहकारिता, प्रेम और परोपकार वृत्ति होनी चाहिए। जब ऐसी स्थिति होगी, तभी समाज का सच्चा हित हो सकेगा।

यदि सब लोग यही समझ बैठें कि जो कुछ पुराना है, वह सभी

अच्छा है अथवा जो कुछ नया है, केवल वही अनुकरणीय है तो कभी समाज का सच्चा हित नहीं हो सकता। कुछ विशिष्ट तत्वों और ध्येयों के अनुसार तथा उपयुक्तता और आवश्यकता के विचार से समाज का सुधार होना चाहिए। न तो पुरानी बातों के प्रति आवश्यकता से अधिक प्रीति या निन्दा ही होनी चाहिए; और न नई बातों से बहुत अधिक डरना ही अच्छा होता है और न उनकी बहुत स्तुति या प्रशंसा करना ही ठीक है। समाज में जो कुछ सुधार किये जायँ, वे सब समाज की प्रचलित व्यवस्था और विश्वासों की शास्त्रीय या वैज्ञानिक ढंग से परीक्षा करके किये जाने चाहिएँ। उसके परम्परागत विचारों और भावनाओं को अनावश्यक स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। इस बात का विचार करना चाहिए कि समाज का धारण-पोषण किस प्रकार हो सकेगा, उसकी स्थिरता और ठीक स्थिति किस प्रकार बनी रहेगी और उसका वैभव तथा व्यवहार किस प्रकार बढ़ सकेगा।

इन सब सुधारों का मूल उद्देश्य यही है कि प्रत्येक मनुष्य को उच्च वृत्ति और नीतिवाला, सुखी, सहकारी, साहसी, संयमी, स्वतन्त्र और परोपकारी बनाया जाय। अर्थात् मुख्य हेतु यही है कि मनुष्य के स्वभाव में जो सोये हुए सद्गुण, सद्विचार, शील और सामर्थ्य आदि हैं, उन सबको जाग्रत किया जाय। कष्टदायक बन्धनों से छुड़ा कर उपयोगी स्वतन्त्रता की ओर, मूढ़ावस्था से ज्ञान की ओर, परच्छल से पर-सहिष्णुता की ओर, अन्ध प्रारब्धवाद से कर्त्तव्यपरायणता की ओर, स्वार्थ से परार्थ की ओर, जीवन की संकरावस्था से संघटन की ओर लोगों को ले जाना ही समाज का उद्देश्य है और इसी में समाज का सच्चा हित है।

प्रत्येक समाज में कुछ अच्छी और कुछ बुरी बातें हुआ करती हैं। अच्छी बातों के कारण उसकी उन्नति होती है और बुरी बातों के कारण वह डूब जाता है—उसकी अवनति या नाश होता है। मनुष्य के शील, शरीर, मन, सामर्थ्य, स्वतन्त्रता, समता, उत्साह, साहस और धैर्य का

सम्पादन तथा संरक्षण होना चाहिए। इसके लिए कुटुम्ब, जाति, वर्ण, विवाह, खान-पान के व्यवहार आदि संस्थाओं और कर्म, पुनर्जन्म, प्रारब्ध, प्रामाण्य, परलोक, शुद्धता, अस्पृश्यता आदि विश्वासों का विचार करना पड़ता है और यह देखना पड़ता है कि समता और स्वतन्त्रता, प्रयत्न और प्रगति का सामाजिक उपयोग और परिणाम क्या होता है।

दैववादी और पुराणाभिमानी लोग कहा करते हैं कि जो कुछ हमारे पूर्वजों ने उपार्जित किया था और जो बहुत दिनों से चला आता है, वही सच्चा, अच्छा और दैवी है। यदि ऐसे लोगों को अलग छोड़ दिया जाय तो सुधारवादियों के दो विभाग किये जा सकते हैं। इनमें का एक वर्ग तो वह है जो धर्म, जाति और राज्यतन्त्र या शासन की सहायता से सुधार करना चाहता है; और दूसरा वह है जो शिक्षा के द्वारा लोगों के विचार बदलना चाहता है और जिसका उद्देश्य यह है कि लोग अपनी इच्छा से ही अपना सुधार करें। ऐसे सुधारवादी लोग अनुकरण, आवश्यकता, उपयुक्तता, पुरानी कल्पनाओं के पुनरुज्जीवन अथवा नवीन सिद्धान्तों के ग्रहण आदि साधनों की सहायता से अपने समाज का सुधार करना चाहते हैं।

कोरा अन्धानुकरण ठीक नहीं होता। स्थल, काल और कार्य का विचार करके केवल उचित और ठीक बातों का अनुकरण करना चाहिए। प्रत्येक समय समाज के मूल तत्वों और स्वभाव का, उसकी आवश्यकताओं और आधारों का विचार करना चाहिए। यदि कोई बात अनुकरणीय भी हो तो भी उसे ज्यों का त्यों ग्रहण कर लेने का भी कोई विशेष उपयोग नहीं होता। उसमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करना पड़ता है। कोरे अनुकरण में विवेक, अनुभव और निश्चित तत्वों का आधार नहीं होता।

पुरानी बातों अथवा पुराने समाज-तत्वों का पुनरुज्जीवन करनेवाले सुधारक प्राचीन काल की सामाजिक स्थिति को आदर्श तुल्य समझते हैं और उससे च्युत तथा पतित होनेवाले समाज को फिर से उसी पुराने

ढंग पर ले चलने का प्रयत्न करते हैं। सुधार का यह मार्ग भी किसी प्रकार के अनुभव अथवा स्थल, काल और कार्य की आवश्यकताओं पर अवलम्बित नहीं होता। वह किसी विशिष्ट काल की कल्पित समाज-संस्था और विश्वासों की काल्पनिक उत्कृष्टता पर ही अवलम्बित रहता है। इसी लिए उस प्राचीन काल के समाज के दोष और भिन्नता की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं जाता। साथ ही वर्त्तमान समाज के सच्चे गुणों और दोषों तथा भिन्नता की ओर भी उनका ध्यान नहीं जाता और न उसकी आवश्यकताओं का ही विचार किया जाता है; और समाज के सुधार के लिए जो आन्दोलन होता है, वह विवेकशून्य बुद्धि से चलाया जाता है। उत्तम आचार और विचार चाहे जिस स्थान और जिस काल से लिये जा सकें, उनके ग्रहण करने में कोई हर्ज नहीं है। परन्तु यदि यह माना जाय कि केवल अमुक काल के अमुक लोगों के अथवा अमुक ग्रन्थों के आचार-विचार ही उच्च तथा हितकारक हैं तो इस प्रकार का विश्वास अन्ध श्रद्धा और पागलपन का होता है। प्रत्येक बात को अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करने के बाद ग्रहण करना चाहिए। जो लोग यह समझते हैं कि जब तक पुराने वचनों का आधार न मिले, तब तक कोई नई बात ग्रहण नहीं करनी चाहिए, वे सुधारक नहीं हैं, बल्कि पापभीरु हैं। ऐसे लोग प्रमाण-वचन के विरुद्ध कोई काम करना पाप समझते हैं। जब तक प्राचीन वचनों का आधार न मिले, तब तक वे कभी कोई नई बात करने के लिए तैयार नहीं होते।

सच्चे सुधारक उच्च नीति-तत्त्वों, विवेकपूर्ण परीक्षा, सद्बुद्धि, सच्चे सुख-दुःख और उपयोग की ओर ध्यान देते हैं। बीती हुई बातों के प्रति न तो उनका कोई विशेष प्रेम ही होता है और न द्वेष ही और न नई बातों के प्रति उनमें विशेष लालसा या वासना ही होती है। वे लोग परम्परा, परिस्थिति और प्राधान्य का उचित रूप से विचार करते हैं और अपने सुधार का मार्ग उच्च नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों के अनुसार

निश्चित करते हैं। वे लोग मुख्यतः इसी बात का ध्यान रखते हैं कि समाज को इस समय किन बातों की आवश्यकता है और उसका सच्चा हित कैसे हो सकता है। वे सच्चे ज्ञान और अनुभव, सद्विवेक और सद्भावना की सहायता से अपने सुधारों का मार्ग निश्चित करते हैं और उसी के अनुसार अपना प्रयत्न या आन्दोलन करते हैं।

सामाजिक सुधार क्रमशः धीरे धीरे चलकर भी हो सकता है और एक दम मे क्रान्ति द्वारा भी हो सकता है। पहले प्रकार से समाज की धीरे धीरे उन्नति होती है, समाज की शान्ति नष्ट नहीं होने पाती और प्रयत्न यशस्वी तथा स्थायी होता है। दूसरे प्रकार से समाज में एक दम से बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाता है और उसमें बहुत कठिनता से स्थिरता और शान्ति आती है। कुछ सुधारकों को तो पहला सावधानीवाला मार्ग अच्छा लगता है और कुछ सुधारक दूसरा शीघ्रतावाला मार्ग पसन्द करते हैं। इस मार्ग की योग्यता अथवा अयोग्यता समाज की प्रचलित स्थिति पर अवलम्बित रहती है। यदि सुधार की आवश्यकता बहुत ही प्रबल और तीव्र हो तो शीघ्र और तीक्ष्ण मार्ग ही श्रेयस्कर होता है। पर यदि उसकी आवश्यकता उतनी प्रबल न हो तो सावधानीवाला मार्ग ही अधिक उपयोगी होता है। सुधार तभी यशस्वी और स्थायी हो सकते हैं, जब मनुष्य का मन सुसंस्कृत अथवा सुधारों के अनुकूल हो। यदि लोकमत तैयार हो तब तो एक दम से सुधार करना ही ठीक होता है; और ऐसी अवस्था में एक दम से सुधार न करना अन्याय है। पर हाँ, यदि लोकमत तैयार न हो तो पहले उसे जाग्रत और अनुकूल करना चाहिए और तब धीरे धीरे सुधार करने चाहिएँ।

प्राचीन काल में समाज सुधार का काम धर्मसत्ता और जातिसत्ता करती थी। आजकल यह काम राजसत्ता के हाथों होता है। परन्तु परधर्म और परजातिवाली परकीय राजसत्ता के द्वारा यह काम होना ठीक नहीं है। यदि परकीय राजसत्ता इस प्रकार के सुधारों का काम करे तो वे

सुधार घातक ही होंगे, क्योंकि उद्देश्य स्वार्थपूर्ण और विरोधी हुआ करते है। परन्तु यदि राजसत्ता स्वकीय हो और प्रातिनिधिक तथा लोकमतानुयायी हो तो उस राजसत्ता के हाथों समाज-सुधार का काम अच्छा और ठीक होगा और होना चाहिए।

प्रायः इस प्रकार के अवास्तव और आग्रहमूलक प्रश्न उठा करते हैं कि पहले सामाजिक सुधार होना चाहिए या राजनीतिक सुधार होना चाहिए; पहले आर्थिक सुधार होने चाहिएँ या धार्मिक सुधार होना चाहिए; अथवा सबसे पहले शिक्षा सम्बन्धी सुधार होना चाहिए। ऐसे अवसरों पर केवल यह बात जान रखनी चाहिए कि समाज का सुधार सर्वांगीण होना चाहिए। केवल एक ही अंग की चिकित्सा करके बाकी अंगों को रुग्नावस्था में नहीं रखा जा सकता। जब समाज के सभी अंगों में सुधार किये जायँगे, तभी उसकी उन्नति होगी; नहीं तो कभी कोई विशिष्ट सुधार सफल नहीं हो सकेगा। समाज के सभी अंग एक दूसरे के आधार और पोषक हैं। समाज-पुरुष के सभी अंगों को पुष्ट करना चाहिए।

आजकल के समाज-सुधारकों में सुधार की कुछ नई नई हवाएँ बहने लगी हैं। वे मुख्यतः सब प्रकार के बन्धनों को तोड़ ही डालना चाहते हैं; वे सम्बन्ध जोड़ना या निर्बन्ध लगाना नहीं चाहते। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो ऐसे लोग किसी प्रकार का नियमन या नियन्त्रण चाहते ही नहीं। राजनीतिक जीवन में वे राजा और राज्यतन्त्र का नाश करना चाहते हैं, आर्थिक जीवन में उन्हें सम्पत्ति का वैयक्तिक विभाग और स्वामित्व पसन्द नहीं है, सामाजिक जीवन में वे कुटुम्ब, कुल और जाति आदि की संस्थाएँ नहीं रहने देना चाहते, न विवाह या सावर्ण्य का ही बन्धन रहने देना चाहते हैं, धार्मिक अथवा नैतिक जीवन में वे दैविक पाप-पुण्य, गुण-दोष और न्याय-अन्याय की कल्पनाएँ नहीं रहने देना चाहते; और अध्यात्मिक जीवन में त्याग, संन्यास, सेवा, उपासना, भक्ति और परमार्थ की कल्पनाएँ उन्हें आवश्यक नहीं प्रतीत होतीं।

ऐसे लोग विवाह-संस्कार और बन्धनों को बाधक समझते हैं। उनकी भूमिका त्याग की नहीं है। वैयक्तिक उन्नति के विषय में वे ऐहिक सुख और स्वैर संचार सम्बन्धी चार्वाक के मत को ही अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। उनका मुख्य सूत्र यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ परिश्रम और कुछ न कुछ काम-धन्धा अवश्य करना चाहिए। वे कहते हैं कि आदमी को खाना पीना तभी मिले, जब वह कुछ परिश्रम और काम धन्धा करे। और नहीं तो वह भूखा बैठा रहे। वे मुख्यतः समता का ही सिद्धान्त मानते हैं और उन्होंने बहुत सी धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक बातों में मनुष्य को स्वतन्त्रता, स्वेच्छाचार और स्वच्छन्दता दे रखी है।

कुछ सुधारक यह भी कहते हैं कि दुर्बल और दुष्ट मनुष्यों को समाज में कोई स्थान नहीं मिलना चहिए और न उनकी वंशवृद्धि ही होने देनी चाहिए। वे लोग यही बात मान्य और आवश्यक समझते हैं कि ऐसे लोगों को समाज या देश से बिलकुल अलग कर देना चाहिए, उन्हें सन्तान उत्पन्न नहीं करने देनी चाहिए और उन्हें जीवित रखने का कोई प्रयत्न न करना चाहिए। उनका ध्यान बराबर इसी बात पर रहता है कि समाज के सभी पुरुष और स्त्रियाँ दृढ़ तथा बलवान हों और उनकी सन्तान भी उन्हीं के समान समर्थ हो।

परन्तु वस्तुतः समाज का सुधार समाज की सेवा के रूप में होना चाहिए। जो लोग नायक, नेता, शिक्षित और सुसंस्कृत हों, उन्हें उचित है कि वे पिछड़े हुए, दीन और पतित लोगों को शिक्षा देकर आगे बढ़ने का अवसर दें, उनकी सेवा करें, उनके लिए सुभीते उत्पन्न करें और उन्हें आगे बढ़ावें। उनमें इस प्रकार की भावना होनी चाहिए कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति खाने-पीने से खुश रहे और सुखी तथा सुसंस्कृत हो। ऐसे ही नीतिमान, न्यायशील, परोपकारी और सुशिक्षित समाज-सेवकों के अविरत परिश्रम से समाज का सुधार हुआ करता है। जिस समाज में शुद्धचरित्र, निःस्वार्थी, शिक्षित और शीलवान उपदेशक तथा

समाजसेवक नहीं होते, उसी समाज की अधोगति होती है। निष्काम भाव से एक दूसरे की सहायता करना और विपत्ति के समय दूसरों की सेवा करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। यही बात समाजशीलता की द्योतक है। यदि इस कर्त्तव्य का पालन न किया जायगा तो बुरे लोगों के साथ साथ अच्छे लोगों का भी अवश्य ही पतन होगा। यह ठीक है कि निकम्मे और बुरे लोगों का संसर्ग बाधक है, परन्तु समाज के हित की दृष्टि से समाजसेवकों की ही आवश्यकता है।

सभी लोगों में समाजसेवक तथा उपदेशक हुए हैं और अब भी हैं। उन लोगों ने दीन-दुर्बल, दुःखी-दरिद्र, पतित और पीड़ित लोगों के लिए अनेक प्रकार के कष्ट सहे हैं और बहुत सी दिक्कतें भोगी हैं; और उनकी उन्नति के लिए धर्मालय, धर्मशाला, अन्नसत्र, रुग्णालय, औषधालय, अनाथालय, विद्यालय और पाठशाला आदि की स्थापना की है। यही काम आजकल के सेवा सदन, सेवा-समितियाँ और सेवा-संघ आदि कर रहे हैं। ये सब काम और भी अधिक मान में तथा व्यवस्थित रूप से होने चाहिएँ। इनके द्वारा मद्यपान का निवारण, वेश्यागमन का प्रतिबन्ध, दीनों और अनाथों की रक्षा, अज्ञान का निर्मूलन और ज्ञान का प्रचार आदि अनेक कार्य हुआ करते हैं। कुछ धर्म संघ तथा दूसरे सेवक संघ उपदेश और सुधार का काम बहुत ही आस्थापूर्वक कर रहे हैं। उनके उपदेशकों तथा सेवकों ने अपना तन, मन, धन और सारा जीवन ही इस प्रकार के कामों के लिए अर्पित कर दिया है; इसी लिए समाज की अधोगति नहीं हो रही है और पतित समाज तथा मनुष्य सुधर रहे हैं। बहुत से साधु-सन्तों और उनकी भक्त-मंडलियों ने तथा कथावाचकों ने भी ये सब काम किये हैं। उनकी कल्पनाएँ उच्च धर्म तथा नीति की हैं। उनमें प्रेम भाव, बन्धु भाव, उदारता, क्षमा, सहिष्णुता, सेवक भाव, मैत्री, कृपा और करुणा आदि अपने उत्कट स्वरूप में निवास करती हैं और बहुत प्रबल रूप से अपना काम करती हैं।

जिस प्रकार राजसेवकों के लिए शिक्षित, अनुभवी और उदारचरित होने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार आजकल धर्मसेवकों तथा समाज-सेवकों के लिए भी शिक्षित, अनुभवी और उदारचरित होने की आवश्यकता होती है। ऐसे लोगों को सेवा सम्बन्धी शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ भी है। उनमें शास्त्रीय या वैज्ञानिक रीति से लोगों को समाज सेवा करने की प्रणाली तथा उद्देश्य और समाज-सुधार की आवश्यकता तथा सिद्धान्तों आदि के सम्बन्ध की शिक्षा दी जाती है। ऐसी संस्थाओं ने सामाजिक प्रश्नों का उचित रूप से विवेचन करके समाज सेवा का एक आनुभविक शास्त्र भी तैयार कर दिया है। समाज सेवक का मुख्य लक्षण यही है कि उसमें मानव हित का हार्दिक ज्ञान और भावना होनी चाहिए। तभी समाज की उन्नति हो सकेगी और वह बना रह सकेगा। समाज-सेवकों को उचित है कि वे समाज में नीति सम्बन्धी उच्च भावनाओं का प्रसार करें।

प्रत्येक समाज में, चाहे वह स्थानिक हो और चाहे राष्ट्रीय, कुछ न कुछ मनुष्य ऐसे होते ही हैं जो शरीर, मन और नीति के विचार से दुर्बल, पंगु और पतित होते हैं। कुछ लोग समाजद्रोही भी हुआ करते हैं। उनके अस्तित्व तथा सम्पर्क के कारण जन-साधारण तथा बहुजन समाज के लिए एक प्रकार की जोखिम रहती है; और इसी लिए समाज सेवकों पर उनके सम्बन्ध में एक प्रकार का उत्तरदायित्व भी रहता है। उनका पालन-पोषण करने, जहाँ तक हो सके, उनका सुधार करने और उनके दुर्गुणों के दुष्परिणाम से बहुजन समाज को यथा-साध्य बचाने के लिए यह आवश्यक हुआ करता है कि समाज उन्हें बहिष्कृत करे, वन्दीगृह में रखे, स्थलबद्ध अथवा नियमबद्ध करे। पर इसके साथ ही समाज का यह भी कर्तव्य हुआ करता है कि उनकी उचित आवश्यकताओं की पूर्त्ति का भी ध्यान रखे। उनका सुधार करने के लिए संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिएँ, निवास-स्थान आदि बनाने चाहिएँ और कुछ नियम आदि भी बनाने चाहिएँ। मानस शास्त्र या मनोविज्ञान, समाज शास्त्र, सुप्रजनन शास्त्र,

चिकित्सा शास्त्र और दंडनीति का उपयोग भी ऐसे लोगों की व्यवस्था के लिए किया जाना चाहिए। इससे यह बात समझ में आ जायगी कि उनकी पंगुता के मूल कारण क्या हैं और तब उनके अवगुण भी रोके जा सकेंगे। भ्रष्ट, अमिष्ट, भिखारी, पागल, शराबी आदि सभी प्रकार के लोगों का इस प्रकार नियमन और पालन पोषण होना चाहिए और उन्हें अलग अलग या निश्चित स्थानों अथवा आलयों में रखा जाना चाहिए। इसी प्रकार अन्धों, बहरों, गूँगों और दुष्टों आदि की शिक्षा के भी साधन प्रस्तुत किये जाने चाहिएँ और उन्हें आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए। ऐसे लोग जितना परिश्रम कर सकते हों, उनसे उतना परिश्रम भी कराना चाहिए। अब तो कुछ ऐसे शिक्षालय भी बन गये हैं जो ऐसे लोगों को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न करते है, और उन शिक्षालयों में उन्हें शिक्षा तथा सहायता दी जाती है। जिन लोगों को काम नहीं मिलता, अथवा जो लोग काम नहीं कर सकते, उनके लिए भी समाज को ऐसा सुभीता कर देना चाहिए जिस में उन्हें कुछ काम मिल जाय या उनके उदर-निर्वाह की व्यवस्था हो जाय। समाज के प्रत्येक बच्चे और मनुष्य का उत्तरदायित्व उस समाज की जनता और सत्ता पर है।

संसार में कुछ अपराध ऐसे होते हैं जो मनुष्य की दुष्ट प्रवृत्ति के कारण होते हैं; और कुछ अपराध ऐसे होते हैं जो समाज की अव्यवस्था और अज्ञान अथवा भ्रम के कारण होते हैं। इसलिए जो अपराध दुष्ट प्रवृत्ति के कारण होते हैं, उनका नियमन तथा शासन कुछ अलग ढंग का होना चाहिए; और जो अपराध समाज की विशिष्ट प्रकार की व्यवस्था और विश्वासों के कारण होते हैं, उनका नियमन तथा शासन कुछ दूसरे ढंग का होना चाहिए; अर्थात् दोनों एक ही लाठी से नहीं हाँके जाने चाहिएँ। इनमें से एक वेश्याओं का व्यवसाय ही ऐसा है जो इन दोनों ही कारणों से उत्पन्न होता है।

आजकल के प्रौढ़ समाज के प्रकार तथा व्यवहार बहुत ही पेचीले,

बढ़ते हुए, व्यापक तथा अन्योन्यावलम्बी होते हैं; इसलिए यदि प्रामाणिक मनुष्यों के पास भी पूँजी, साधन, विद्या, कला और बड़ों की उपार्जित की हुई प्रतिष्ठा तथा सम्पत्ति न हो, तो उनका जीवन निर्वाह करना बहुत ही कठिन होता है। उनकी स्वतन्त्रता तथा काम-धन्धों की सुरक्षितता कम हो गई है और प्राचीन काल में कौटुम्बिक सुख और आर्थिक साधनों की जो निश्चितता थी, वह आज नहीं रह गई है। इससे उन लोगों की कामिक तथा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति सन्मान्य रीति से और निरन्तर नहीं हो सकती। इसी लिए कभी कभी ऐसे लोग भी परिस्थितियों की अड़चनों के कारण अपराधों की ओर प्रवृत्त होते हैं। उनकी परिस्थिति तथा समाज की व्यवस्था ही मुख्यतः उनकी अधोगति का कारण होती है। जब समाज के थोड़े से लोगों के हाथ में सम्पत्ति के साधन और उनका स्वामित्व होता है, अथवा यदि आर्थिक कारणों से तथा सामाजिक विश्वासों आदि के कारण लोगों का विवाह ठीक समय पर अर्थात् ठीक युवावस्था में नहीं होता, तब उनके हाथों अनेक प्रकार के अपराध होने लगते हैं। जो लोग इस प्रकार की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसका पृष्ठपोषण करनेवाली राज्य-व्यवस्था के विरुद्ध कुछ बोलते, लिखते या आचरण करते हैं, वे कुछ देशों में अपराधी भी माने जाते हैं और उन्हें दंड मिलता है। उन्हें यह दंड उनकी दुष्प्रवृत्ति के कारण नहीं दिया जाता, बल्कि इसलिए दिया जाता है कि उनका मत कुछ भिन्न और समाजद्रोही हुआ करता है। परन्तु नैतिक दृष्टि से ऐसे लोग बिलकुल अपराधी नहीं होते। हाँ निर्बन्ध या कानून की दृष्टि से वे अवश्य अपराधी होते हैं, क्योंकि उनका आचरण सत्ताधिकारियों और शासकों के बनाये हुए निर्बन्धों या कानूनों के विरुद्ध होता है।

दुष्टों के लिए दंड और प्रतिबन्ध की आवश्यकता होती है। यदि हो सके तो उन्हें अच्छी बातें सिखलाना और सुधारना चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि जिन लोगों का मत हमसे भिन्न अथवा विरुद्ध है, उन्हें यदि

हम कुछ सिखावें भी तो किस नैतिक सिद्धान्त अथवा न्याय के अनुसार सिखावें ? उनका अपराध यही होता है कि वे वर्त्तमान या प्रचलित परिस्थिति को बिगाड़ते या खराब करते हैं। तो फिर क्या केवल इसी आधार पर उन्हें दंड दिया जाय कि वे निर्बन्धों का पालन नहीं करते ? यदि प्रचलित परिस्थिति और निर्बन्ध गर्हित और त्याज्य हों और सुलभ तथा सामवाले मार्ग से उनमें परिवर्त्तन न किया जा सकता हो तो उनका विरोध करनेवालों को न तो किसी सच्चे नैतिक सिद्धान्त के अनुसार दंड ही दिया जा सकता है और न उनका प्रतिबन्ध ही किया जा सकता है। यदि ऐसी अवस्था में उन्हें दंड दिया जाय या उनका प्रतिबन्ध किया जाय तो "जिसकी लाठी, उसकी भैंस" या "हम जो कहें, वह ठीक; और तुम जो कहो, वह गलत" या "राजा करे सो न्याय" वाले सिद्धान्त के अनुसार ही होगा। ऐसी अवस्था मे यह प्रश्न विवेक अथवा न्याय के क्षेत्र से बाहर निकल जायगा और रण-क्षेत्र में चला जायगा—फिर यह प्रश्न केवल युद्ध का रह जायगा। वह निर्णय इस सिद्धान्त के अनुसार न होगा कि जहाँ धर्म है, वहीं जय है, बल्कि इस सिद्धान्त के अनुसार होगा कि जहाँ जय है, वहीं धर्म है। तात्पर्य यह कि वह प्रश्न विचार, नीति और न्याय की कक्षा से बिलकुल बाहर निकल जायगा।

मनुष्य को अपराध के अनुसार दंड दिया जाना चाहिए। परन्तु खून, चोरी, मार-पीट, व्यभिचार, बदमाशी और डाके आदि बड़े बड़े अपराधों में लोगों को जो दंड दिया जाता है, उसके मुकाबले में उन लोगों को कहीं अधिक कठोर दंड दिया जाता है जो प्रचलित शासन-प्रणाली अथवा सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध कुछ कहते या लिखते हैं। और इसका कारण यही है कि यदि शासन-प्रणाली या सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाय तो अनेक वर्गों तथा व्यक्तियों की प्रतिष्ठा, अधिकार, स्वत्व तथा आर्थिक हित में बहुत बड़ा उलट फेर हो जायगा, बल्कि उनका नाश हो जायगा और इससे बहुत बड़ी हानि होगी।

आजकल दंड देने की जो प्रणाली है, उसमें पहले-पहल कोई-अपराध करनेवालों और युवक अपराधियों को कुछ सुभीते दिये जाते हैं। इसका उद्देश्य यही होता है कि वे लोग सुधर जायँ और दंड की कठोरता तथा कारागार की दुष्ट संगति से वे अधिक बिगड़ने न पावें। दंड और शासन की अपेक्षा अपराधियों को सिखाना और सुधारना ही उनका विशेष हेतु हुआ करता है। दंड नीति सम्बन्धी जो नवीन विचार आजकल प्रचलित हैं, उनके अनुसार दंड का उद्देश्य यह नहीं है कि अपराधी से किसी प्रकार का बदला चुकाया जाय, बल्कि यह उद्देश्य है कि उसे सिखाया और सुधारा जाय। यदि अपराधी दुष्ट वृत्तिवाला भी हो तो भी उसे सिखला कर सुधारना चाहिए। कड़ा दंड देने से तो वह और भी बिगड़ जाता है। उसे फिर से समाज का उपयोगी घटक बनाना ही अधिक उचित और लाभदायक है। अपराधों और अपराधियों का नियमन करने और उन्हें निर्मूल करने के सम्बन्ध में बहुत बड़ा शास्त्र है। और यदि वह शास्त्र है तो फिर उसका मतलब यही हो सकता है कि अपराधों के कारण ढूँढ निकाले जायँ और उनका नाश किया जाय। यदि अपराधी की वृत्ति बुरी हो तो उसे सुधारना चाहिए; यदि उसकी आर्थिक परि-स्थिति और सामाजिक स्थिति खराब हो तो उसे बदलना चाहिए और उसे नीति सम्बन्धी अच्छी शिक्षा और कौटुम्बिक सुख देना चाहिए; उसकी आर्थिक स्थिति सुधारनी चाहिए और उसका धार्मिक तथा सांस्कृतिक ज्ञान बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। बस यही सब उपाय ऐसे हैं जिनसे अपराधों में कमी हो सकती है। जो लोग मन तथा शरीर से दुर्बल हों, उन्हें वैद्यों की सम्मति से औषध तथा पथ्य देकर सुधारना चाहिए। बाकी लोगों को धर्म, नीति, समाज और व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा देकर सुसंस्कृत करना चाहिए। कुछ लोगों के मनोविनोद और श्रम-परिहार के साधन बढ़ाकर उन्हें अच्छी वृत्ति में रखना चाहिए। कुछ लोगों को काम-धन्धा और व्यवसाय देकर उनमे फँसा देना चाहिए।

इससे उनमें समाज वृत्ति के प्रति अनुराग होगा और उनकी यह वृत्ति बढ़ेगी। संन्यस्त और विरागी वृत्तिवाले लोगों के योग-क्षेम का भी ध्यान रखना चाहिए। इससे उनके मन में समाज के प्रति आदर और सच्ची गृहस्थी का महत्त्व बना रहेगा।

सातवाँ प्रकरण

आर्थिक जीवन

आर्थिक जीवन मुख्यतः किसी देश की उर्वरता, भूमिगत द्रव्यों की उपज, खनिज सम्पत्ति, नैसर्गिक शक्ति, जल-वायु, मनुष्यों के कला-कौशल, कल्पकता, शिल्प, स्थापत्य, शास्त्रीय ज्ञान, उपकरणों, यन्त्रों, पूँजी, बल और संस्थाओं आदि पर अवलम्बित रहता है; और इन सब वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षा और वृद्धि वस्तुतः निसर्ग, मनुष्य के कर्तृत्व, ज्ञान, उसके संचित किये हुए धन और यन्त्रों की सामग्री तथा राजसत्ता के पृष्ठ-पोषण पर अवलम्बित रहती है।

प्रत्येक देश के सामने अपने उदर-निर्वाह और पालन-पोषण का बहुत बड़ा प्रश्न रहता है। यदि आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो सुख तथा समाधानपूर्ण जीवन ही प्रत्येक देश के उच्च नैतिक और आध्यात्मिक जीवन का मुख्य आधार है। अच्छी आर्थिक परिस्थिति का लोगों के आचार विचार, व्यवहार, आयुष्य और आरोग्य पर बहुत हितकारक परिणाम होता है। इसके लिए देश के सभी आर्थिक आधारों और साधनों का विचार करना पड़ता है। इन्हीं बातों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देश की आर्थिक शक्ति कितनी है और उसकी आर्थिक उन्नति किस प्रकार हो सकती है। मनुष्य अपने बुद्धि-बल, कला-कौशल, परिश्रम, कृत्रिम साधनों, यन्त्रों और शास्त्रों आदि की सहायता से अपने नैसर्गिक

साधनों का उपयोग तथा वृद्धि भी करता रहता है; और इस प्रकार वह ऐसी आर्थिक वस्तुएँ उत्पन्न करता है जिनकी उसे अपने उदर-निर्वाह और भोगोपभोग के लिए आवश्यकता होती है। साथ ही उसे इस बात की भी आवश्यकता होती है कि देश में सुभीते के मार्ग हों, व्यापार, वाहन तथा आवागमन आदि के साधन हों, सब प्रकार की सुरक्षितता हो और राजसत्ता का सहारा मिले।

समाज और कुटुम्ब को आर्थिक स्थिति की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इससे उसका काम नहीं चल सकता। सांसारिक व्यवहार और परमार्थ में उचित सामंजस्य स्थापित करना चाहिए। यदि संसार के सब काम अच्छी तरह किये जायँगे तो परमार्थ के सब काम भी अच्छी तरह होंगे। जब प्राप्ति होगी, तब परार्थ भी हो जायगा। ऐहिक जीवन की सिद्धि पर ही उत्तम पारलौकिक जीवन अवलम्बित रहता है। लोग कहते भी हैं—"पहले आत्मा, पीछे परमात्मा।" गृहस्थाश्रम की उत्तम स्थिति पर ही दूसरे आश्रम तथा व्यवहार अवलम्बित हैं। प्रत्येक राष्ट्र के लिए ऐसे वर्ग की आवश्यकता होती है जो धन या अर्थ का उत्पादन, पोषण और वृद्धि करे। इससे दुःख, दरिद्रता, दीनता और असन्तोष में कमी होती है और दूसरी वृत्तियों तथा उद्योगों को अपना काम करने की स्वतन्त्रता मिलती है। परन्तु कविवर कालिदास के कथनानुसार प्राप्त किये हुए अथवा संचित धन का त्याग अर्थात् उचित उपयोग और विभाग भी होता रहना चाहिए। सम्पत्ति केवल संचय, स्वार्थ अथवा अपकार के लिए नहीं है, बल्कि उचित उपयोग, विभाग, दान और उपकार के लिए है।

आर्थिक सुस्थिति तथा सुधार के लिए राजसत्ता के सहारे की आवश्यकता होती है। राजसत्ता को उचित है कि वह शिक्षा, शुल्क, कर-प्रणाली, द्रव्य की सहायता, गमनागमन तथा वहन के उत्तम साधन आदि अनेक रूपों से खेती-बारी, उद्योग-धन्धे, व्यापार और व्यापारियों आदि की सहायता करे। बिना इसके सार्वराष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा में देश के

उद्योग-धन्धे ठहर नहीं सकते। उन्हें सब प्रकार के सुभीते और संरक्षण मिलने चाहिएँ। देश के प्रत्येक मनुष्य के लिए अन्न-वस्त्र, घर-द्वार, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, संगोपन, औषध, व्यायाम और विश्रान्ति आदि के लिए सुभीते होने चाहिएँ; और वे सुभीते कुछ निश्चित प्रकार के और समाधानकारक परिमाण में होने चाहिएँ। उनका वेतन अथवा आय भी उसी परिमाण में अधिक होनी चाहिए, कम नहीं होनी चाहिए। लोगों को आलसी, निराश्रित, बेकार और भूखे नहीं रहने देना चाहिए। लोगों की उत्पादक शक्ति और प्रवृत्ति व्यर्थ और आलस्य में व्यय नहीं होने देनी चाहिए। प्रत्येक मनुष्य के लिए कुछ न कुछ श्रम और उद्योग होना चाहिए। बस इसी प्रकार राष्ट्र के उद्योग-धन्धों और व्यवसायों की व्यवस्था होनी चाहिए। केवल थोड़े से लोगों के हाथों में सम्पत्ति और उसके साधन नहीं रहने देने चाहिएँ। सम्पत्ति का विषम विभाग सदा असन्तोष और अनर्थ का कारण हुआ करता है। इससे समाज का स्वास्थ्य और सुख नष्ट होता है।

मनुष्य का जीवन विशेषतः नैसर्गिक साधनों और सम्पत्ति पर ही अवलम्बित है। यदि वैज्ञानिक ढंग से उसका संरक्षण और सदुपयोग किया जाय, तभी राष्ट्र का अस्तित्व बना रह सकता है और वह दीर्घायु तथा सुखी हो सकता है। केवल किसी एक पीढ़ी अथवा एक वर्ग के हित का ही ध्यान नहीं रखना चाहिए, बल्कि सारे राष्ट्र के सार्वजनिक कल्याण, कार्य और दीर्घायुष्य का ध्यान रखना चाहिए। उसे सदा दूर-दृष्टि, क्षमा-बुद्धि, वैज्ञानिक अध्ययन और ज्ञान की आवश्यकता रहती है।

देश के कुछ साधन तथा सम्पत्ति तो ऐसी होती है जो बराबर अव्याहत रूप से प्राप्त होती रहती है और बहुत दिनों तक बनी रहती है; कुछ ऐसी होती है जो परिमित और अपेक्षाकृत-कम होती है; और कुछ ऐसी होती है जो नई नई उत्पत्तियों और वैज्ञानिक अन्वेषणों से प्राप्त होती है। नवीन प्राप्त होनेवाली साधन-सम्पत्ति भी तभी फिर से उत्पन्न हो

सकती और बढ़ सकती है, जब ठीक ढंग से उसकी रक्षा और पोषण किया जाय। परन्तु यदि उसके बीज अथवा उद्गम का ही नाश कर दिया जाय तो फिर या तो वह जल्दी प्राप्त नहीं होती और या सदा के लिए हाथ से निकल जाती है। उदाहरण के लिए प्राणिज और उद्भिज्ज सम्पत्ति है। जो सम्पत्ति परिमित परिमाण में हो, उसका संरक्षण तथा उपयोग भी बहुत ही सावधानतापूर्वक किया जाना चाहिए। यह काम बहुत बड़े उत्तरदायित्व का है। उदाहरणार्थ खनिज सम्पत्ति।

देश की साधन-सम्पत्ति की दृष्टि से वहाँ के काम करनेवाले लोगों का संरक्षण और पोषण भी बहुत ही आवश्यक है। इसी दृष्टि से उन लोगों की सामर्थ्य, कार्यक्षमता, कारीगरी, कला-कौशल, उद्योगप्रियता और आयुष्य बढ़ाना भी बहुत ही महत्व का काम है। उनके शरीर और सामर्थ्य का क्षय करनेवाले व्यसनों और व्याधियों, उत्साह तथा उद्योग का नाश करनेवाली परिस्थितियों, उन्हें पंगु तथा पीड़ित करनेवाले अपघातों आदि का पूर्ण रूप से अन्त या नाश कर देना चाहिए। आलस्य, विद्या-कला-विहीनता, अनीतिकारक व्यसनों और शरीर का क्षय करनेवाली व्याधियों का पूर्ण रूप से नाश करना चाहिए। अर्थार्जन की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य रक्षणीय प्राणी है।

उद्योग-धन्धों के द्वारा हमें अन्न-वस्त्र और घर-बार मिलता है। अर्थात् जीविका और निर्वाह के साधन इन्हीं से प्राप्त होते हैं। यदि उद्योग-धन्धों की वृद्धि की जाय और कला-कौशल बढ़ाये जायँ तो निर्वाह और जीविका के साधन भी बढ़ जाते है और उनसे हमें अधिक सुख तथा सुभीते प्राप्त होते हैं। आजकल उद्योग-धन्धों की बहुत वृद्धि हुई है और उनका विशिष्टीकरण भी हुआ है। इससे लेन-देन, हेल-मेल, व्यापार और विनिमय भी बहुत बढ़ गया है। परिणाम यह हुआ है कि लोग परस्परावलम्बी हो गये हैं और बढ़ती हुई लोक संख्या को उदर-निर्वाह के साधन, सुख और सुभीते भी मिल रहे हैं। उद्योग-धन्धों का वास्तविक कार्य यही है कि

समाज का भरण-पोषण करें। ऐसी अवस्था में उद्योग-धन्धे करनेवालों अर्थात् काम करनेवाले लोगों के सुख और समाधान की ओर ध्यान रखना चाहिए। उनके काम करने का समय, वेतन और विभाग, उनके जीवन तथा शील की रक्षा और मनोरंजन, श्रमपरिहार और वार्धक्य आदि बातों का ध्यान रखना चाहिए और इन विषयों में उनके लिए सुभीते करने चाहिएँ।

आजकल मालिकों और मजदूरों या काम करनेवालों में कलह और विरोध चल रहा है। इसमें मुख्य प्रश्न उचित वेतन और विभाग, काम करने के समय और व्यवस्था का है। नये साम्यवादी और पुराने व्यक्ति-वादी दोनों ही इस प्रश्न की मीमांसा करने का प्रयत्न कर रहे हैं। परन्तु उन लोगों की भिन्न भिन्न कल्पनाओं, उपायों, योजनाओं और ढिठाई तथा हठ या दुराग्रह के कारण इस प्रश्न का निर्णय होना बहुत ही कठिन हो गया है।

व्यापार और पारस्परिक मेल जोल बढ़ जाने के कारण आजकल सारा संसार आर्थिक लेन-देन और व्यापार का सामान्य क्षेत्र बन गया है। इसी लिए हम लोगों को दूसरे देशों के उद्योग-धन्धों, व्यापार और आर्थिक नीति की ओर भी ध्यान देना पड़ता है। हमारी आर्थिक स्थिति और उदर-निर्वाह के साधनों पर प्रायः उनका घातक परिणाम हुआ करता है। उसी के अनुसार हमें अपने लिए संरक्षण नीति निश्चित करनी पड़ती है। अपने बाजारों, व्यापारिक मंडलों और कारखानों आदि की सहायता करनी पड़ती है। सरकार को लोक हित की दृष्टि से उन्हें सहायता और प्रोत्साहन देना पड़ता है और उनका संरक्षण तथा नियमन करना पड़ता है।

प्रत्येक नागरिक को, यदि वह पंगु न हो तो, अपने निर्वाह के लिए कुछ न कुछ उद्योग अवश्य करना चाहिए। भीख माँगकर उदर-निर्वाह करने की वृत्ति मनुष्य तथा राष्ट्र को तेजोहीन तथा बलहीन करने-वाली है। मनुष्यत्व के लिए आलस्य बहुत घातक है। आजकल के समाज

में लोगों को साधारणतः बहुत हिसाब से और सचेत तथा सजग होकर रहना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि समाज में अर्थ की उत्पत्ति तथा विभाग भी न्यायपूर्ण रीति से हो। परिश्रम करनेवाले को समाज-दृष्टि से उसके परिश्रम का ठीक ठीक बदला मिलना चाहिए। आजकल की समाज व्यवस्था का यही उद्देश्य है कि काम करनेवाले लोग भूखों या आधे पेट खाकर न रहने पावें, उन्हें करने के लिए काम मिलता रहे, उन्हें जीवन, स्वतन्त्रता तथा विश्राम के लिए कम से कम जितनी बातों की आवश्यकता हो, वे सब उन्हें प्राप्त होती रहें और उन्हें आगे बढ़ने के लिए अवसर, प्रोत्साहन तथा शिक्षा मिले। दुःखी, दरिद्र और असन्तुष्ट लोग समाज की स्थिरता और सुस्थिति के लिए घातक हुआ करते हैं। सत्ता, सम्पत्ति और विद्या का केवल थोड़े से लोगों के हाथों में संकलित रहना बहुत ही जोखिम और अन्याय की बात है। कौटिल्य के "अर्थमूलौ धर्मकामौ" वाले सूत्र के अनुसार धर्म और काम की सिद्धता केवल अर्थ पर ही अवलम्बित है। उत्तराधिकारवाली प्रथा या स्वत्व के अनुसार भी उसे बद्ध करना आजकल कुछ अंशों में अन्यायपूर्ण बतलाया जाता है, यह बतलाया जाता है कि श्रम, सम्पत्ति और सत्ता के सम्बन्ध में कुछ नई व्यवस्था और विभाग होना चाहिए। इन सबकी व्यवस्था जन्म के विचार से नहीं, बल्कि कर्म के विचार से होनी चाहिए। इससे काम करनेवाले नागरिकों में सन्तोष का और समाज में सुस्थिति का राज्य होगा। राज्यतन्त्र को अपनी आय-व्यय सम्बन्धी व्यवस्था और कर-सम्बन्धी व्यवस्था ऐसी रखनी चाहिए जो परिश्रम करनेवाले और उद्योगी लोगों के लिए पोषक हो।

आर्थिक साधनों और सम्पत्ति, बाजारों और मंडियों तथा माँग आदि की दृष्टि से देश की लोक-संख्या मर्यादित होनी चाहिए। नहीं तो कला-कौशल उद्योग-धन्धे और बिक्री के अभाव में इतने लोगों के खाने-पीने और दूसरी आवश्यक बातों के लिये उनकी सम्पत्ति तथा साधन यथेष्ट नहीं

होंगे। आजकल लोक-संख्या और उसके उदर-निर्वाह की तथा अन्य आवश्यकताएँ इतनी बढ़ गई हैं कि अब आगे अधिक सम्पत्ति के अभाव में लोक-संख्या का बढ़ना बहुत ही घातक है। कृषि-प्रधान देशों में उत्पन्न होनेवाले धान्य और दूसरी मर्यादित सामग्री पर ही वहाँ के लोगों का उदर-निर्वाह अवलम्बित रहता है। जिन देशों में बहुत अधिक वैज्ञानिक उन्नति होती है और कला-कौशल तथा उद्योग-धन्धे यथेष्ट होते हैं, वहाँ के निवासी दूसरे देशों में अपना माल खपा कर उसके बदले में अपने लिए उदर निर्वाह के साधन तथा सम्पत्ति प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु उन देशों के लोग ऐसा नहीं कर सकते जहाँ के निवासी केवल खेती-बारी पर ही अवलम्बित रहते हैं। भूमि के क्षेत्र और उर्वरता मर्यादित हुआ करती है। इससे कृषि-प्रधान देशों के निवासियों को या तो भूखों और या आधे पेट खा कर रहना पड़ता है। सम्पत्ति और बढ़ती हुई लोक-संख्या की दृष्टि से कृषि प्रधान देश बहुत अधिक सम्पन्न नहीं होते और अपने निवासियों की समस्त आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर सकते। परन्तु उद्योग-प्रधान देश दूसरे देशों के बाजारों और मंडियों पर तथा अपनी यन्त्र-सामग्री पर अवलम्बित होते हैं। देशों के पारस्परिक विरोध, कलह, युद्ध और संरक्षक कर उनके खुले व्यापार के लिए प्रतिबन्धक होते हैं। और इस प्रकार के देशों के लिए खुला व्यापार ही आवश्यक होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यदि प्रत्येक देश की कृषि, उद्योग धन्धे और व्यापार में कुछ उचित समानता अर्थात् ये सभी बातें उचित परिमाण में हों तो उनकी आर्थिक स्थिति बहुत से अंशों में समाधानकारक रह सकती है। यह बात बहुत ही अनुचित है कि कुछ देश तो खुले व्यापार अथवा वैज्ञानिक और यान्त्रिक प्रणाली के आधार पर सम्पन्न रहें और बाकी देश दरिद्रता के गड्ढे में पड़े रहें और भूखों मरा करें। ऐसी अवस्था में जो देश परकीय सत्ता के अधिकार में हों, जिन पर पर-सत्ता ने अपने स्वार्थ के लिए आर्थिक नियन्त्रण लगा दिये हों, और इस प्रकार जिनके

उद्योग-धन्धे नष्ट हो गये हों, और इस कारण अथवा दूसरे देशों की अवास्तव चढ़ा-ऊपरी के कारण क्षीण तथा दरिद्र हो गये हों, उन्हें स्वदेशी, संरक्षण और बहिष्कार-प्रणालीवाली नीति का अवलम्बन करना चाहिए। आधुनिक राष्ट्रों के आर्थिक हेतु और व्यवहार बहुत ही हीन कोटि के होते हैं। उनकी नीति धोखेबाजी और कुटिल वृत्ति की होती है और उन्हें राजसत्ता, शास्त्रीय या वैज्ञानिक ज्ञान और सम्पत्ति का सहारा होता है, इसलिए उनकी इस कृत्रिम चढ़ा-ऊपरी और आर्थिक आक्रमण का जोरों से विरोध और प्रतिकार किया जाना चाहिए। यह मार्ग आवश्यक, न्यायसंगत और हितकारक है।

आर्थिक सुस्थिति और उन्नति के लिए आजकल शास्त्रीय ज्ञान, यान्त्रिक साधनों, सम्पत्ति और राजसत्ता के सहारे की आवश्यकता होती है। बिना इसके बहुत अधिक परिश्रम करने पर भी लोगों के उद्योग-धन्धे और व्यवसाय नहीं ठहर सकते। आजकल के समय में ग्रामीण प्रणालियाँ और पुरानी पद्धतियाँ किसी तरह ठहर नहीं सकतीं। अब तो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें यान्त्रिक शक्ति और शास्त्रीय ज्ञान की वृद्धि हो, सब लोग उनसे लाभ उठा सकें और सबको काम, विश्राम, सम्पत्ति और सुभीते प्राप्त हों। देश की आर्थिक उन्नति में आजकल राजसत्ता बहुत कुछ सहायता पहुँचा सकती है। राजसत्ता पहले तो शास्त्रीय तथा उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में लोगों को शिक्षा देने के लिए सुभीते और शिक्षालय आदि प्रस्तुत करती है। इसके उपरान्त वह उन लोगों को आर्थिक सहायता और प्रोत्साहन देती है जो वैज्ञानिक बातों की खोज करते हैं; और साथ ही वह नगद धन देकर उद्योग-धन्धों की भी सहायता करती है अथवा स्वयं उनके लिए कल-कारखाने आदि स्थापित करती है। इसके उपरान्त वह संरक्षण सम्बन्धी सुभीते देकर देश के व्यापार और लेन-देन बढ़ाती है। और बाहर से आनेवाली चीजों पर संरक्षण कर लगा कर दूसरे राष्ट्रों के खुले व्यापार के मार्ग में प्रतिबन्ध उपस्थित करती

है। इसी प्रकार वह ऐसा प्रयत्न भी करती है जिसमे दूसरे देशों में उसके व्यापार सुभीते से चल सकें।

आजकल भूमि पर का स्वामित्व तीन प्रकार का होता है। एक प्रकार तो वह है जिसमे कुछ जमीन पर प्रत्येक कुल का स्वामित्व होता है। वह कुल राजसत्ता को अपनी रक्षा के बदले में केवल कर देता है और उस जमीन को बेचने अथवा दान करने का उस कुल को पूर्ण अधिकार होता है। दूसरा प्रकार वह है जिसमें जमीन पर राष्ट्र का स्वामित्व होता है और राष्ट्र की ओर से कुछ शर्तों पर जमीनें कुलों को मिल जाती हैं और वे कुल उस जमीन में हल जोतते हैं, अनाज पैदा करते हैं और सरकार को निश्चित मालगुजारी देते हैं। यदि वे मालगुजारी न दें तो सरकार उनकी जमीन जब्त करके दूसरों के हाथ बेच सकती है और उनसे वही माल-गुजारी लेती है। यदि ऐसी जमीन के बदले में धन भी दे दिया जाय तो भी उस पर से न तो सरकार का स्वामित्व ही हटता है और न मालगुजारी ही। तीसरा प्रकार वह है जिसमें सरकार अपना स्वामित्ववाला अधिकार पूर्ण अथवा आंशिक रूप से किसी को देती है; और जिसे सरकार यह अधि-कार देती है, उसको सब कुल निश्चित लगान देते हैं। सरकार और ऐसे जमींदारों का पारस्परिक सम्बन्ध एक निश्चित प्रणाली से चलता रहता है। कुछ स्थानों में जमीन पर सारे गाँव का स्वामित्व होता है। वे गाँव सरकार को कर देते हैं और लोगों में जमीन बाँट कर उनसे निश्चित लगान वसूल करते है। इन भिन्न भिन्न प्रकारों को कुल के स्वामित्ववाली या रैयतवारी, जमींदारी और सामुदायिक प्रणाली कहते है। इन सभी प्रणालियों में कुछ न कुछ गुण और दोष हैं। आजकल मुख्य विरोध इस बात में चल रहा है कि जमीन पर कुल का स्वामित्व हो अथवा राष्ट्र का। राजसत्ता अपनी मालगुजारी बराबर समय समय पर बढ़ाती रहती है जिससे कुलो को अपने उत्साह और परिश्रम का पूरा पूरा फल नही मिलता। और उलटे वे निरुत्साही और बेफिक हो जाते हैं। भूमि पर राष्ट्र के स्वामित्ववाला

सिद्धान्त समतावादियों के सिद्धान्तों और हेतुओं की प्रेरणा से नहीं प्रचलित हुआ है; इसलिए एक ओर तो अयोग्य, साधन-रहित और निरुत्साही कुल हैं और दूसरी ओर लापरवाही से, पर नियमपूर्वक मालगुजारी वसूल करनेवाली सरकार है; और इन दोनों के बीच में पड़कर जमीन की दुर्दशा हो रही है।

समतावादी भूमि पर राष्ट्र का स्वामित्व मानते हैं और उसका सुधार या उन्नति करना और वैज्ञानिक रीतियों से उनमें अच्छी फसल पैदा करना अपना सबसे पहला कर्त्तव्य समझते हैं। इससे भूमि की उर्वरता बनी रहती और बढ़ती है और लोगों को अधिक धान्य तथा दूसरी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। वे आर्थिक साधनों और पैदावार पर समाज का स्वामित्व मानते हैं। उनके मत से वैयक्तिक सम्पत्ति और स्वामित्ववाली प्रणाली अपवित्र, अप्रामाणिक और विषमतावर्धक है। वे कहते हैं कि सारी पैदावार और सम्पत्ति समाज की है। व्यक्तियों को केवल खाने पीने और दूसरी शारीरिक तथा मानसिक आवश्यकताओं के उपभोग का समान अधिकार है। सब लोग अपनी अपनी शक्ति और युक्ति के अनुसार काम करें और भुक्ति के अनुसार भोग भोगें। वे बिना श्रम किये न तो खाने-पीने की चीजें पा सकते हैं और न किसी प्रकार का भोग भोग सकते हैं। समतावादियों का उद्देश्य यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को इसी प्रकार की समता प्राप्त करा दी जाय, समाजों की वर्ग तथा वर्णवाली व्यवस्था नष्ट कर दी जाय और उसमें जो असन्तोष, विरोध और कलह है, उसका अन्त कर दिया जाय। वे कहते हैं कि बुद्धिमानों, साहसियों और स्वार्थियों ने अपने प्रयत्न अथवा बल-प्रयोग से अथवा लुच्चेपन से अपना जो अधिकार तथा सम्मान उत्पन्न तथा स्थापित कर लिया है, वह प्रामाणिक और न्यायसंगत नहीं है; और उनके पास जो सम्पत्ति है, वह चोरों और डाकुओं की सम्पत्ति तथा स्वामित्व के समान है। इसी लिए उन्होंने इस सम्पत्ति और स्वामित्व का नाश करके सारी सम्पत्ति और स्वामित्व समाज का मान लिया है; और

अब वे समाज की उच्चता नीचता, दुःख-दरिद्रता, दीनता, दुर्बलता और असन्तोष का समूल नाश करने का उपक्रम कर रहे हैं। उनके सिद्धान्त पर एक बहुत बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि व्यक्ति प्रायः स्वार्थ की प्रेरणा से ही सारा परिश्रम और उद्योग करते हैं। यदि यह बात न होगी तो लोग आलसी और कामचोर बन जायँगे। यदि किसी वस्तु पर लोगों का निजी और व्यक्तिगत स्वामित्व न होगा, तो वे काम करने में टालमटोल करेंगे जिससे समाज की आर्थिक पैदावार और सम्पत्ति कम होगी; साहसी, उद्योगी और नई नई बातें निकालनेवाले लोग दिखलाई नहीं पड़ेंगे; और समाज की वृद्धि तथा उन्नति नहीं हो सकेगी। यदि उत्साही और मन्द वृत्ति के लोग एक ही गज से नापे जायँगे तो समतावाद समाज को अधोगति की ओर ले जायगा। यह आक्षेप और यह समतावाद दोनों ही अभी अनुभव अथा प्रयोग की कसौटी पर कसे जाने को हैं। अभी तक इन सब बातों का निर्णय नहीं हुआ है कि मनुष्य की वृत्ति केवल स्वार्थ-पर है और उसके उत्साह की वृद्धि तथा परिश्रम आदि में लगने के लिए केवल स्वार्थ की ही प्रेरणा आवश्यक है तथा उसमे परोपकार तथा स्वाभाविक श्रम और साहस-प्रियता का अभाव है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि समतावादियों ने काम करनेवाले लोगों के दुःख बहुत कुछ दूर किये हैं और समाज-सुधार तथा आर्थिक समाधान के कुछ उत्तम मार्ग दिखलाये हैं।

आजकल एक नया वाद प्रचलित हुआ है। वह है सादी रहन-सहन का और रईसी रहन-सहन का। कुछ लोगों का यह मत है कि हमारी रहन-सहन बहुत ही सादी होनी चाहिए और हमें मुख्यतः अन्न वस्त्र, घर-बार और औषध आदि बहुत ही सीधी-सादी, सामान्य और नित्य की आवश्यकताएँ पूरी करनेवाली वस्तुएँ ही चाहिएँ। हमारी रहन-सहन ऐसी नहीं होनी चाहिए जो रईसी ठाठ-बाटवाली, ऐश-आराम की और अधिक सुख तथा सुभीते की या अधिक इच्छाएँ बढ़ानेवाली हो। इससे मन को शान्ति मिलेगी, ज्ञान तथा विद्या की वृद्धि के लिये अधिक समय मिलेगा और

मनुष्य में त्याग, उच्च नीति और परोपकार वृत्ति आवेगी। परन्तु इसके विपरीत कुछ लोगों का यह मत है कि मनुष्य का भोग, सुख सुभीते और आर्थिक आय बढ़नी चाहिए। इससे उसका मन सुसंस्कृत और प्रगल्भ होगा। वह परोपकार कर सकेगा। जब उसका पेट अच्छी तरह भरा रहेगा, तब ईश्वर की ओर भी उसका ध्यान लग सकेगा। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जिन लोगों के पास अधिक धन-सम्पत्ति होती है और जो ज्यादा ऐश-आराम करते हैं, वे प्रायः अपने आर्थिक व्यवहारों और आकांक्षाओं में ही दिन-रात बेतरह फँसे रहते हैं और उनकी भोगवृत्ति का ही पोषण होता है, उनमें त्यागवृत्ति उत्पन्न नहीं होती। अतः निर्धनता और सम्पन्नता, त्याग और भोग, दोनों की अन्तिम सीमाओं को छोड़ कर मनुष्य तथा समाज को मध्यम वृत्ति का ही आश्रय लेना चाहिए। यह बात अनुभव में आ चुकी है कि इससे भिन्न भिन्न प्रकृतियों के लोगों मे यथेष्ट समाधान तथा सन्तोष रहेगा। त्याग वृत्ति में श्रम आदि करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। और भोग वृत्ति के कारण मनुष्य की मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती। इसलिए भोग और त्याग दोनों का उचित मेल होना चाहिए; तभी मनुष्य सांसारिक बातों और परमार्थ दोनों के साधन का अधिकारी हो सकेगा। हमें कनिष्ठ परिस्थिति से ऊपर की ओर ले जाने के लिए श्रम और साहस की वृत्ति और भोगेच्छा की आवश्यकता होती है; और उसके साथ ही साथ मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए त्याग वृत्ति की भी आवश्यकता होती है। जो कुछ हमारे पास पहले से मौजूद है, केवल उसी की रक्षा करने से हमारी उन्नति या प्रगति नहीं हो सकती। हमें निरन्तर उसकी वृद्धि तथा विभाग करते रहना चाहिए।

लोगों के साथ मिल कर काम करने से अर्थात् सहकारवाली वृत्ति से आर्थिक उन्नति होती है। जो काम मिलकर और संघ बनाकर किया जाता है, वह थोड़े व्यय और कम परिश्रम से हो जाता है। सहकार या

सहयोगवाले सिद्धान्त के अनुसार कुछ लोग एक साथ मिलकर माल तैयार करते और खरीदते बेचते हैं और तब उसमें जो लाभ होता है, वह आपस में अपने अपने अंश के अनुसार बाँट लेते हैं; अर्थात् कुछ लोग मिलकर पूँजी इकट्ठी करते हैं और उससे होनेवाला लाभ बाँट लेते हैं। इसमें मूल भाव यही है कि सब लोग एक दूसरे की सहायता करें और एक को दूसरे का सहकार प्राप्त हो। इससे कार्य सुगम हो जाता है, लाभ अधिक होता है; और इसका कारण यह है कि ऐसी व्यवस्था में किसी दूसरे मध्यस्थ व्यापारी या साहूकार आदि की आवश्यकता नहीं रह जाती। इससे लोगों में मितव्ययिता, स्वावलम्बी वृत्ति और सहकारिता उत्पन्न होती है।

आजकल नैसर्गिक तथा यान्त्रिक शक्तियों की सहायता से आर्थिक माल की बेहद वृद्धि हो गई है। पहले जहाँ किसी काम में बहुत से लोग एक साथ लगते थे, अब वहाँ थोड़े से आदमी यन्त्रों की सहायता से वह काम कर लेते हैं; और जो काम पहले थोड़े परिमाण में हुआ करते थे, वे आज यन्त्रों की सहायता से कई गुने अधिक हो रहे हैं। इसके सिवा यन्त्रों की सहायता से तैयार की हुई चीजें सस्ती, हलकी, एक सी और टिकाऊ होती हैं। इसी लिए कल कारखानों और यन्त्रालयों में तैयार होनेवाले माल की अधिक माँग और बिक्री है। घरों में अथवा कार्यालयों में हस्त कौशल से तैयार होनेवाले माल की माँग कम है। इसका कारण यही है कि ऐसा माल प्रायः महँगा पड़ता है और कुछ दृष्टियों से उसमें वह सफाई और हलकापन नहीं होता जो यन्त्रों की सहायता से तैयार होनेवाले माल में होता है। साधारण लोगों को न तो ऐसा माल पसन्द ही आता है और न वह उनके लिए उपयुक्त ही होता है। कुछ कलाएँ और माल ऐसे भी होते हैं जो यन्त्रों की सहायता से प्रस्तुत नहीं हो सकते; और इसलिए उनकी माँग केवल बड़े आदमियों और ऐसे लोगों में ही होती है जिनका काम उनके बिना नहीं चल सकता। परन्तु आजकल

कुछ लोग यह मानने लगे हैं कि समाज-नीति की दृष्टि से और व्यक्तियों के शारीरिक तथा मानसिक हित के विचार से अधिक श्रेयस्कर यही है कि लोग मिलों और बड़े बड़े कारखानों में काम करने न जाया करें, बल्कि अपने अपने घर में ही रहकर स्वतन्त्र रीति से काम किया करें और माल बनाया करें। उनकी समझ में यह आता है कि समाज-नीति तथा मनुष्य की उच्च रहन-सहन पर यान्त्रिक प्रगति का अनिष्ट परिणाम होता है।

यह ठीक है कि यन्त्रों के कारण माल अधिक तैयार होने लगे हैं, मनुष्यों के सुख तथा सुभीते बढ़ गये हैं और उन्हें अपेक्षाकृत कम परिश्रम करना पड़ता है, पर फिर भी उसका परिणाम यही हुआ है कि पहले जो सम्पत्ति और आर्थिक सत्ता सब लोगों के हाथ में बँटी हुई रहती थी, वह आजकल थोड़े से लोगों के हाथ में चली गई है और उनका सुख, सुभीते, ऐश आराम, खेल, विश्रान्ति और स्वतन्त्रता भी बढ़ गई है। पर काम करनेवाला वर्ग फिर भी हीन, दीन और दुःखपूर्ण स्थिति में ही पड़ा हुआ है। अपने घर पर बैठकर और हाथों से काम करने में पहले जो सुख, स्वतन्त्रता, अवकाश और विश्राम मिला करता था, वह अब नष्टप्राय हो गया है। उन्हें अपना घर और स्थान छोड़ कर दूसरों के दरवाजे, मिलों आदि में, जाकर काम करना पड़ता है और अपना स्वतन्त्र काम छोड़ कर दूसरों की अधीनता में और यन्त्रों के नियन्त्रण में काम करना पड़ता है। इससे उनकी कल्पना शक्ति, हस्तकला-कौशल और अन्वेषक वृत्ति नष्ट हो जाती है और उनके स्थान पर उसे सदा केवल एक ही तरह का बुद्धि-रहित और घबरा देनेवाला काम ही करना पड़ता है। इससे मनुष्य स्वयं ही एक प्रकार का यन्त्र बन जाता है अथवा उसे यन्त्र के समान आचरण करना पड़ता है। इसके सिवा उसके शरीर और मन पर जो दुष्परिणाम होता है, वह अलग। उसे बहुत घनी बस्तीवाले शहरों, रद्दी और गन्दी कोठरियों, खराब हवा और बुरी जगहों में अपने बाल-बच्चों के साथ रहना पड़ता है। वहाँ उसे ठीक तरह से कौटुम्बिक सुख

और स्वतन्त्रता नहीं मिलने पाती। पहले उस पर धर्म और नीति के जो बन्धन हुआ करते थे, वे वहाँ शिथिल हो जाते हैं। उसके मन को उच्च विचार और शिक्षा नहीं मिलती। वहाँ प्रतिकूल परिस्थिति और बुरी संगत के कारण उसे बुरी आदतें और दुष्ट रोग लग जाते है, अनेक प्रकार की व्यथाएँ और दुर्व्यसन आ घेरते हैं और छूतवाले रोग भी लग जाते हैं। इससे स्वयं उसका, समाज का और आगे आनेवाली पीढ़ियों का जीवन नष्ट होता है।

यद्यपि इतने अधिक दुष्परिणाम हो रहे हैं, तो भी यान्त्रिक प्रगति और बड़े परिमाण में तैयार किये हुए कल-कारखाने आदि छोड़े नहीं जा सकते। इसी लिए प्रत्येक राष्ट्र और राष्ट्र-संघ के तथा देशों के मजदूरों और उनके नेताओं ने यह निश्चय किया है कि काम करनेवाले वर्ग या मजदूरों की आर्थिक तथा नैतिक स्थिति सुधारनी चाहिए। और इसी निश्चय के अनुसार उन लोगों ने अपने नियम और कार्य-क्रम आदि स्थिर किये हैं। राजसत्ता ने इस प्रकार के कुछ नियम और कानून आदि बना दिये है कि मजदूरों को अधिक से अधिक इतने घंटे नित्य काम करना चाहिए, उन्हें कम से कम इतना वेतन अवश्य मिलना चाहिए, जिस समय वे काम करते हों, उस समय उनके लिए आवश्यक सुभीतों की व्यवस्था होनी चाहिए, यदि वे बीमार पड़ें तो उनकी सहायता और शुश्रूषा की जानी चाहिए, यदि उन्हें चोट-चपेट लग जाय तो उनकी आर्थिक सहायता होनी चाहिए, आदि आदि। साथ ही राजसत्ता ने मज-दूरों के संघों को मान्य किया है और उन्हें इस बात का अधिकार दिया है कि वे अपनी माँगें पूरी कराने के लिए आन्दोलन और प्रयत्न करें, सभाएँ और परिषदें करें और आवश्यकता पड़ने पर हड़ताल आदि भी कर सकें। इसके अनुसार मजदूरों के व्यवसायात्मक, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और सार्वराष्ट्रीय संघ भी बन गये हैं। बराबर उनकी बड़ी बड़ी सभाएँ होती रहती हैं और वे अपने ध्येयों तथा माँगों पर विचार करते हैं और

उनके सम्बन्ध में प्रस्ताव आदि स्वीकृत करते हैं। इन प्रस्तावों में यह निश्चित किया जाता है कि नित्य इतने घन्टों तक काम लिया जाना चाहिए, इतना वेतन, इतनी पेन्शन और इतनी शिक्षा मिलनी चाहिए, बेकारी, बीमारी और बुढ़ापे के लिए बीमा होना चाहिए, अपघात होने या आपत्ति आने पर हरजाना मिलना चाहिए, बच्चों और स्त्रियों के लिए विशेष नियम और सुभीते होने चाहिएँ, हड़ताल, बहिष्कार और झगड़े-बखेड़े के सम्बन्ध में पंचायतें होनी चाहिएँ, राजसत्ता में अधिकार मिलना चाहिए, रहने के लिए सुभीते के और आरोग्यप्रद स्थान होने चाहिएँ, मनोविनोद आदि के साधन और विश्राम तथा व्यायाम के लिए स्थल और उद्यान होने चाहिएँ और उन्हें व्यसनों तथा अनुचित आचरण से बचाने के लिए प्रतिबन्धक नियम होने चाहिएँ, आदि आदि।

राष्ट्र संघ ने सभी राष्ट्रों की सरकारों, मजदूरों और मालिकों के प्रतिनिधियों का एक प्रतिनिधि मंडल बना दिया है जो इस बात का विचार करता है कि समस्त राष्ट्रों के मजदूरों के सामान्य सुख और सुभीते किस प्रकार बढ़ाये जा सकते हैं और उनके दुःख तथा असन्तोष किस प्रकार कम किये जा सकते हैं। उसका नाम International Labour Organisation या सार्वराष्ट्रीय मजदूर संस्था है। उनके द्वारा अब तक मजदूरों की उन्नति होने में बहुत कुछ सहायता मिली है।

जिन देशों में लोक-संख्या, दरिद्रता और बेकारी बहुत बढ़ जाती है और इस कारण लोगों के आर्थिक जीवन का निर्वाह कठिन हो जाता है, उन देशों के लोग दूसरे देशों में जाकर ऐसे स्थानों में बस जाते हैं जहाँ रहने के लिए सुभीते की जगह होती है और काम धन्धा भी सहज में मिल सकता है। परन्तु आजकल इस प्रकार अपना देश छोड़कर दूसरे देशों में जाकर बसने की उतनी स्वतन्त्रता और सुभीता नहीं है। इस प्रकार बसने के योग्य जितने नये देश और द्वीप आदि थे और जो उप-निवेशों का काम दे सकते थे, उन सब पर युरोपवालों ने अधिकार कर

लिया है और इसलिए स्वतन्त्र रूप से जाकर बसने के लिए कोई स्थान नहीं रह गया है। युरोपवालों के अधिकार में जो उपनिवेश हैं, उनमें वे लोग पौर्वात्य लोगों को घुसने नहीं देते और उनके साथ अनुचित व्यवहार करते हैं। यदि वे पौर्वात्य लोगों को किसी प्रकार अपने देश मे आने की आज्ञा देते हैं, तो भी उन्हें निकृष्ट कोटि के मजदूरों अथवा गुलामों की तरह रखते और रहने के लिए निकम्मी और अलग जगह देते हैं। उन्हें नागरिकता के सामान्य और विशेष अधिकार भी नहीं मिलते। जब वे अपना देश छोड़कर चले जाते हैं, तब स्वयं अपने देश के अधिकारों का भी उन्हें त्याग करना पड़ता है। हाँ, पाश्चात्य देशों के निवासियों को उपनिवेशों तथा दूसरे देशों में नागरिकता के पूर्ण अधिकार सहज में मिल जाते हैं।

स्वयं अपने देश का और दूसरे देशों के साथ होनेवाला व्यापार लोगों के लिए अर्थ-प्राप्ति का एक बहुत बड़ा साधन है। कच्चे और तैयार माल का विनिमय, लेन-देन और क्रय-विक्रय व्यापार का मुख्य कार्य है। न तो सब लोग सभी चीजें तैयार कर सकते हैं और न सब देश सभी चीजें पैदा कर सकते हैं। निसर्गतः अलग अलग तरह के माल भिन्न भिन्न प्रदेश सहज में उत्पन्न करते हैं और भिन्न भिन्न लोग अपने कला-कौशल और यान्त्रिक तथा वैज्ञानिक सहायता से अलग अलग तरह के माल तैयार करते हैं। सभी लोगों को कुछ न कुछ कच्चे और तैयार माल की आवश्यकता हुआ करती है, इसलिए स्वयं देश में भी और देश के बाहर भी बहुत से लोगों में व्यापार होने लगता है। मुख्यतः सस्ते माल और नई तरह के माल की दूसरे लोगों के यहाँ माँग हुआ करती है और ऐसे माल उनके यहाँ जाकर खपते हैं। ऐसे माल को लाने और ले जाने के लिए आवागमन तथा वहन के साधन सुलभ, सस्ते और सुरक्षित होने चाहिएँ। जलमार्ग, स्थलमार्ग और वायुमार्ग खूब बढ़ रहे हैं और बराबर सुगम होते जा रहे हैं। पर साथ ही इसके लिए व्यापारी वर्ग के साहसी और हो-

शियार होने की आवश्यकता होती है। उन्हें सब देशों के मालों, तौलों नापों, सिक्कों, हानि-लाभ, क्रय-विक्रय और माल लाने का वैज्ञानिक ज्ञान होना चाहिए। राजसत्ता की ओर से उसे सहायता या सहारा, संरक्षण और सुभीते मिलने चाहिएँ। उन्हें बाजार, साख और पूँजी की सहायता मिलनी चाहिए। बस इन्हीं सब बातों से देश का व्यापार और सम्पत्ति बढ़ती है और आर्थिक अवस्था अच्छी बनी रहती है।

ऐसी अवस्था में आर्थिक स्थिति की सांगोपांग रक्षा और वृद्धि करने के लिए और सब साधनों के साथ साथ राजसत्ता द्वारा नियुक्त अधिकारियों और अध्यक्षों की भी आवश्यकता होती है। राजसत्ता द्वारा स्थापित कृषि विभाग, दुष्काल विभाग, व्यापार तथा उद्योग विभाग होने चाहिएँ। इन विभागों का काम यह है कि वे देश की आर्थिक स्थिति का सदैव निरीक्षण करते रहें, आर्थिक प्रश्नों की मीमांसा करते रहें, इन विषयों का वैज्ञानिक ज्ञान और सूचनाएँ एकत्र करते रहें और आवश्यक सुधार करते रहें। राजसत्ता का आर्थिक उद्देश्य और नीति ही ऐसी होनी चाहिए जिससे अपने देश और देशवासियों की आर्थिक अवस्था सदा अच्छी बनी रहे और उसकी बराबर उन्नति होती रहे।

सामाजिक स्वास्थ्य के लिए उत्तम शारीरिक अवस्था, उत्साही मन, कार्यक्षम शरीर और उपयुक्त सम्पत्ति होनी चाहिए। यदि शरीर कार्यक्षम और मन उत्साही न होगा तो समाज की अवस्था खराब हो जायगी, क्योंकि उस समाज के लोग दुःखी और पीड़ित रहेंगे। रोग, मृत्यु, अपराध, दीनता और दरिद्रता की वृद्धि होगी। बच्चों को उपयुक्त शिक्षा नहीं मिलेगी जिससे उनकी ठीक वृद्धि और उन्नति न हो सकेगी। खाने-पीने की इस प्रकार की चिन्ता न होनी चाहिए कि आज कहाँ से आवेगा और कल कैसे मिलेगा; और उदर-निर्वाह के साधन, जहाँ तक हो सके, उचित परिमाण में और भरपूर होने चाहिएँ।

आठवाँ प्रकरण

धार्मिक जीवन

धार्मिक व्यवस्थाएँ और संस्थाएँ समाज का नियन्त्रण और पोषण करने के साधन हैं। धर्म ही प्रजा को धारण करता है, अर्थात् वही प्रजा की रक्षा और वृद्धि करता है, और उसे ठीक अवस्था में बनाये रखता है। धार्मिक श्रद्धा, विश्वास और नियन्त्रण सभी जातियों, सभी स्थानों और सभी अवस्थाओं में देखने में आता है। चाहे कुछ लोग भले ही नास्तिक और निरंकुश भावों का अवलम्बन कर लें, तो भी मनुष्य-स्वभाव के विशेष लक्षणों में से धर्म भी एक लक्षण है। मनुष्य की विवेक-बुद्धि अवश्य ही इस बात का विचार करती है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, गति और लय किस प्रकार होता है, उसके नियम क्या हैं और उसके अन्तर्भूत कौन सी निसर्ग शक्ति है। उसी के कारण मनुष्य अपने सुखों और दुःखों के कारणों की मीमांसा करने लगता है और नैसर्गिक शक्ति से व्यक्त होनेवाले प्रत्येक शान्त और रौद्र स्वरूप में उसे एक सृष्टिकर्त्ता अथवा दैवी शक्ति दिखाई पड़ने लगती है। इन बातों के कारण उसे ऐसा जान पड़ने लगता है कि मुझे दैवी शक्ति के नियमों के अनुसार रहना चाहिए अथवा उसका अनुग्रह तथा प्रसाद प्राप्त करने के लिए उसकी पूजा और भक्ति करनी चाहिए। यदि मनुष्य अर्थ-काम प्रधान होता है तो उस अदृश्य शक्ति के भय के कारण वह उसकी पूजा और भक्ति करता है; और यदि धर्म मोक्ष-प्रधान होता है तो उस शक्ति के प्रति मन में उत्पन्न होनेवाले आदर अथवा भक्ति-भाव के कारण करता है। इसमें उसे आनन्द और सुख मिलता है। पहले प्रकार के लोगों में अपने स्वार्थों और हितों की रक्षा की कामना होती है; और दूसरे प्रकार के लोगों में आत्म-विकास

की आकांक्षा और परमेश्वर की दया तथा अनुग्रह प्राप्त करने की अभिलाषा होती है।

धर्म-बुद्धि, धर्म-जिज्ञासा और धार्मिक विश्वासों की सहायता से मनुष्य के तत्व-ज्ञान और नैतिक आचरण में बहुत कुछ उन्नति हुई है। इससे मनुष्य का जीवन (१) उत्तम अर्थात् सदाचारी, प्रेमपूर्ण, सहनशील और न्याय-बुद्धि से युक्त, (२) सुन्दर, अर्थात् उच्च कोटि का, आदर्शवत् और पागलपन तथा विक्षिप्तता की भावनाओं से रहित और (३) सत्य-स्वरूप अर्थात् दैवी नियमों और हेतुओं के अनुसार तथा पूर्ण हुआ है। धर्म ही मनुष्य में सर्वभूतात्म भाव और उच्च ध्येयों के प्रति आदर उत्पन्न करता है।

अनुभव के आधार पर जो उत्तम सामाजिक आचार-विचार स्थिर किये जाते हैं, धर्म उन सबकी रक्षा करता है; और व्यक्तियों तथा समाजों के लिए कुछ उच्च ध्येय और मर्यादाएँ निश्चित कर देता है। धर्म-प्रवर्त्तकों ने ही ऐसे उत्तम ध्येय, मर्यादाएँ और आचार-विचार आदि ढूँढ निकाले हैं। उन्होंने जिन पारलौकिक बातों का विचार किया है, उन्हें यदि थोड़ी देर के लिए छोड़ दिया जाय, तो भी इस बात का पता चलता है कि उन्होंने जो धर्माचरण निश्चित किया है, उसमें एक विशेष प्रकार का सामाजिक तत्व ज्ञान, व्यवस्था और ध्येय वर्त्तमान है। इससे मनुष्य एक विशेष प्रकार के अच्छे साँचे में ढल जाता है, उसे एक विशेष प्रकार की दृष्टि प्राप्त होती है और इस बात का पता चल जाता है कि अन्तिम ध्येय और सत्य की दृष्टि से किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए।

धर्म-संस्था समाज को शिक्षा देनेवाली और उसकी सेवा करनेवाली संस्था है। वह अपनी दृष्टि से मनुष्य का मन और व्यवहार अच्छे मार्ग पर लगाती है और उसकी सेवा करके उसे अपने अनुयायी समाज में लाती और रखती है। उस दशा में उसके हाथ से समाज-सेवा के बहुत से कार्य होते हैं। वह दीन-दुःखियों की सहायता, पतितों और पीड़ितों का

उद्धार और रोगियों तथा अनाथों का औषधोपचार करके उनके दुःख और पीड़ाएँ दूर करती है। उसने दान और परोपकार के बहुत से काम किये हैं। परन्तु फिर भी कुछ स्थानों में और कुछ अवसरों पर कुछ धर्म-संस्थाओं तथा धर्मोपदेशकों ने जबरदस्ती, धोखेबाजी, अत्याचार और छल के भी काम किये हैं। पर हाँ, अब इन सब बातों की बहुत कुछ रुकावट हो गई है।

धर्म-भावना और धर्म-प्रीति आज भी मनुष्य के स्वभाव का एक बड़ा अंग है। धर्म पर श्रद्धा रखकर और उसकी प्रेरणा तथा प्रोत्साहन से वह बहुत से सत्कर्म और दुष्कर्म कर सकता है। परन्तु ये बातें उस धर्म की विशिष्ट कल्पनाओं पर अवलम्बित रहती हैं। अच्छे धर्मों ने सदा मनुष्य की प्रगति मे सहायता ही दी है। धर्म ने ही मनुष्य को जंगली और क्रूर अवस्था से निकाल कर सुसंस्कृत और शील सम्पन्न अवस्था तक पहुँचाया है और अपने धार्मिक तथा सामाजिक विषयों में समता का स्थान दिया है। इसके सिवा उसने मनुष्य को यह भी सिखलाया है कि केवल अर्थ और काम की प्राप्ति की अपेक्षा संसार में और भी अनेक बड़ी और बढ़कर बातें तथा हेतु हैं। उसने सब लोगों में और साथ रहनेवालों में सेवा वृत्ति, त्याग वृत्ति, मैत्री, करुणा, सहकार और प्रेम-भाव उत्पन्न किया है। आज सहिष्णुता के ही तत्व पर सब धर्म मिल कर एक साथ रहना चाहते हैं।

बहुत से लोगों ने ऐहिक जीवन के सामाजिक, राजकीय और आर्थिक अंगों की रचना धार्मिक विश्वासों और धर्म-संस्थाओं के आधार पर की है। धर्म के कारण ही उनमें ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण की कल्पनाएँ उद्भूत हुई हैं। धर्म-संस्था के अनुरोध से समाज-संघटन के नियम, भिन्न भिन्न संघों तथा वर्णों के पारस्परिक व्यवहार और सदाचार के नियम निश्चित हुए हैं। मनुष्य के सभी कृत्यों और जीवन के सभी अगों पर धार्मिक कल्पनाओं का परिणाम हुआ है; और धार्मिक कल्पनाओं के ही कारण उनका सापेक्ष महत्व और स्थान निश्चित हुआ है।

इन सब बातों को देखते हुए हम कह सकते हैं कि धर्म का उद्भव मनुष्यों को जीवन की ऐहिक तथा पारलौकिक आपत्तियों से बचाने के लिए हुआ है; और साथ ही धर्म का उद्भव इसलिए भी हुआ है कि मनुष्य यह जान सके कि संसार में इन सब बातों का कौन सा स्थान और क्या महत्त्व है; और धर्म का उद्देश्य यह है कि मनुष्य का जीवन दैवी सम्पत्ति से युक्त और उत्तम प्रकार का हो। इसके लिए धर्म ने विधि-निषेध और नियम-दंड आदि निश्चित कर दिये हैं। यदि उन सबका ठीक तरह से पालन किया जाय तो मनुष्य का ऐहिक अभ्युदय और पारलौकिक कल्याण होता है।

धर्म सदा मनुष्य के हेतुओं को अच्छे रास्ते पर लगाता है। वह अतीन्द्रिय और उच्च ज्ञान के योग से मनुष्य में दैवी गुणों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है और उन गुणों की देख रेख तथा रक्षा और वृद्धि करता है। वह आसुरी वृत्ति पर नियन्त्रण रखता है और उसकी ओर से लोगों के मन में भय उत्पन्न करता है। उससे समाज में एक प्रकार का मेल-जोल और सुव्यवस्था बनी रहती है और मनुष्य में समाधान तथा सदिच्छा बनी रहती है। कोई विकट प्रसंग आने पर वह मनुष्य को घबराने नहीं देता और उसमें सहनशीलता तथा संयम बनाये रखता है। ऐहिक दुःखों का ताप होने पर वह मनुष्य को किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं होने देता और उसमें यह भावना जाग्रत रखता है कि संसार में अन्तिम सुख वर्त्तमान है।

धर्म अपने अनुयायियों में आनन्द, आशा, श्रद्धा और आत्मविश्वास उत्पन्न करता है जिससे मनुष्य को पारमार्थिक मुक्ति की आशा होने लगती है और उसमें सांसारिक यातनाएँ सहन करने की शक्ति आती है। धर्म यह आदेश और उपदेश करता है कि मानवी जीवन के श्रेष्ठ स्वरूप के साथ बराबर लगे रहो और उसे कभी मत छोड़ो। वह अन्तिम कल्याण और मानवी हित की दृष्टि से सांसारिक या गार्हस्थ्य तथा स्वार्थी जीवन को अच्छे मार्ग पर लगाता है। इसी उच्च दृष्टि के अनुरोध से धर्म-संस्थाओं ने

मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी सिद्धान्त, संस्कार, आचार, विधि और दंड आदि निश्चित कर दिये हैं। इन सब बातों की सहायता से मनुष्य उच्च कोटि का जीवन व्यतीत कर सकता है।

धर्म के वचन ऋषि-मुनियों, साधु-सन्तों, महात्माओं और विभूतियों के स्वानुभव और प्रेरणा पर, अन्तःकरण की स्फूर्ति पर और यौगिक प्राप्ति पर अवलम्बित रहते हैं। ध्यान, तपस्या और योग-धारणा से उन लोगों को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, और उसके कारण उनके ज्ञान तथा वचन परम प्रामाणिक और त्रिकाल में सत्य होनेवाले माने जाते हैं। वह ज्ञान सृष्टि के मूल में रहनेवाले गूढ़ तत्वों से सम्बन्ध रखता है और उसे जीवन के सच्चे स्वरूप और उद्देश्यों का ज्ञान होता है; और उनके वे वचन सृष्टि के नियमों के अनुसार होते हैं। इस प्रकार के अनेक सत्पुरुष हो गये हैं और उनके ज्ञान तथा वचन भिन्न भिन्न रूपों में मिलते हैं। इसी से भिन्न भिन्न पन्थ, उपासना के प्रकार, स्मृतियाँ और संस्कार उत्पन्न हुए हैं।

अधिकांश धर्मों में परमेश्वर की एकता की कल्पना है। उसी परमेश्वर को वे सारी सृष्टि और जगत का आधार और आदि तत्व तथा उत्पत्ति, स्थिति, गति और लय का कर्त्ता समझते हैं। उसी के द्वारा सारी मानव सृष्टि अस्तित्व में आती है, बनी रहती है और सुख-दुःख प्राप्त करती है। वही मनुष्य की प्रार्थना, पूजा और पुकार का उत्तर देती है और उसके नैतिक आचरण का आदर करता है। लोग अनेक सगुण तथा निर्गुण रूपों में उसकी पूजा-अर्चा करते हैं और यह पूजा तथा अर्चा भक्ति, कर्म, ज्ञान और योग आदि भिन्न भिन्न मार्गों से होती है। वह सभी वस्तुओं और प्राणी मात्र में निवास करता है। उसका स्वरूप और आज्ञाएँ अनेक देशों और कालों के ऋषि-मुनियों ने अपने अपने प्रामाणिक ग्रन्थों में बतलाई हैं। तो भी हम लोग यही समझते हैं कि वह एक ही और अद्वितीय है।

भिन्न भिन्न धर्म-प्रवर्त्तकों ने जो नीति सम्बन्धी मूल नियम बतलाये

हैं, उन सबका साधारणतः एक ही अर्थ है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य पर मूलतः और तत्वतः प्रत्येक धर्म जोर देता है और व्यवहार की दृष्टि से सब जगह उनका कुछ न कुछ मान अवश्य होता है। यदि मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्ण उच्चाकांक्षाओं, धार्मिक कट्टरपन या पागलपन और जाति सम्बन्धी पागलपन को छोड़ दे तो सभी धर्मों में परस्पर सद्भाव रह सकता है, वे ऐहिक दुःखों का परिमार्जन करने में सहायता दे सकते हैं और उनके अनुयायियों में साहचर्य हो सकता है।

धर्म निष्ठा कभी राष्ट्र के लिए बाधक नहीं होनी चाहिए। यदि धर्म-निष्ठा में पागलपन अथवा कट्टरपन न हो, बल्कि भूत-दया और करुणा हो तो उससे राष्ट्र का बल बढ़ता है और राष्ट्रीय वृत्ति का पोषण होता है। यद्यपि कुटुम्ब और जाति की दृष्टि से राष्ट्र एक संग्राहक और बड़ा समूह है, तो भी सारी मानव जाति की दृष्टि से वह छोटा और मर्यादित समूह ही है। मनुष्य का व्यापक जीवन राष्ट्र की मर्यादाओं से दब नहीं सकता और न वह उससे सँभाला ही जा सकता है। अखिल मानव जाति के साथ उसके अनेक प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। ऐसी अवस्था में स्वभावतः धर्म का राष्ट्रीय जीवन के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि धर्म सदा जगत सम्बन्धी सिद्धान्त और विश्वव्यापी आदर्श प्रतिपादित करता है। जब कि राष्ट्रीय भावना से बढ़कर दूसरी उच्चतर भावनाएँ मनुष्य में वर्तमान हैं, तब उसे उत्तम जीवन की दृष्टि से यह जान रखना चाहिए कि श्रेष्ठ ऐहिक जीवन कैसा होता है और श्रेष्ठ पारलौकिक जीवन क्या है। और उसी के अनुकरण से उसे अपना आचरण सुधारना चाहिए। धर्म ने मनुष्यों को इस बात का ज्ञान करा दिया है कि सब मनुष्य एक हैं और उनके लिए शान्ति, सहनशीलता तथा सेवा-भाव की आवश्यकता है। इस से वैयक्तिक सदाचरण और सामाजिक सुस्थिति में वृद्धि हुई है। इससे इस संसार के व्यक्तियों को अपने स्थान का और जातियों तथा राष्ट्रों को अपने मर्यादित महत्व का ज्ञान हुआ है। इस प्रकार धर्म ने सत्य की

भावना और सत्कर्म की दृष्टि उत्पन्न की है और उसकी प्राप्ति के लिए आचार सम्बन्धी ऐसे नियम बना दिये हैं जिनसे हमारा दैनिक जीवन नियमित, संस्कृत और संजीवित होता है। जो उच्च तत्व केवल शुद्ध अन्तःकरण और शुद्ध चित्त से समझे जा सकते हैं, उनके प्रति इससे श्रद्धा और नैतिक उल्लास या प्रेम उत्पन्न होता है और बराबर बना रहता है।

धर्म का यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण हमारे जीवन के लिए आवश्यक है। इससे समाज की दृष्टि और वृत्ति व्यापक होती है और ऐहिक तथा पारलौकिक जीवन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध उसकी समझ में आ जाता है। धर्म के आध्यात्मिक प्रभाव के कारण संसार की अनेक प्रकार की घटनाओं में एकता आती है और शान्ति, सहिष्णुता, संयम आदि गुणों को महत्व तथा मान प्राप्त होता है। इससे मनुष्य की आध्यात्मिक स्वतन्त्रता और योग्यता की परख होती है। मनुष्य दैवी सम्पत्तिवाला माना जाता है और सच्चा नागरिक ईश्वर का सेवक माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसका यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी सारी शक्ति सब लोगों का हित और उन्नति करने में, परस्पर मेल-जोल बढ़ाने और सबकी सेवा करने में व्यतीत करे। वह राजनीतिक दृष्टि से केवल कर देनेवाला और मत देनेवाला मनुष्य नहीं है, बल्कि अपनी धार्मिक वृत्ति के कारण समाज तथा मानव जाति के जीवन को उदात्त करने के सम्बन्ध में कार्य और कर्त्तव्य करनेवाला मनुष्य है। पीडितों, दलितों और दीन-दुःखियों की सेवा और रुग्णालयों, कारागारों तथा समरांगणों में पड़े हुए रोगियों, बन्दियों और पीडितों का उद्धार करनेवाले समाज-सेवकों की वृत्ति और प्रेरणा ही मनुष्य की धर्म-निष्ठा और धर्म प्रवृत्ति का मूल है। साथ ही उसकी उदार वृत्ति का भी यही मूल है। इससे उत्तम तथा पूर्ण जीवन प्राप्त करने में सहायता मिलती है। सच्चे नागरिकों का यही ध्येय होता है और इसी के लिए उन्हें प्रयत्न करना चाहिए।

अनेक प्रकार के धर्म-मत तथा धर्माचार देखने में आते हैं। बहुत सी

लड़ाइयाँ और झगड़े केवल इसी विश्वास के कारण हुए हैं कि भिन्न भिन्न धर्म-पन्थों में केवल हमारा ही धर्म सच्चा और ईश्वर-प्रणीत है और दूसरों का धर्म झूठा या खराब है। इस प्रवृत्ति के कारण संसार में शान्ति और मैत्री भाव नहीं रहने पाता और जगह जगह तथा समय समय पर रक्तपात और बलात्कार हुए हैं। हमारे ऋषि-मुनियों और धर्म प्रवर्त्तकों ने धर्म का जो रहस्य बतलाया है, उसे भूलकर धर्मानुयायियों ने उसकी नैमित्तिक विधि उपाधियों की ओर ही अधिक ध्यान दिया है और दूसरों के प्रति असहिष्णुता और विरोध दिखलाया है। परन्तु धर्म की मुख्य प्रवृत्ति सहिष्णुता, बन्धुता और सेवा-भाव की होनी चाहिए। केवल व्रतों, उद्यापनों और क्रिया-कर्मों का पालन करने से ही वह वृत्ति पूरी नहीं हो सकती। दूसरों के धर्म मतों की ओर वैर-रहित बुद्धि से देखना कोरा उपयुक्ततावाद अथवा पड़ोसदारी की आवश्यक बात नहीं है, बल्कि उसमें धर्म का सच्चा रहस्य और सच्ची वृत्ति छिपी हुई है। हमारे देश में धार्मिक स्वतन्त्रतावाले तत्व का ज्ञान और आचरण बहुत प्राचीन काल से चला आता है। महाराज अशोक ने अपने शिलालेखों में अपनी प्रजा को धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता दी है। यह भाव हम लोगों की परम्परा और विश्वास में पूरी तरह से भरा हुआ है। इसी से हमारे यहाँ प्राचीन काल में धर्म सम्बन्धी युद्ध नहीं हुए। सब लोग अपने अपने धार्मिक विश्वास के अनुसार सब काम कर सकते थे और उसमें किसी ओर से कोई बाधा नहीं होती थी। परन्तु यहूदी, ईसाई और मुसलमान पन्थों के अनुयायियों में धार्मिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता का तत्व बिलकुल माना ही नहीं गया। दूसरे देशों में जाने पर, दूसरी राजसत्ता के अधीन होने पर अथवा कुछ राजाओं के राजनीतिक दृष्टि से धर्मान्धाता छोड़ देने पर दूसरे धर्मानुयायियों के साथ उन्होंने कुछ प्रसंगों और कुछ स्थानों पर मित्रता और नागरिकता का जो व्यवहार किया था, वह केवल व्यावहारिक उपयुक्तता और आवश्यकता की दृष्टि से किया था। परन्तु उनके मूल नियमों के अनुसार इस प्रकार का व्यवहार धर्म-

विरुद्ध और अनुचित ही है। जिन देशों में इस प्रकार के धर्म होते हैं, उन देशों में जब तक केवल एक ही धर्म और एक ही पन्थ प्रचलित रहता है और पाखंड तथा नये पन्थ उत्पन्न नहीं होते, तभी तक वहाँ शान्ति और सहिष्णुता ठहरती है। पर ज्यों ही देश में नवीन मत तथा पाखंड उत्पन्न होते हैं, किंवा बाहर से आते हैं, त्यों ही धर्म की एकता नष्ट हो जाती है और धार्मिक झगड़े बखेड़े शुरू हो जाते है।

आजकल कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ केवल एक ही धर्म और एक ही मत के लोग रहते हों। ऐसी अवस्था में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अभ्युदय की दृष्टि से और देश की शान्ति की दृष्टि से हमें धार्मिक सहिष्णुता का तत्व ग्रहण करना चाहिए; फिर चाहे प्राचीन काल के हमारे धार्मिक दुराग्रह और विश्वास कुछ ही क्यों न रहे हों। सच्ची धार्मिकता और राष्ट्रीय आवश्यकता की दृष्टि से सहिष्णुता का यह सिद्धान्त मानकर इसके अनुसार आचरण करना चाहिए। जो नागरिक इस सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करते है, वे सच्चे नागरिक, राष्ट्र-भक्त और मानव-प्रेमी नहीं हैं, बल्कि वे राष्ट्र, सच्चे धर्म, नीति और मानव जाति के शत्रु हैं। उनकी कठोर तथा कनिष्ठ दुर्नीति के कारण लोगों के कल्याण और उन्नति में बाधा होती है। कोई सच्चा राष्ट्र कभी धार्मिक असहिष्णुता सहन नहीं कर सकता। धार्मिक स्वतन्त्रता आजकल के जीवन-व्यवहार का आवश्यक लक्षण है। असहिष्णुता और धर्मान्धता का कठोरतापूर्वक नाश कर डालना चाहिए। उच्च कोटि के आचार-स्वातन्त्र्य तथा विचार-स्वातन्त्र्य में इसके लिए कोई स्थान नहीं है।

लालच देकर, बल प्रयोग कर के अथवा छल से दूसरों को अपने धर्म में ले आना नीति की दृष्टि से निन्दनीय है। यदि स्वयं अपनी इच्छा से और अपने स्वतन्त्र विचार से कोई अपना धर्म छोड़कर दूसरे धर्म में चला जाय तो इसमें कोई दोष नहीं है। बहुत अधिक धर्म-परिवर्तन केवल राजकीय बल-प्रयोग, प्रलोभन अथवा भय से ही हुए है। कुछ धर्म-परि-

वर्तन धर्म-गुरुओं के उपदेश तथा कुछ उपदेशकों की चालबाजी के कारण हुए हैं; और बहुत ही थोड़े धर्म-परिवर्त्तन स्वतन्त्र बुद्धि से और अपनी इच्छा से हुए हैं।

आधुनिक राष्ट्रों में जिस प्रकार धर्म को मानने के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता दी जाती है, यदि उसी प्रकार धर्म के उपदेश के लिए भी दी जाय तो इसमें कोई हानि नहीं है। परन्तु धर्म-प्रचार की स्वतन्त्रता कभी नहीं दी जानी चाहिए। इससे संसार की बहुत सी धर्मान्धता, धर्मद्वेष और धर्म-सम्बन्धी युद्ध कम हो जायँगे; और तब यदि लोग अपनी इच्छा से अपना धर्म छोड़कर दूसरा धर्म ग्रहण करेंगे तो इसमें किसी को कोई बड़ी आपत्ति भी न होगी।

यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस समय कोई ऐसा धर्म नहीं है जो व्यावहारिक दृष्टि से पूर्ण हो। यदि कुछ पारलौकिक कल्पनाओं को छोड़ दिया जाय तो हम कह सकते हैं कि सभी धर्म नीचे की ओर खिसकते चले जा रहे हैं। यदि नीति, व्यवहार और शास्त्र की दृष्टि से देखा जाय तो उनमें की धार्मिक कल्पनाएँ, वचन और नियम बहुत ही निकम्मे, बुरे और असत्यपूर्ण हैं। ऐसी अवस्था में यह बात बहुत ही सहज में समझ में आ सकती है कि इस प्रकार के धार्मिक बन्धनों को सहारा देना अथवा उनका समर्थन करना, मीठे वचनों, कठोर वृत्ति अथवा काली करतूतों से उन्हें दूसरों पर लादना अथवा उनके लिए रक्तपात और मार-पीट करना कितना अधिक अन्यायपूर्ण है। आजकल के समय में तो धर्म की कल्पना के स्वरूप में ही परिवर्त्तन होना चाहिए। धर्म-परिवर्त्तन करने में कोई बड़प्पन नहीं है, बल्कि उससे तो मन की अधर्म-प्रवृत्ति ही व्यक्त होती है।

धर्म-निष्ठा वैयक्तिक होती है। उसे सामूहिक, राजकीय और लड़ाई-झगड़े का पन्थात्मक स्वरूप देना बहुत जोखिम का काम है। जब तक कोई गुण अथवा निष्ठा व्यक्तिगत न हो, तब तक मनुष्य या समाज के लिए उसका कोई उपयोग नहीं हो सकता। जो लोग केवल औपचारिक

रीति से हमारे धर्म या पन्थ को मानते हों, उनका तो पक्ष लेना और नीति तथा न्यायपूर्वक चलनेवाले दूसरे धर्मों के अनुयायियों के साथ चरम सीमा का हार्दिक वैर रखना उच्च धर्म तथा नीति और राष्ट्रीय वृत्ति की दृष्टि से बहुत ही गर्हित है। धर्म का सच्चा रहस्य, उच्च आचार-विचार और भावनाओं के ही साथ सम्बद्ध है।

धर्म सदा माननेवाले पर छोड़ देना चाहिए और सबको अपने इच्छानुसार धर्म मानने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उसकी व्यवस्था में उच्चता और नीचता का अथवा श्रेष्ठ और कनिष्ठ के अधिकार का कोई विचार नहीं होना चाहिए। उसमें बन्धु-भाव, समता और स्वतन्त्रता होनी चाहिए और उसमें से अन्धता, अवैज्ञानिक विश्वास, दुराग्रह तथा अनुभव-विरोधी वचन बिलकुल निकाल देने चाहिएँ। उसमें ज्ञान-मार्ग के लिए और ज्ञानानुसार कर्म-स्वातन्त्र्य के लिए स्थान होना चाहिए। यदि उच्च नीति और धर्म-वचनों में विरोध हो तो मनुष्य को नीति के अनुसार ही चलना चाहिए। सभी धर्मों के सन्मान्य और उच्च सिद्धान्तों का शिक्षा के रूप में समाज में प्रचार करना चाहिए। इससे धर्मान्धता और धर्म द्वेष कम होगा और मनुष्य की अच्छी उन्नति हो सकेगी। प्रत्येक धर्म में सत्य का कुछ न कुछ अंश अवश्य हुआ करता है; और सत्य को समझने तथा उस तक पहुँचने के अनेक प्रकार हैं। और यदि मनुष्य को इन दोनों बातों का ज्ञान हो जाय तो उसमें सहज में ही सहिष्णुता आ जायगी। फिर वह यह नहीं समझेगा कि धर्म का सारा खजाना मेरे ही पास आ गया है और धर्म का ठेकेदार मैं ही हूँ। आजकल के धर्म में परमार्थ सम्बन्धी ज्ञान उतना अधिक नहीं है, जितना अधिक अज्ञान है; और इस सम्बन्ध में आजकल जो झगड़े चल रहे हैं, वे "अन्धेन नीयमाना यथान्धाः" वाले न्यायानुसार ही चल रहे हैं।

सभी धर्मों की उत्पत्ति समान कारणों से ही हुई है और उन सब का समान उद्देश्य लोगों का अन्तिम कल्याण ही है। हाँ, रुचि तथा प्रकृति की

विचित्रता के कारण और परम्परा तथा परिस्थिति की भिन्नता के कारण उनके मार्ग, संस्कार और विधि-निषेध आदि भिन्न भिन्न हैं। इसी लिए प्रत्येक देश में वहाँ के जो धर्म-प्रवर्त्तक, महर्षि और महामुनि आदि होते हैं, उन्हीं के मन्त्र-तन्त्रों के अनुसार वहाँ के निवासियों के लिए चलना अच्छा होता है और इसी में लोगों को सुख और सुभीता होता है। और इसका कारण यह है कि उन लोगों की धर्म-रचना तथा नियम उस देश के लोगों की संस्कृति के अनुकूल होते हैं। परन्तु ऐसे धर्म-प्रवर्त्तकों और ऋषि-मुनियों के केवल वचनों पर ही अपनी दृष्टि नहीं रखनी चाहिए, बल्कि राष्ट्र तथा नागरिकों के हित के लिए धर्म का उपयोग करना चाहिए।

नवाँ प्रकरण

सांस्कृतिक जीवन

मनुष्य को सुसंस्कृत करना प्रत्येक समाज का कर्तव्य है। मनुष्य का मन तथा आचार नीति-नियम, शिक्षा, संस्कार, ज्ञान-प्राप्ति और विद्या-कला आदि की अभिज्ञता से संस्कृत होता है; और साथ ही उसके विचार, भावनाएँ तथा व्यवहार उदात्त होते हैं। उसे यह नीति, शिक्षा, ज्ञान और कुशलता प्राय: कुल-परम्परा, कथा-कीर्तन, शिक्षा देनेवाली संस्थाओं और धर्म-संस्थाओं आदि के द्वारा प्राप्त होती है। सांस्कृतिक जीवन में बौद्धिक, नैतिक और भावनात्मक अंगों का विशेष विचार होता है। इन्हीं अंगों के पोषण तथा सामर्थ्य पर मनुष्य का उदार तथा उच्च चरित्र और समाज की श्रेष्ठता अवलम्बित है।

प्रत्येक सुव्यवस्थित समाज के कुछ सामान्य नीति नियम और कुछ विशेष नीति नियम हुआ करते हैं। वही उस समाज की संस्कृति के निदर्शक हुआ करते हैं। उनसे उस समाज की एकता और विशिष्टता

सूचित होती है और बल तथा शील का पता चलता है। उस समाज के आचरण तथा व्यवहार के मूल पर उनका प्रभाव होता है। इनमें से सर्व-सामान्य सामाजिक नीति-नियम, मनु तथा मूसा का बतलाया हुआ, दश-लाक्षणिक धर्म है। इसे प्रायः सभी उच्च समाजों ने स्वीकृत किया है। परन्तु उनमें से प्रत्येक धर्म ने उनमें के कुछ विशिष्ट गुणों पर ही ज्यादा जोर दिया है और इसी कारण उनमें उन गुणों के अनुसार विशिष्टता आई है। विशेष नियम स्थल, काल और ध्येय के अनुसार स्वीकृत किये जाते हैं। हमारे यहाँ के वैदिक सनातन समाज, जैन तथा बौद्ध समाज, सिख समाज और आजकल के आर्य समाज ने भिन्न भिन्न संयमी गुणों पर ज्यादा जोर दिया है और इसी से उन की दृष्टि तथा व्यवहार भिन्न प्रकार के हुए हैं। इसी प्रकार पाश्चात्य ईसाई समाज और मुसलमान समाज ने दूसरे साहसी गुणों का समर्थन किया है जिससे उनकी संस्कृति भिन्न हो गई है। नैतिक नियमों का मनुष्य के सांस्कृतिक जीवन के साथ निकट सम्बन्ध है। इससे मनुष्य की वृत्ति, संयम और साहस, शील तथा संस्कार को भिन्न भिन्न प्रकार का रूप प्राप्त होता है और वही उनकी संस्कृति के लक्षण होते हैं।

कुटुम्ब-परम्परा, शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं, कथाओं और कीर्त्तनों, साधु-सन्तों के उपदेशों, धर्म के आदेशों और निषेधों तथा वृद्धों और नेताओं के आचरण के द्वारा ही समाज के नैतिक जीवन की रक्षा और पोषण होता है। उस नैतिक जीवन को उत्तम बनाने के लिए इन परम्पराओं, संस्थाओं, पद्धतियों और उपदेशों को सदा ठीक अवस्था में रखना और चलाना चाहिए। समाज का नैतिक साहित्य और नीति-पाठ लोगों के मन पर अनेक प्रकार से और आचरण, उपदेश तथा पठन आदि से प्रतिबिम्बित करते रहना चाहिए। इससे वे सब बातें मनुष्यों की प्रकृति में सम्मिलित हो जाती हैं और वे उन सब बातों के भली भाँति अभ्यस्त हो जाते हैं।

सांस्कृतिक जीवन के बौद्धिक अंग के लिए शिक्षा की विशेष आवश्यकता

होती है। इससे मनुष्य का मन तथा शरीर सुदृढ़ होता है और वह ठीक रास्ते पर लगता है। इन बातों से उसमें सामर्थ्य और शील उत्पन्न होता है। मनुष्य में जो स्वाभाविक गुण तथा शक्तियाँ होती हैं, उनका इससे पोषण और वृद्धि होती है और वे समाज के लिए उपयोगी होने लगती हैं। मनुष्य में जो गुण पहले से होते है, उनका इससे उचित संस्कार होता है, नवीन गुणों और ज्ञान से उसका परिचय होता है; और उससे जो गुण और विद्या प्राप्त होती है, उससे मनुष्य में अपना काम पूरा करने की शक्ति आती है।

मनुष्य विनयशील और संयमक्षम बन सकता है। उसकी स्वयंभू शक्तियों को संयम से रखना और ठीक रास्ते पर लगाना चाहिए, तभी उसकी सामर्थ्य बढ़ेगी। यदि विद्या के द्वारा नवीन गुण, नवीन शक्ति और नवीन सामर्थ्य प्राप्त की जाय, तो बौद्धिक, शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मनुष्य कार्यक्षम और कर्त्तृत्वशील बन सकता है। शिक्षा और विद्या की सहायता से ही आजकल कुछ राष्ट्र सब प्रकार से आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने अपने यहाँ के लोगों का पुराना जीवन पूरी तरह से बदल दिया है और उनके सभी अंगों को दृढ़ तथा सामर्थ्यवान् बनाया है। इसी लिए नागरिकों का जीवन उच्चतम तथा कर्त्तृत्वशाली बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता होती है।

शिक्षा सदा शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं के द्वारा दी जाती है। छोटे बच्चे और प्रौढ़ मनुष्य स्वयं अपने अवलोकन, मनन, व्यायाम और उद्योग से तो सदा शिक्षा और ज्ञान प्राप्त करते ही रहते हैं, परन्तु शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं का निर्माण इसलिए होता है कि उन लोगों को वह शिक्षा और ज्ञान सहज और वैज्ञानिक रीति से, दूसरों के अनुभव से और मार्गदर्शकता से प्राप्त हो। ऐसी संस्थाएँ राजसत्ता, धर्मसत्ता, जातिसत्ता अथवा जनता के तन्त्र और अधिकार में चलती हैं। शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ चलाने में पहले की तीनो सत्ताओं अर्थात् राजसत्ता, धर्मसत्ता और जातिसत्ता के कुछ

सामान्य और कुछ विशेष उद्देश्य हुआ करते हैं। परन्तु उनका सामान्य उद्देश्य ही शिक्षा का सच्चा उद्देश्य है। और वह उद्देश्य यह है कि मनुष्य को विद्याओं और कलाओं का ज्ञान प्राप्त कराया जाय और उसके शील, व्यवहार, बुद्धि, मन, शरीर तथा कौशल की वृद्धि की जाय। परन्तु उनका विशेष उद्देश्य लोगों में अपनी सत्ता, मतों और संस्थाओं के प्रति भक्ति उत्पन्न करना होता है।

जिस शिक्षा का संचालन जनता के तन्त्र से होता है, उसके उद्देश्य सामान्य और सर्वमान्य होते हैं। उसमें वह वंश-विशिष्टता नहीं होती जो राजसत्ता, धर्म, सम्प्रदाय और जाति समूह के द्वारा दी हुई होती है। आजकल लोकतन्त्रवाली शिक्षा की ओर ही लोगों को अधिक प्रवृत्ति है। यदि राजसत्ता प्रातिनिधिक और उत्तरदायित्व प्रणालीवाली हो तो उसका अधिकार मानों स्वयं जनता का ही अधिकार होगा, और शिक्षा को एकांगी रूप न प्राप्त हो सकेगा। तो भी यदि शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं, उनके पाठ्यक्रम और नियमों तथा शासन आदि की रचना तथा परि-चालन विशेषज्ञों और अध्यापकों की ही सम्मति से हो तो अधिक श्रेयस्कर होगा। राजसत्ता तथा जनता को उसके लिए केवल धन की व्यवस्था करते रहना चाहिए और समय समय पर उनकी जाँच भी करते रहना चाहिए जिसमें शिक्षा सम्बन्धी संस्थाएँ शिक्षा का उच्च उद्देश्य भूल न जायँ।

यदि मनुष्य के सारे जीवन का विचार किया जाय तो उसका शैशव विद्याभ्यास और इन्द्रिय-जय में ही व्यतीत होना चाहिए। आजकल के सुसंस्कृत और प्रौढ़ राष्ट्रों का यह मत है कि प्रत्येक मनुष्य को उसकी शैशवावस्था में कुछ सामान्य और निश्चित विषयों तथा मर्यादा की कम से कम कुछ नियत शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिए। हमारे यहाँ मनुष्य के जीवन के चार आश्रमों की कल्पना की गई है जिनमें से पहला ब्रह्मचर्या-श्रम कहा गया है। इस आश्रम के लिए संयम, शिक्षा और शील की

प्राप्ति तथा वृद्धि का कार्यक्रम निश्चित किया गया है। जिस मनुष्य का इस प्रकार का संस्कार हो जाता है, वह यौवन काल में गृहस्थाश्रम तथा नागरिकता के लिए उपयुक्त हो जाता है, क्योंकि उसमें उद्योगी तथा व्यवहारी जीवन के लिए आवश्यक संयम और साहस, शील और सामर्थ्य, कला और कौशल उत्पन्न हो चुका रहता है। इससे वह समाज के सभी व्यवहारों को योग्यतापूर्वक जान और परख सकता है और स्वतन्त्रतापूर्वक उनमें सम्मिलित हो सकता है।

उत्तम जीवन के ध्येय ही शिक्षा के ध्येय हुआ करते हैं। परन्तु शिक्षा का एक दूसरा उद्देश्य व्यवसायात्मक शिक्षा देना भी है। इसके लिए मनुष्य को भिन्न भिन्न प्रकार की विद्याएँ और कलाएँ सिखलानी पड़ती हैं। प्रत्येक मनुष्य को उसी व्यवसाय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो उसे पसन्द हो या जिसे वह लाभ अथवा परिस्थिति के विचार से करना चाहता हो। आजकल समाज को अनेक प्रकार के व्यवसायों, कला-कौशलों, यान्त्रिक विद्याओं और भौतिक शास्त्रों की आवश्यकता है। इनसे लोगों का उदर-निर्वाह और आयुष्य-रक्षा होती है और सुख तथा सुभीते प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार समाज की व्यवस्था और शासन को भली भाँति चलाने के लिए समाजशास्त्र, इतिहास, नीति-विद्याओं और उच्च साहित्य का भी अध्ययन होना चाहिए। अधिकारी और शासक वर्ग तथा शिक्षक और सेवक वर्ग के लिए इन सबका बहुत कुछ उपयोग होता है। परन्तु सब लोगों को कम से कम एक ही प्रकार की सामान्य बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक और आध्यात्मिक शिक्षा की आवश्यकता होती है; और उसके साथ साथ अपने उद्योग-धन्धे, उदर-निर्वाह अथवा उच्चाकांक्षाओं की दृष्टि से कुछ न कुछ व्यवसायात्मक और ज्ञानात्मक विशेष शिक्षा की भी आवश्यकता होती है। जिस समाज में शिक्षा न होगी और जो निरक्षर तथा असंस्कृत रहेगा, उसकी आजकल के जमाने में दुर्दशा ही होगी और वह अधोगति की ही ओर जायगा।

पाठशालाएँ और शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ भी सामाजिक संस्थाएँ ही हैं। वहाँ बच्चों के साथ बच्चों का और अध्यापकों के साथ अध्यापकों का सहवास और साहचर्य होता है। वहाँ की उत्तम संगति और सदुपदेश से उनके मन सुसंस्कृत, ग्राहक, व्यापक, विवेकशील और स्वतन्त्र होने चाहिएँ; वहाँ के उच्च चारित्र्य से उनके स्वभाव गुणग्राहक, शीलवान्, विनयशील, आज्ञाधारक और सेवा भाव से युक्त होने चाहिएँ, वहाँ के आदेश तथा व्यायाम से उनके शरीर तथा सामर्थ्य सुदृढ़, सयमी और व्यवसाय के योग्य बनने चाहिएँ। प्राचीन काल का संकलित और बढ़ता हुआ ज्ञान वहाँ एकत्र रहता है और वह प्रत्येक पीढ़ी के काम आता है। लड़कों और लड़कियों का मन, शरीर और शील वहाँ परम्परा, परिस्थिति और भावी सांसारिक कार्यों के अनुरूप बनता है। घर में दी जानेवाली शिक्षा की अपेक्षा वहाँ मिलनेवाली शिक्षा अधिक व्यापक, विस्तृत और व्यवहारी हुआ करती है। वहाँ मनुष्य समाज के व्यवहारों में सम्मिलित होने के योग्य बनता है।

आजकल प्रौढ़ राष्ट्रों का यही संकल्प रहता है कि शिक्षा सार्वत्रिक और सार्वजनिक हो। प्रत्येक व्यक्ति को साक्षर और सामान्य विषयों में शिक्षित होना चाहिए। प्रत्येक देश में विशेष प्रकार के और उच्च ज्ञान की प्राप्ति का पूरा सुभीता होना चाहिए। देश में सभी प्रकार के और सभी विषयों के ज्ञान उपलब्ध होने चाहिएँ।

आजकल लोकतन्त्र का जमाना है और ऐसे समय में प्रत्येक मतदाता को सामान्य रूप से शिक्षित, शीलयुक्त, विवेकी और संस्कृत मनवाला होना चाहिए और उसका प्रतिनिधि और अधिकारी विशेष शिक्षित शीलवान्, बुद्धिमान् और संस्कृति-सम्पन्न होना चाहिए। जब ये दोनों बातें होंगी, तभी लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली यशस्वी तथा सफल होगी।

ऐसी अवस्था में विद्यालयों का महत्व बहुत अधिक हो जाता है। वहाँ का वातावरण, शिक्षा प्रणाली, रहन-सहन और चारित्र्य आदि बहुत

उत्तम प्रकार का होना चाहिए। विद्यालय केवल बालकों की परीक्षाओं और शिक्षकों के वेतनों के क्षेत्र नहीं होने चाहिएँ, बल्कि वे विद्यार्थियों और शिक्षकों की विद्या, विनय, सहकार और सामर्थ्य-प्राप्ति के क्षेत्र बनने चाहिएँ। विद्यार्थियों को इस बात की पूरी पूरी शिक्षा मिलनी चाहिए कि उत्तम जीवन कौन सा है और गृहस्थाश्रम में उत्तम रीति से किस प्रकार रहना चाहिए। इसके लिए उन्हें अनेक प्राचीन तथा वर्त्तमान संस्कृतियों का ज्ञान होना चाहिए; और साथ ही अपने जीवन में वे जो व्यवसाय करना चाहते हों, उनमें उन्हें कौशल भी प्राप्त होना चाहिए। वहाँ उन्हें अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार धर्मशास्त्र, समाजनीति, इतिहास, भूगोल, राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि समाजशास्त्रों और तत्वज्ञानों का तथा भौतिक शास्त्रों का सामान्य अथवा विशेष रूप से अध्ययन करना चाहिए। शिक्षा ही हमारे बुद्धि-विकास, समाज की स्थिरता और प्रगति या उन्नति का मुख्य साधन है।

शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ अनेक हैं। घर, विद्यालय, आश्रम और विद्यापीठ के द्वारा शिक्षा का काम चलता है। इसी प्रकार शिक्षा की प्रणालियाँ सुभीते, अध्ययन या पाठ के क्रम और उद्देश्य भी अनेक हैं। मनु से लेकर मान्टिसोरी तक और प्राचीन काल के आश्रमों तथा विद्यापीठों से लेकर आजकल के विद्यालयों, कालेजों और विश्वविद्यालयों तक उनके अनेक रूपान्तर हुए हैं। परन्तु फिर भी उन सबका एक यही उद्देश्य देखने में आता है कि मनुष्य में सामर्थ्य और शील उत्पन्न किया जाय, ज्ञान पर बराबर अधिक जोर दिया जाय और इसके द्वारा मनुष्य का जीवन अधिक सुखकर बनाया जाय। प्रत्येक नागरिक को इसी प्रकार सुशिक्षित होकर समाज का ऋण चुकाना चाहिए, अर्थात् समाज की रक्षा, कार्य और सेवा करनी चाहिए।

आजकल की शिक्षा यह चाहती है कि मनुष्य की बुद्धि स्वतन्त्र हो, उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट हो, वह विनयशील, व्यायामशील और विजयशील

हो तथा वह व्यवसाय में निपुणता प्राप्त करे और उसकी वृत्ति नागरिकता की हो। आजकल की शिक्षा में अधिकतर ध्यान इसी बात का रखा जाता है कि मनुष्य किस प्रकार स्वतन्त्र विचारों से युक्त होकर अपने सुख-दुःख की विवेचना कर सकता है और वह अपने हीन वर्ग को किस प्रकार उच्च बना सकता है। आजकल की शिक्षा यह बात पहले से मान लेती है कि प्रत्येक मनुष्य में स्वतन्त्र स्वभाव, उच्चाकांक्षाएँ और कार्य-क्षमता है; और तब वह इस बात का विचार करती है कि स्वयं अपने तथा समाज के हित की दृष्टि से वह व्यक्ति किस प्रकार उपयुक्त साँचे में ढाला जा सकता है और किस उपयुक्त मार्ग पर लगाया जा सकता है। शिक्षा ही राष्ट्र का नाश भी कर सकती है और उद्धार भी। आजकल केवल जाति-हित की दृष्टि से शिक्षा की मर्यादा स्थिर करना ठीक नहीं है। उसका विचार राष्ट्रहित की दृष्टि से और इस बुद्धि तथा भावना से होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति तथा बुद्धि किस प्रकार विकसित और पूरा पूरा काम करने के योग्य हो सकेगी।

शिक्षा से जितना लाभ होना चाहिए, उतना लाभ आजकल नहीं हो रहा है; और इसका कारण यह है कि लोगों में मनमाने रूप से आचरण करने और निरंकुशतापूर्वक व्यवहार करने की वृत्ति का प्रचार हो रहा है और लोगों का मन नीति सम्बन्धी बन्धनों के अनुकूल नहीं रह गया है। इसी लिए आजकल विद्यार्थी लोग क्षणिक आनन्द और सुख के पीछे पड़े रहते हैं। उनमें विद्या का दृढ़ रूप से अधिष्ठान नहीं होता और न वे उसका पूरा पूरा अनुष्ठान ही करते हैं। विद्याध्ययन की अवस्था में ही उनमें गृहस्थाश्रम की इच्छा उत्पन्न हो जाती है और उन्हें बहुत कुछ स्वतन्त्रता भी मिली रहती है, इसलिए आजकल आश्रम सम्बन्धी संकरता बहुत बढ़ गई है। इसी से हमारी शिक्षा फलदायिनी नहीं होती।

समाज-संस्कृति और मनुष्य की सौन्दर्यात्मक भावना में बहुत कुछ निकट सम्बन्ध है। यदि नागरिक का जीवन सौन्दर्य की भावना से प्रेरित

हो तो उसके ध्येय तथा रुचि उदात्त रहती है और उसके जीवन में एक प्रकार की सुसंगतता या सामंजस्य और आनन्द भी उत्पन्न होता है। मनुष्य की सौन्दर्यात्मक भावनाएँ उसके साहित्य, संगीत, विद्या और कला में आविष्कृत होती है। लोग भिन्न भिन्न रुचियों, भावों और रसों वाले होते हैं और इसी लिए उनकी रुचियों, भावनाओं और रसों के अनुसार ही उनका साहित्य, संगीत, विद्याएँ और कलाएँ भी हुआ करती हैं। सौन्दर्य की दृष्टि से कलाओं की विशेष आवश्यकता है। इससे समाज में उच्च तथा उदात्त भावनाओं का प्रचार होता है। हमें यहाँ वैयक्तिक तथा कौटुम्बिक सुखों से सम्बन्ध रखनेवाली काम कलाओं अथवा व्यावसायिक कर्म-कलाओं अथवा चित्तहारी ललित कलाओं का विचार नहीं करना है, बल्कि नागरिकों की रहन-सहन की दृष्टि से वास्तु कलाओं का विचार करना आवश्यक है। कुटुम्बों के रहने के लिए घरों और लोगों के रहने के लिए नगरों को तैयार करने और बनाने के सम्बन्ध की जो कला है, उसी को वास्तुकला कहते हैं। यदि घरों और नगरों की रचना उत्तम होगी तो नागरिकों का कौटुम्बिक तथा सामुदायिक जीवन भी सुखदायी होगा।

सौन्दर्य से मनुष्य को सुख और समाधान प्राप्त होता है और उसकी रुचि बढ़ती है। नगरों और घरों के सौन्दर्य के कारण नागरिकों में उच्च भावनाएँ, प्रेरणाएँ और प्रेम उत्पन्न होता है। प्राचीन काल के भी और आजकल के भी अनेक बड़े बड़े नगर अपनी रचना और घरों, मन्दिरों बगीचों, कूपों, मार्गों आदि की बनावट और शैली के कारण बहुत प्रसिद्ध हैं।

नगर-रचना नागरिकों के सुख का प्रमुख साधन है और उसका एक नया शास्त्र ही बन गया है। हमारे यहाँ भी नगर-रचना सम्बन्धी शास्त्र है। उसमें इन सब बातों का बहुत अच्छा विचार किया गया है कि नगर बनाने के लिए जमीन कैसी चुननी चाहिए, उसके लिए नदी की समीपता

और हवा-पानी का कैसा सुभीता देखना चाहिए, रास्तों, बाजारों, मकानों, घाटों, तड़ागों, कूपों, उद्यानों और देवालयों आदि के लिए कैसे स्थान चुनने चाहिएँ और उनकी रचना किस प्रकार करनी चाहिए। यदि नगर की रचना में इन सब बातों का विचार न किया जाय तो नागरिकों के शरीर और आयुष्य पर अनिष्ट परिणाम होता है और उनका व्यापार, यातायात और व्यवहार ठीक तरह से नहीं चल सकता। मनुष्य के आर्थिक, सामाजिक और राजकीय कार्यों के ठीक रूप से संचालन के लिए और आरोग्य आदि की दृष्टि से उसे ठीक अवस्था में रखने के लिए नगर की रचना उचित रूप से होनी चाहिए। इसी प्रकार कौटुम्बिक व्यवहार को सरलतापूर्वक चलाने और रोगों आदि का प्रतिबन्ध करने के लिए घरों तथा नगरों की बनावट उत्तम और सुखावह होनी चाहिए। नगर में बड़े और प्रशस्त राजमार्ग, व्यापार तथा वस्तु-वहन के यथेष्ट साधन, बड़े बड़े उद्यान तथा उपवन, प्रशस्त पण्य-वीथिकाएँ या बाजार, सार्वजनिक कार्यालय, पुस्तकालय, प्रदर्शिनियाँ, वस्तु-संग्रहालय, आरोग्यालय, रुग्णालय, विद्यालय, छात्रालय, व्यवसाय और निवास के लिए मंडियाँ और स्थान, देवालय, नाटकगृह, व्यायाम-भूमि, क्रीडांगण, धर्मशालाएँ, अन्नसत्र, अनाथगृह, अतिथिगृह आदि समाज के लिए सभी उपयोगी बातें, स्थान और सुभीते होने चाहिएँ। नगर-रचना में इन सब बातों का सुभीता होना चाहिए और उसकी बनावट वैज्ञानिक ढंग की और यथाशास्त्र होनी चाहिए। इन सब बातों से नागरिकों की सामुदायिक भावनाओं का पोषण होता है और उनमें समाज भाव की वृद्धि होती है।

नगर की रचना और बनावट में मनुष्य तथा समाज की उच्च भावनाएँ और ध्येय सौन्दर्य रूप में प्रकट होनी चाहिएँ। इससे नागरिक ठीक मार्ग पर लगते हैं, उनके मन और भावनाएँ उच्च रहती हैं और उनकी संस्कृति तथा आकांक्षाओं का पता चलता है। इसके अतिरिक्त यदि ये रचनाएँ करुणा, प्रेम भाव और अध्यात्म सम्बन्धी हों तो इनसे नागरिकों

का जीवन उदात्त होता है। सौन्दर्य की बातें और रचनाएँ मनुष्य में आकर्षण भाव और प्रेम भाव उत्पन्न करती हैं और सामाजिक जीवन की दृष्टि से उनका बहुत उपयोग होता है। यदि मन में समस्त भूतों के प्रति प्रेम भाव उत्पन्न हो तो नागरिक जीवन का उद्देश्य सिद्ध हो जाता है।

प्रत्येक मनुष्य समाज का धन और बल है। इसलिए उसके शरीर, मन और शील का अच्छी तरह पोषण और वर्धन होना चाहिए। उनकी उत्तम स्थिति और सौन्दर्य पर ही समाज का सांस्कृतिक जीवन अवलम्बित है।

दसवाँ प्रकरण

स्थानिक जीवन

प्रत्येक देश में गाँव-देहातों और नगरों के आर्थिक संघटन तथा व्यवहार के भिन्न भिन्न स्वरूप हुआ करते हैं। कसबे अथवा गाँव मुख्यतः आर्थिक आवश्यकता के कारण उत्पन्न होते हैं। वहाँ निवास करनेवाले लोगों के व्यवहार मूलतः आर्थिक प्रकार के होते हैं। वहाँ खेती बारी करनेवाले लोग एकत्र होते हैं और खेती के लिए आवश्यक हल आदि सामान बनानेवाले कारीगरों और खेतिहरों के घर के कामों तथा धर्म सम्बन्धी कामों के लिए आवश्यक दूसरे व्यवसायियों का वहाँ समावेश होता है, इससे उन सब लोगों में गाँव का एक नाता उत्पन्न हो जाता है और आगे चलकर यह सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ तथा घनिष्ठ हो जाता है। गाँववालों का समाज मुख्यतः आर्थिक समाज होता है। यदि गाँव में कई जातियों के लोग बसते हों, तो उनमें सामाजिक सामान्य व्यवहार ही होता है, सामाजिक विशेष व्यवहार नहीं होता। पर यदि एक ही जाति के लोग बसते हों तो उनमें सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकार के व्यवहार होते हैं।

गाँव की अवस्था और खेती-बारी की रक्षा की दृष्टि से वे सब लोग एक दूसरे के कहने के अनुसार आचरण करते हैं। जब वे इस प्रकार का आचरण या व्यवहार करने लगते हैं, तब उनमें कुछ और व्यवहार भी आरम्भ हो जाते हैं और वह गाँव एक घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रदेश बन जाता है। खेती-बारी के कामों के कारण वहाँ खेतिहरों की संख्या अधिक हो जाती है और उनकी खेती की तथा घर की आनुषंगिक आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए कुछ और लोग अथवा कारीगर भी वहाँ कुछ न कुछ होते ही हैं। गाँव के निवासियों में मुख्य तो खेतिहर ही होते हैं और उनके और भी बहुत से सहायक जैसे बढ़ई, लोहार, हज्जाम, धोबी, कोरी, कुम्हार, चमार, धाँगर, भाट, भिक्षुक, ज्योतिषी, वैद्य, कहार, पहरेदार और पटवारी आदि भी रहते है। ये सब लोग खेती-बारी के लिए औजार बनाते और उनकी मरम्मत करते हैं, मकान बनाते हैं, कपड़े बुनते हैं, बरतन बनाते हैं, औषध देते हैं, आरोग्य की व्यवस्था करते हैं, धार्मिक कृत्य करते हैं, शिक्षा देते हैं, शान्ति रखते है, शासन करते हैं, लगान आदि वसूल करते हैं और इसी प्रकार के और भी अनेक दूसरे काम करते हैं। उनके इन सब कामों के बदले में प्राचीन काल मे खेतिहरों की पैदावारों में से उन्हें कुछ अंश मिला करता था। ये सब काम करनेवाले और अधिकारी गाँव की आर्थिक अवस्था को ठीक रखने के लिए आवश्यक होते थे। हमारे देश में इस प्रकार के लोगों की अलग अलग जातियाँ ही बन गई हैं। परन्तु दूसरे देशों में उनका भेद या अन्तर धीरे धीरे नष्ट हो गया है और वे आम समाज में मिल गये हैं।

पहले सभी बड़े बड़े कसबों में हर आठवें दिन हाट लगते थे और इसके लिए सब कस्बों की पारी बँधी थी—यह निश्चित था कि अमुक दिन अमुक स्थान में हाट लगेगा और अमुक दिन अमुक स्थान में। बहुत से स्थानों में अब भी यही बात है। इससे गाँव मे तैयार होनेवाली चीजों का लेन-देन हो जाता है जिससे लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

जातियों की अलग अलग पंचायतें गाँव में रहनेवाली अपनी अपनी जाति को सामाजिक, धार्मिक, व्यावसायिक और शिक्षा सम्बन्धी बातों का नियन्त्रण करती है। उनकी सभाओं में कुटुम्बों के बड़े बूढे लोग सम्मिलित होते हैं। वही लोग जाति, धर्म, कुल और रोजगार के आचार और व्यवहार चलाते हैं। राजकीय बातों से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। ग्राम के आर्थिक संघटन में अवश्य उनका अंग होता है। रोजगार या धन्धे के नियम, उसकी वृद्धि तथा नियमन, माल की तैयारी और परिस्थिति आदि बातों पर पंचायतों को ध्यान रखना पड़ता है। उनके कामों में गाँव के अधिकारियों अथवा ग्राम पंचायत को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं होता था। राजसत्ता गाँव की शान्ति और सुव्यवस्था रखने और न्याय करने के अतिरिक्त गाँव के और किसी काम की ओर ध्यान नहीं देती थी और न उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप ही करती थी। राजसत्ता का उद्देश्य केवल यही होता था कि समाज में सुरक्षितता और सन्तोष का राज्य बना रहे।

प्राचीन काल में गाँव बहुत सी बातों में बिलकुल स्वतन्त्र हुआ करते थे। उनका सारा सम्बन्ध और व्यवहार अपने गाँव के अन्दर ही होता था। गाँव की भूमि पर या तो सबका सामुदायिक स्वामित्व होता था और अलग अलग व्यक्तियों का स्वामित्व भी होता था और गाँव में रहनेवाले कुल उन जमीनों को जोतते-बोते थे। प्रत्येक कुल के रहने के लिए एक मकान और जोतने-बोने के लिए जमीन का एक टुकड़ा होता था। उन दिनों गाँव की सारी शासन-व्यवस्था गाँववालों, उनके अधिकारियों और गाँव की पंचायत के हाथ में हुआ करती थी और गाँव के राजकीय अधिकारियों के हाथ में गाँव के सब राजकीय कार्य (जैसे लोगों की रक्षा, शान्ति, न्याय और कर-ग्रहण आदि) होते थे। वे लोग गाँव में रहनेवाले समाज के सामुदायिक हितों का ध्यान रखते थे। वे केवल शासन के ही काम नहीं करते थे, बल्कि अनेक लोकोपयोगी काम भी किया करते थे। उदा-

हरणार्थ वे आरोग्य, जल-मार्ग, उद्यान, देवालय और जलाशय आदि की भी व्यवस्था और देख-रेख करते थे। गाँव का एक मुख्य अधिकारी होता था जो कहीं मुखिया और कहीं पटेल कहलाता था। न्याय, शासन और रक्षा के सब काम उसी के हाथ में होते थे। उसकी सहायता के लिए कुछ और छोटे अधिकारी भी हुआ करते थे।

गाँव की पंचायत में अनेक जातियों के प्रतिनिधि हुआ करते थे। सभी जातियों के प्रमुख लोग उसमें एकत्र होते थे। वे ग्राम-समाज के पालक समझे जाते थे। उन्हें ग्रामवृद्ध या महाजन कहते थे।

इस जाति-पंचायत और ग्राम-पंचायत के हाथ में ही गाँव के सब कार-बार होते थे जिसके कारण गाँव अपने सब कार्य स्वतन्त्र रूप से करने-वाला एक छोटा सा राज्य ही होता था। जब वह किसी प्रादेशिक अथवा सार्वभौम सत्ता के हाथ में चला जाता था, तब भी उसकी स्वतन्त्रता बहुत से अंशों में ज्यों की त्यों बनी रहती थी। राजसत्ता को कुछ निश्चित कर या मालगुजारी दे देनी पड़ती थी, कुछ राजकीय कार्य कर देने पड़ते थे और राजसत्ता का स्वामित्व मान लेना पड़ता था। बस राजसत्ता के साथ गाँव के प्रत्यक्ष सम्बन्ध का यहीं अन्त हो जाता था। राजसत्ता के हितों का ध्यान रखना मुखिया या पटेल का काम होता था और कभी कभी कोई बड़ा अधिकारी आकर गाँव की व्यवस्था देख जाया करता था; और यह भी देख लेता था कि राजसत्ता जो कुछ चाहती है, वह ठीक तरह से होता है या नहीं। परन्तु आजकल गाँव की यह स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है और आर्थिक, सामाजिक तथा राजकीय दृष्टियों से दूसरे प्रदेशों के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध हो गया है।

नगरों की उत्पत्ति अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हुई है। यद्यपि उसका मूल उद्देश्य धार्मिक, राजकीय और व्यापारिक है, तो भी उसका मुख्य काम यही है कि वह प्रान्तों और नगरों की अनेक आ-वश्यकताओं की पूर्ति करता है। राजसत्ता अथवा धर्मसत्ता के आश्रय में

अनेक प्रकार के व्यवसाय करनेवाले लोग नगर में एकत्र होते हैं और वे स्वयं अपने नगर की तथा आस-पास के प्रदेशों की आर्थिक आवश्यकताएँ पूरी करते हैं। उद्योग धन्धे और कला-कौशल ही नगरों के मुख्य व्यवसाय होते हैं। वहाँ के रहनेवाले इन्हीं सब बातों की वृद्धि करते हैं, माल खरीदते-बेचते हैं और इसी प्रकार के उद्योग तथा व्यापार सम्बन्धी काम करते हैं। ऐसी अवस्था में नगर का महत्व उसके स्थान, उद्योग-धन्धों, कला-कौशल और राजकीय अधिष्ठान अथवा धार्मिक पवित्रता के कारण होता है। वहाँ के निवासियों की अनेक प्रकार की आकांक्षाएँ, पेशे और व्यवसाय होते हैं। उनके सम्बन्ध तथा व्यवहार अधिक पेचीले, कला-कौशल के और प्रौढ़ प्रकार के होते हैं। वहाँ आर्थिक और संरक्षण सम्बन्धी सुभीतों और माल की माँग होने के कारण व्यापारी और कारीगर आकर बस जाते हैं। नगरों के उद्योग-धन्धों और व्यापारों का सम्बन्ध तथा क्षेत्र स्वयं अपने नगर के अन्तर्गत ही नहीं होता। उनका लेन-देन सारे देश से होता है।

प्रत्येक व्यवसाय या व्यापार करनेवालों का एक स्वतन्त्र संघ होता है। एक ही व्यवसाय अथवा व्यापार करनेवाली अनेक जातियों का वह संघ होता है। वह संघ अपने आर्थिक हितों और व्यवहारों का संरक्षण तथा सम्पादन करता है। माल का दाम, प्रकार, पैदावार या तैयारी, नाप, तौल, क्रय-विक्रय आदि बातों का नियमन यह संघ ही करता है। इसके अतिरिक्त वह और भी लोकोपयोगी, दान-धर्म के तथा शिक्षा सम्बन्धी काम भी करता है। वह देवालय, कूप, तड़ाग, धर्मशाला, अन्नसत्र, पाठशाला, मन्दिर, पौंसरे या प्याऊ और पिंजरापोल आदि भी बनवाता है।

इस प्रकार के व्यवसायात्मक संघों के सिवा नगर में सामुदायिक स्वरूपवाली नगर-पंचायत भी होती है और वह नगर के मुख्य सामुदायिक कार्यों का नियमन करती है। उसके सभासद महाजन कहलाते हैं और उनका अध्यक्ष नगरसेठ कहलाता है। यही नगर-पंचायत बाजार, क्रय-विक्रय, हुंडी, कर आदि आर्थिक बातों और शिक्षा, धर्मकार्य, शासन,

आरोग्य, दान-धर्म आदि सामाजिक और संरक्षण सम्बन्धी कार्यों की भी देख-रेख करती थी। कभी कभी उसे राजकीय कार्य करने का भी अधिकार होता था। उसके अनुसार वह नगर की शान्ति, सुव्यवस्था, संरक्षण और न्याय सम्बन्धी कार्यों की भी देख-भाल करती थी। यदि उस नगर में राजधानी होती थी तो वहाँ के संरक्षण सम्बन्धी दूसरे बहुत से कार-बार वहाँ के राज्याधिकारियों के हाथ में रहा करते थे।

नगरों में भिन्न भिन्न वस्तुओं की मंडियाँ होती हैं और वहीं उन्हें बनानेवाली जातियों के लोग रहते हैं। उनके सहवास तथा आर्थिक अन्योन्याश्रय के कारण उनमें नवीन सामुदायिक भाव और समान सामाजिक तथा राजकीय आकांक्षाएँ उत्पन्न होती हैं। इससे उन लोगों में नागरिकता का श्रेष्ठ भाव और एक दूसरे की सेवा तथा सहायता करने की वृत्ति उत्पन्न होती है।

कुछ नगर प्रत्यक्ष रूप से राजसत्ता के अधिकार में हुआ करते हैं। राज्याधिकारी ही वहाँ के समस्त राजकीय कार्यों की देख-भाल करते हैं। दूसरे नगर बहुत से अंशों में स्वतन्त्र होते हैं। उन्हें अपने यहाँ के राजकीय कार्यों की व्यवस्था करने का अधिकार मिला रहता है। नगर की पंचायत अपने महाजनों और नगरसेठ के द्वारा ही समस्त राजकीय कार्यों की व्यवस्था करती थी। वह राजसत्ता को कर तथा दंड या जुरमाना देती थी; और दूसरे जो काम उसे सौंपे जाते थे, वे सब काम वह करती थी। राजसत्ता के बड़े बड़े अधिकारी झगड़े-बखेड़ों में अन्तिम न्याय या फैसला करते थे। राजद्रोह सरीखे बड़े बड़े अपराधों के सम्बन्ध में उन्हीं का अधिकार चलता था और वही न्याय भी करते थे। आजकल नगर-सभा के हाथ में राजकीय अधिकार नहीं होते। वे सब राजसत्ता के अधिकारियों और न्यायाधीशों के हाथ में ही होते हैं।

गाँवों और नगरों सरीखे प्रत्येक स्थानिक समाज में मनुष्यों के सब प्रकार के व्यवहार और सम्बन्ध हुआ करते थे। उसमें शिक्षा, उद्योग-धन्धे,

धार्मिक आचरण, राजकीय कारबार और सामाजिक सम्बन्ध आदि नित्य रूप से हुआ करते थे। वहाँ अन्न-वस्त्र, आयु-आरोग्य, शिक्षा, शील और सहवास-सहकार के भिन्न भिन्न प्रश्न समाज के सामने आते रहते हैं।

प्रत्येक स्थानिक समाज के मुख्य अंग ये हैं—(१) उसमें रहनेवाले लोग, (२) वे स्थल जिनमें लोग रहते हैं, (३) वे संस्थाएँ जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं; (४) उनकी सामाजिक परम्परा और परिस्थिति; और (५) उनके जीवन का सामान्य हेतु। उनके नियम, निर्बन्ध, चाल-ढाल, संस्थाएँ और विश्वास उन्हें एकत्र, एकरूप और एकजीव करते हैं।

प्रत्येक स्थानिक समाज को अपनी स्थिति बनाये रखने और सुधार करने के लिए त्रैवार्षिक अथवा पंचवार्षिक कार्यक्रम निश्चित कर लेना चाहिए। इससे ग्राम, नगर, प्रान्त और देश की ठीक तरह से उन्नति होती है। उसमें नगर के धार्मिक, नैतिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अंगों का विचार होना चाहिए। साथ ही उनकी रक्षा, पोषण, वर्धन और उन्नति या प्रगति की ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। उनके दुःख, दरिद्रता, व्याधियाँ और व्यसन नष्ट करने चाहिएँ। उनमें सहकार, सेवा, एकता और राष्ट्रीय भावों की वृद्धि करनी चाहिए।

स्थानिक समाज और संस्थाओं में मनुष्य को नागरिकता की उत्तम शिक्षा मिलती है। अच्छी नागरिकता ऐसे समाजों में सुसंस्कृत, सहकारी और उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन व्यतीत करना सिखलाती है। इस स्थानिक नागरिकता के पाठ से राष्ट्र की नागरिकता की भी अच्छी शिक्षा मिलती है। उत्तम नागरिक केवल शासन का पालन करनेवाला मनुष्य ही नहीं होता, बल्कि वह अपने स्थानिक समाज के कार्यों में उत्साह तथा कर्तृत्वपूर्वक सम्मिलित होनेवाला मनुष्य भी होता है। इससे उसे अनुभव तथा ज्ञान प्राप्त होता है और स्वयं अपने कर्तृत्व, नेतृत्व तथा कर्त्तव्य की भी अच्छी जानकारी हो जाती है।

स्थानिक कार्यों में मार्गों, पुलों, आरोग्य, जल, प्रकाश, शान्ति, धनहीनों और अकाल पीड़ितों की चिन्ता, ग्राम और नगर की रचना, बनावट और रक्षा, न्याय, शिक्षा, आरोग्य, मनोविनोद और व्यायाम के साधन तथा इसी प्रकार के दूसरे सार्वजनिक काम और उन्हें करनेवाली संस्थाएँ और आलय आदि आते हैं। नागरिकों को अपनी स्थानिक पंचायतें बनानी पड़ती है और प्रान्तीय तथा राष्ट्रीय लोक-सभा के लिए प्रतिनिधि चुनने पड़ते हैं और इसी प्रकार के दूसरे अनेक काम करने पड़ते हैं।

आजकल औद्योगिक क्रान्ति और देश के उद्योग धन्धों के नष्ट हो जाने के कारण हमारे यहाँ के गाँवों की सब प्रकार से दुर्दशा हो गई है। उद्योगी, साहसी, बुद्धिमान् और कर्तृत्ववान लोग गाँवों को छोड़कर शहरों में चले जाते हैं जिससे गाँव उजाड़ होते जा रहे हैं। वहाँ का जीवन नष्ट-भ्रष्ट, दुःखी और कष्टपूर्ण हो गया है और ग्राम पंचायतों का नाश हो जाने के कारण लोगों में एकता और सहकार की कमी हो गई है और कलहप्रियता, आलस्य तथा निराशा की वृद्धि हो गई है। उनमें नेता भी बहुत कम हो गये हैं।

आजकल ग्रामों का उद्धार करना बहुत ही आवश्यक हो रहा है। इस समय अपने ग्रामों की रक्षा करना मानों अपने देश के अन्न-वस्त्र की रक्षा, सम्पादन और संवर्धन करना है और देश के बहुजन-समाज के जीवन तथा सुख के साधनों का संरक्षण करना है। इस समय ग्राम की भूमि ही राष्ट्र की मुख्य सम्पत्ति है। यदि ग्रामों के संघटन की अच्छी योजना की जायगी, तभी उनका उद्धार होगा। ग्राम-संघटन करना मुख्यतः सरकार का कर्त्तव्य है। न तो बिना उसकी सत्ता और सहायता के ग्रामों का संघटन स्थायी ही हो सकता है और न सब प्रकार से ग्रामों का उद्धार ही हो सकता है, परन्तु सत्ता की सहायता और सहारा न होने पर भी इस समय जनता के नेताओं को यह काम करना चाहिए और इसके

लिए अपने नेतृत्व में ग्रामसेवक नियुक्त करके ग्राम के सभी अंगों का सुधार करना चाहिए।

ग्रामीणों का सुख, सम्पत्ति और बल बढ़ाना बहुत ही आवश्यक है। इसके लिए मुख्यतः साक्षरता, उद्योगप्रियता, आरोग्य और कलाओं की अधिक शिक्षा देना बहुत ही जरूरी है। साथ ही उनके लिए उद्योग-धन्धों की व्यवस्था होनी चाहिए; ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिसमें और लोगों के साथ उनका व्यवहार और सम्बन्ध बढ़े और गाँव के सभी कामों में सहायता देनी चाहिए और इन सब बातों के सम्बन्ध में उन्हें उचित ज्ञान भी करा देना चाहिए। यदि ग्रामों में अन्न-वस्त्र, व्यवसाय, रहने के सुभीते और मनोविनोद के साधनों की व्यवस्था हो जाय तो काम करनेवाले और बुद्धिमान् लोगों का ग्राम छोड़ कर नगरों में जाना कम हो जायगा।

हमारे यहाँ के गाँव यद्यपि कृषि-प्रधान हैं, तो भी उन्हें उन्नत और सम्पन्न करने के लिए कृषि के साथ कुछ उद्योग-धन्धों का होना भी आवश्यक है। उद्योग-धन्धों के संयोग से ही गाँवों की आर्थिक स्थिति ठीक हो सकेगी। नहीं तो वहाँ के अच्छे अच्छे आदमी निकल जायँगे और केवल गुंडे, बदमाश, झगड़ालू, कर्जखोर और मुकदमे लड़ने-भिड़नेवाले लोग ही बढ़ते जायँगे। इस समय भी गाँवों मे इसी प्रकार के लोगों की बराबर प्रबलता हो रही है। उन्हे व्यवसाय करने के लिए यथेष्ट काम नहीं मिलते और न सार्वजनिक कार्यों का उन पर उत्तरदायित्व ही होता है। इससे गाँवों में रहनेवाले खेतिहरों, मजदूरों और कारीगरों की उत्पन्न करनेवाली शक्ति और उत्साह का ह्रास हो रहा है और उनकी कार्य क्षमता व्यर्थ नष्ट होती जा रही है। इससे उनकी शक्ति और क्षमता न तो बढ़ती ही है और न ज्यों की त्यों ही बनी रहती है।

ग्राम संघटन और ग्रामोद्धार में स्वराज्य की ही नींव और स्वराज्य का ही शिखर है। बिना स्वराज्य के न तो ग्रामों का संघटन हो सकता है और

न सुधार। ग्रामों में रहनेवाला प्रत्येक व्यक्ति साक्षर, शिक्षित, नीरोग, कार्यक्षम, उद्योगी और धनवान होना चाहिए। उन पर बलपूर्वक जो अकर्मण्यता लादी गई है और उन्हें बेकार बैठे रहने के लिए जो विवश किया गया है, उसका अन्त होना चाहिए। उन्हें अपने सब स्थानिक कार्य अच्छी तरह करने की सन्धि और अधिकार मिलना चाहिए। तभी वह अपने नागरिकता के अधिकारों और कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन कर सकेंगे।

इसके साथ ही गाँववालों को यह भी सिखलाया जाना चाहिए कि खेती-बारी की उचित रक्षा, सम्पादन और संवर्धन किस प्रकार किया जाता है। खेती की पैदावार पर ही सब लोगों को अन्न-वस्त्र अवलम्बित है। खेतिहरों को उनके परिश्रम और व्यय का वाजिब बदला मिलना चाहिए। सम्पत्ति के विनिमय और विभाग में उन्हें उचित अंश मिलना चाहिए। उनके आवागमन और वस्तु-वहन के साधन बढ़ने चाहिएँ और उन्हें दूसरे धन्धों तथा कलाओं का ज्ञान होना चाहिए और दूसरे काम करने की संधि मिलनी चाहिए। इस प्रकार की योजना से उन लोगों को अन्न-वस्त्र, गृह, आरोग्य, शिक्षा, शील, धर्म, व्यवसाय, मनोविनोद, श्रमापहार, दूसरों के साथ मेल-जोल और सहवास आदि की दृष्टि से सुख मिलेगा।

आजकल नगरों का महत्व आर्थिक दृष्टि से बहुत बढ़ गया है। आज-कल नगरों में उद्योग-धन्धे, व्यापार, मंडियाँ, कम्पनियाँ, राजकीय कार्य, शिक्षा देनेवाली संस्थाएँ और दूसरे बहुत से साधन तथा संस्थाएँ होती हैं। इससे सामाजिक जीवन में नये महत्व के संघटन हुए हैं और नये नये प्रश्न उपस्थित हुए हैं। नगरों में बहुत अधिक लोग निवास करते हैं जिनमें देशी और परदेशी सभी होते हैं। साथ ही वहाँ अनेक प्रकार के उद्योग-धन्धे और व्यापार, संघ तथा संस्थाएँ, तरह तरह के कार बार, मनोविनोद के साधन, सुख-शान्ति और विश्रान्ति के लिए स्थान आदि होते हैं जिनके कारण आरोग्य, हवा-पानी, प्रकाश, रहने के घरों, मेल-जोल और सम्बन्ध की अधिकता, अपराध, दरिद्रता, अनीति आदि के बहुत से

विकट प्रश्न उत्पन्न हो गये हैं। विशेषतः आरोग्य और रहने के घरों के प्रश्न तो इतने विकट हो गये हैं कि इन पर विशेष ध्यान देने और इनकी व्यवस्था करने की आवश्यकता है। नगरों में मृत्यु, आयुष्य और जनन के परिमाण भी बहुत से अंशों में इन्हीं बातों पर अवलम्बित हैं।

यान्त्रिक और औद्योगिक उन्नति के कारण तथा पारस्परिक व्यवहार और व्यापार की वृद्धि के कारण नगरों में लोक-संख्या बहुत बढ़ गई है। वहाँ काम और वेतन मिलता है, रहने के लिए स्थान मिलता है और साथ ही और भी कई तरह के सुभीते होते हैं जिससे लोग वहाँ बहुत अधिक संख्या में पहुँचते हैं। साधारणतः नगरों का निवास गाँवों के निवास की अपेक्षा अच्छा समझा जाता है और नगरों में रहना ही लोग प्रतिष्ठा की बात समझते हैं; पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो नगरों में अच्छी बातों के साथ साथ बुरी बातें भी बहुत अधिक होती है। वहाँ व्याधि, व्यसन, व्यभिचार, विहार, अनीति, झगड़े, मार-पीट, अपराध, अपघात और आत्मघात आदि का परिमाण भी बहुत अधिक होता है।

ऐसी अवस्था में नगरों के अधिकारियों और जनता को इस बात की ओर पूरा पूरा ध्यान देना चाहिए कि नागरिकों का जीवन उत्तम और सुखपूर्ण हो। नगर-रचना और नगर-सुधार की योजनाएँ और कार्य-क्रम बनने चाहिएँ। आजकल नगर ही मुख्यतः सब प्रकार के मानवी संघटनों, व्यवहारों, कार्यक्रमों, योजनाओं, आकांक्षाओं, व्यापारों और सम्बन्धों के आलय, आगर और स्थान हो रहे हैं। वहीं मनुष्यों के सामुदायिक जीवन के प्रश्नों का निर्णय होता है और वहीं समस्त भौतिक शास्त्र, सब प्रकार के धर्म और ज्ञान अपने निष्कर्ष, वचन, आज्ञा और दृष्टि से, अपना अपना प्रयोग और उपयोग करते हैं।

जिस समाज में राजकीय अधिकार कुछ थोड़े से व्यक्तियों में ही विभक्त होते हैं, और वे अधिकार बराबर वंशानुक्रम से चलते रहते हैं, ऐसे समाज को सरदार तन्त्री या सरंजामी कहते है। ऐसे व्यक्ति राज्य की

जो सेवा करते हैं, उसके बदले में उन्हें देश में कुछ जमीन और कुछ अधिकार पुरस्कार-स्वरूप मिल जाते हैं, जिनका भोग उनके वंशज बराबर करते रहते हैं। इस प्रकार के जमींदार और अधिकार-प्राप्त लोग बहुत से देशों में बड़े और प्रतिष्ठित माने जाते हैं और बहुत मजे में रहते हैं। उनके हाथों में आर्थिक सम्पत्ति, राजकीय अधिकार और सामाजिक प्रतिष्ठा रहती है जिससे राजसत्ता भी उनका अधिक सम्मान करती है और वे लोग राजसत्ता के आश्रय में रहते हैं। इससे बहुत से स्थानों में उनके अधीन रहनेवाले लोगों पर उनका बहुत कुछ अत्याचार और जबरदस्ती होती है और गरीब खेतिहरों और दूसरे लोगों का उनके हाथ से छूटना प्रायः असम्भव होता है। उनके अधिकार वंशानुक्रमिक होते हैं और छीने नहीं जा सकते, इसलिए बहुत सी बातों में उनका व्यवहार बहुत ही बुरा होता है। इसलिए समाजसत्तावादियों ने ऐसे लोगों का उत्पाटन या समूल नाश करना ही समाज-सुधार की पहली सीढ़ी मान लिया है। अल्पसंख्यक स्वार्थी और दुष्ट प्रवृत्तिवाले लोगों के हाथों में जो सम्पत्ति रुकी हुई है और जिसे उन्होंने अपने हाथ में दबा रखा है, वह इस व्यवस्था से उनके हाथ निकल आवेगी और तब उसका उचित विभाग होगा जिससे सभी काम करनेवाले और उद्योगी मनुष्य उनका उचित उपभोग कर सकेंगे।

इसी प्रकार अनेक स्थानों पर धर्माधिकारियों के हाथ में भी बहुत सी सम्पत्ति और सत्ता एकत्र हो गई है। लोकहित की दृष्टि से उनके हाथ से वह सम्पत्ति छुड़ाने का भी प्रयत्न हो रहा है। अब इस प्रकार के भी कुछ मत प्रचलित हो गये हैं कि यदि महन्त और उनके मठ आदि केवल धार्मिक और उपदेशात्मक रहें, तब तो ठीक है; और यदि वे केवल भोग-विलास में ही रत रहें, तो उनका भी उच्चाटन कर देना चाहिए।

इस जागीरदारी और जमींदारी की प्रथा के कारण दूसरे स्थानिक लोग बहुत ही बुरी दशा को पहुँच गये हैं। वे लोग अनेक प्रकार के

आर्थिक, सामाजिक और राजकीय बन्धनों से बँध गये हैं। जागीरदार और जमींदार लोग अपनी सम्पत्ति और धरोहर का इस दृष्टि से उपभोग नहीं करते कि हम समाज के पालक, नेता और सेवक हैं। जहाँ जहाँ इस प्रकार की प्रथा प्रचलित है, वहाँ वहाँ का स्थानिक अनुभव बतलाता है कि यह प्रथा ठीक नहीं है और इससे बहुत खराबियाँ होती हैं। आजकल मुफ्तखोरों, उद्योग न करनेवालों और नीतिघातक लोगों का कोई उपयोग नहीं है। आजकल के समाज उत्तराधिकार और स्वामित्व का अधिकार तथा सिद्धान्त मानते हैं, इसी लिए ऐसे लोगों की इस समय प्रतिष्ठा है। पर ऐसे लोगों में समाजहित का कुछ भी ज्ञान या ध्यान नहीं है और इसी लिए ये लोग समाज के शत्रु हो गये हैं। उनके अस्तित्व के कारण समाज में असन्तोष और कलह का प्रसार हो रहा है। ऐसी अवस्था में हम लोगों को इस परिस्थिति का सुधार करना चाहिए। ऐसे लोगों की नीति और परोपकार बुद्धि बढ़ानी चाहिए अथवा उनके अधिकारों में कमी करनी चाहिए। ऐसे लोग नये समाजसत्तावादियों से बहुत डरते हैं।

स्थानिक जीवन का सार्वजनिक आरोग्य के साथ बहुत सम्बन्ध है। लोगों का शारीरिक आरोग्य और आयुष्य उत्तम रहनी चाहिए। इसके लिए अन्न-वस्त्र, हवा-पानी, व्यायाम और विश्रान्ति, घर और व्यवसाय अच्छे होने चाहिएँ। साथ ही लोगों के घरों और गाँवों में आरोग्य और स्वच्छता होनी चाहिए। इससे उनकी आयुष्य बढ़ेगी, उन्हें व्यथाएँ और व्याधियाँ नहीं घेरेंगी, उनकी वृत्तियाँ उल्लसित रहेंगी और उनके सब कार बार अच्छी अवस्था में रहेंगे। शरीर के आरोग्य के लिए गाँवों की स्वच्छता या सफाई की विशेष आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति को ऐसे ढंग से रहना चाहिए जिसमें उसका मकान और गाँव स्वच्छ तथा आरोग्यदायी बना रहे। अपने गाँव को भी एक प्रकार से अपना कुटुम्ब ही समझना चाहिए और स्वच्छता तथा आरोग्य के सब नियमों का पालन करना

चाहिए। पाखाने, कूड़े-करकट, नाली, मोरी, हवा-पानी, जलाशय, सड़क, गली, घर की बनावट, दुर्गन्ध, थूक, मूत्र, मल, कफ, गोबर और वमन आदि के सम्बन्ध में स्वच्छता और आरोग्य की दृष्टि से विशेष सावधान रहना बहुत ही आवश्यक है।

नागरिक केवल उत्तम आर्थिक अथवा राजकीय दशा में ही सुखी नहीं रह सकते, बल्कि उनका सच्चा सुख शरीर के आरोग्य और आयुष्य की वृद्धि में है। अकाल-मृत्यु, शारीरिक कृशता और व्यथाओं तथा व्याधियो के कारण मनुष्य का जीवन दुःखपूर्ण और असह्य हो जाता है और उसका बुरा फल कुटुम्ब और समाज को सब प्रकार से भोगना पड़ता है।

गाँवों की अपेक्षा नगरों में आरोग्य की व्यवस्था है तो अधिक कठिन, पर साथ ही अधिक आवश्यक भी है। वहाँ लोक-संख्या बहुत अधिक होती है, अस्वच्छता अधिक बढ़ती है और रोग आदि बहुत जल्दी फैलते हैं। नगरों मे मकान भी बहुत पास पास बने होते है जिससे वहाँ की आब-हवा बहुत जल्दी खराब हो जाती है, बहुत सा कूड़ा-करकट और सड़ी-गली चीजें जमा हो जाती हैं और चारों तरफ फैलती है जिससे उस स्थान और वहाँ के निवासियों का आरोग्य बिगड़ जाता है।

इसके लिए लोगों को आरोग्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की शिक्षा देनी चाहिए और तत्सम्बन्धी नियमों का बहुत कठोरतापूर्वक पालन करना चाहिए। नगर-सभा और अधिकारियों को आरोग्य-रक्षा सम्बन्धी अपने कठोर कर्त्तव्य का पालन बहुत तत्परतापूर्वक करना चाहिए और इसमें रिश्वत आदि लेकर किसी के साथ रिआयत नहीं करनी चाहिए। अनजान और लापरवाह आदमियों को शिक्षा, व्याख्यान और प्रदर्शन आदि के द्वारा इस सम्बन्ध की सब बातों की पूरी जानकारी करा देनी चाहिए और सब लोगों से आरोग्य सम्बन्धी नियमों का पालन कराना चाहिए; और जो लोग उन नियमों का ठीक तरह से पालन न करें, उनको कठोर दंड देना चाहिए। जब इस प्रकार की सख्ती की जायगी, तभी समाज

का वैयक्तिक और सामुदायिक आरोग्य स्थिर रह सकेगा। साथ ही समाज के सुशिक्षित और परोपकारी लोगों तथा समाजसेवकों को उचित है कि वे सदा लोकमत को इसके अनुकूल करने का प्रयत्न करते रहें। प्राचीन काल की जो आरोग्यघातक रीतियाँ, प्रणालियाँ और विश्वास आदि हैं, उन्हें नष्ट करने का बराबर उद्योग करते रहना चाहिए।

समाज के आरोग्य और व्यक्तियों की दीर्घायु में ही उसकी रहन-सहन और संस्कृति दिखाई पड़ती है। रोगी आदमियों, रोग उत्पन्न करनेवाली आब हवा, रोग उत्पन्न करनेवाली दूसरी बातों और अकाल-मृत्यु के अधिक परिमाण आदि बातों का प्रतिबन्ध करना सब लोगों का और लोकसत्ता का सबसे पहला कर्त्तव्य है। औषधालय और स्नानालय स्थापित करना और रोगों के सम्बन्ध में जाँच करनेवाली संस्थाएँ स्थापित करना, हर गाँव में वैद्य नियुक्त करना, आरोग्य सम्बन्धी नियम आदि बनाना, गाँवों का सुधार और सफाई करना, आरोग्य सम्बन्धी प्रदर्शिनियाँ करना, व्याख्यानों और चित्रों के द्वारा लोगों को इस सम्बन्ध की बातों का ज्ञान कराना और उन्हें उपदेश देना, आरोग्य को बनाये रखनेवाली बातों की चर्चा करना, आरोग्य सम्बन्धी शालाएँ और मंडल स्थापित करना, आरोग्य सम्बन्धी देख रेख करनेवाले अधिकारी और सेवक आदि नियुक्त करना, आरोग्य सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुसार प्रत्येक गाँव की भावी रचना निश्चित करना और धीरे धीरे उन्हें काम में लाना, आदर्श मकान, रास्ते और रहन-सहन लोगों को दिखलाना, परिचारकों का वर्ग तैयार करना आदि आदि अनेक काम ऐसे हैं जो लोक-संस्थाओं और राज-संस्थाओं को करने चाहिएँ। तभी नागरिक जीवन सुखावह हो सकेगा, लोगों की आयुष्य में वृद्धि होगी और वे पूर्णायु भोग कर अपना जीवन सार्थक कर सकेंगे।

ग्यारहवाँ प्रकरण

राजकीय जीवन

मनुष्य के लिए राजकीय जीवन आवश्यक है। राजसत्ता के द्वारा उसे शान्ति और स्वस्थता, स्वतन्त्रता और सुस्थिति प्राप्त होती है और इन बातों की रक्षा होती है। राज्य मुख्यतः मनुष्य-समाज की रक्षा और सुव्यवस्था के लिए उत्पन्न होते हैं और आगे चलकर लोगों की स्वतन्त्रता तथा कल्याण-साधन का काम करते हैं। ये सब काम वे लोगों में सह-कार्य उत्पन्न करके निर्बन्ध, शासन और न्याय के रूप में करते हैं। वे मनुष्य के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की रक्षा करते हैं। केवल यही नहीं, वे लोगों के लिए अनुकूल परिस्थिति का निर्माण करते हैं और उनके व्यापक हितों का ध्यान रखते हैं।

"राज्य" (State) शब्द आजकल सुसंघटित समाज के राजकीय स्वरूप के लिए प्रयुक्त होता है। राज्य का अर्थ वह लोक-समाज है जो राजकीय हेतुओं की सिद्धि के लिए किसी विशिष्ट प्रदेश में एकत्र और संघटित होता है। "राजकीय हेतु" का अर्थ मुख्यतः लोगों और उनके प्रदेश की रक्षा करना और उनकी स्वस्थता तथा स्वतन्त्रता को बनाये रखना है। राज्य का संघटन और शासन-व्यवस्था इसी दृष्टि से होती है। वे अपने यहाँ के लोगों के सार्वजनिक तथा सार्वत्रिक हितों का सदा पूरा ध्यान रखते हैं। वे साधारणतः अपने प्रदेशों में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति पर नियन्त्रण रखते हैं और उसके व्यवहारों का नियमन करते हैं।

राज्य के आधार भूत अंग इस प्रकार हैं—(१) लोक या जनता; (२) प्रदेश; (३) ऐक्य-भावना; (४) स्वतन्त्रता की भावना; और (५) संघटन। राज्य शब्द में मुख्य कल्पना जाति, धर्म, भाषा अथवा संस्कृति सम्बन्धी नहीं है, बल्कि वह एक विशिष्ट मनुष्यवती भूमि पर

अधिकार रखनेवाली और शासन करनेवाली सत्ता सम्बन्धी है। जो लोग उस राज्य में रहते हैं, वे उस सत्ता के द्वारा आत्म रक्षा करने और स्वतन्त्रता, शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए वहाँ एकत्र होते और साथ मिलकर रहते हैं। राज्य में मुख्यतः प्रादेशिक और राजकीय कल्पना है और उसमें मनुष्य के भिन्न भिन्न कार्यों और कार्यक्षेत्रों की व्यवस्था करनेवाली एकसूत्री और परस्पर उपकार करनेवाली राजकीय संस्थाओं का अन्तर्भाव होता है।

राज्य के उद्देश्यों की पूर्ति, सब प्रकार के कार-बार और शासन राज्य-तन्त्र करता है। राज्यतन्त्र राज्य का अनुशासन मंडल होता है। उसमें किसी एक अथवा अनेक अधिकारियों की मुख्य सत्ता होती है। उसी एक अथवा अनेक अधिकारियों के हाथ में राज्य के नियामक, निर्णायक और नियन्त्रणात्मक कार-बार सौंपे हुए रहते हैं। राज्यतन्त्र के सब कार्य करनेवाले अनेक अंग और संस्थाएँ होती हैं।

राज्य का स्वरूप भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों ने भिन्न भिन्न प्रकार का बतलाया है। किसी ने उसे निर्बन्ध या कानून बनानेवाली और शासन करनेवाली सत्ता कहा है; किसी ने उसे जनता को शिक्षा देनेवाली संस्था बतलाया है और किसी ने यह कहा है कि वह सब से श्रेष्ठ और स्वतन्त्र इच्छा शक्तिवाली, दैवी प्रेरणा से युक्त और कल्याण का साधन करनेवाला संघटन है। इनमें से प्रत्येक लक्षण के प्रवर्त्तकों ने ऐतिहासिक अथवा तात्विक आधार पर अपने अपने लक्षण की चर्चा करके उसका पूर्ण समर्थन किया है। परन्तु यदि हम भिन्न भिन्न ऐतिहासिक परिस्थितियों में राज्य-संस्था की परीक्षा करें, तो हमें यह पता चलेगा कि इनमें से प्रत्येक लक्षण राज्य के पूर्ण स्वरूप के किसी एक ही अंग को प्रधान मानकर किया गया है।

आजकल जीवन के सभी कार्यों और व्यवहारों पर राजनीति की प्रधानता स्थापित हो गई है; और राजसत्ता को अन्तिम निर्बन्ध-प्रणेता

और दंडधर का स्थान तथा अधिकार प्राप्त हुआ है। प्राचीन काल में राजसत्ता केवल सुव्यवस्था बनाये रखनेवाली संस्था मानी जाती थी। उसे निर्वन्ध (कानून) और व्यवहार के नियम बनाने का कोई अधिकार नहीं था। निर्वन्ध या कानून या तो कुछ खास और अलग आदमी बनाते थे और या कुछ ऐसे निर्वन्ध होते थे जो परम्परा से चले आते थे; और राज्य-संस्था को केवल उन्हीं बने हुए नियमों और निर्वन्धों के अनुसार सब काम करने पड़ते थे; और जो लोग समाज की व्यवस्था और नियमों आदि का पालन नहीं करते थे, उन्हें दंड देने का अधिकार राजसत्ता को हुआ करता था। कुछ समय तक राजसत्ता का अधिष्ठान केवल बल पर हुआ करता था, जनता की सम्मति पर उसका उतना आधार नहीं होता था। कुछ ऐसे अवसर भी हो चुके हैं, जब कि उसे जनता की सम्मति का तो सहारा मिलता था, पर साथ ही वह अपने बल का भी उपयोग कर सकती थी। कभी उसके पोषणात्मक और शिक्षणात्मक स्वरूप को महत्व दिया जाता था तो कभी उसके प्रतिबन्धात्मक और संरक्षणात्मक कार्य मान्य किये जाते थे। कुछ लेखकों ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य में रहनेवाले व्यक्तियों से भिन्न राज्य का स्वतन्त्र व्यक्तित्व है और इच्छा-शक्ति रखनेवाले तथा सेन्द्रिय पदार्थों के साथ उसका साम्य है। और इस प्रकार उसका स्वतन्त्र तथा संघटनात्मक व्यक्तित्व माना है। कुछ और लेखकों ने उसे व्यक्तियों को एकत्र करने, उनकी शक्ति को एक में मिलाने और उनकी इच्छा पूरी करने का साधन मात्र माना है। कुछ ऐसे तत्वज्ञ भी हैं जो यह मानते हैं कि राज्य एक ऐसी संस्था है जिसमें लोगों की व्यक्तिगत इच्छा से भी बढ़कर और बड़ी इच्छा है और वह अत्यन्त सद्गुणी तथा न्यायी, सर्वोत्तम तथा सर्वोच्च, अनियन्त्रित इच्छा शक्ति रखनेवाली, अतिमानुष और समष्टि रूप संस्था है। ऐसे लोग यह भी मानते हैं कि व्यष्टि रूपी व्यक्ति गौण हैं और उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व या महत्व नहीं है। कुछ और विद्वान ऐसे हैं जो

यह कहते हैं कि राज्य केवल कार्यों का संपादन करने के लिए स्थापित एक मंडल या योजना है और अपनी संयोजक, नियामक तथा शासनात्मक शक्ति के आधार पर सामाजिक एकता बनाये रखने का एक साधन है। इस प्रकार भिन्न भिन्न कालों में राज्य के स्वरूप के भिन्न भिन्न लक्षणों की प्रधानता मानी गई है अथवा लेखकों के अनुभव या प्रवृत्ति के अनुसार उन्हें महत्व प्राप्त हुआ है।

इस सम्बन्ध में भी भिन्न भिन्न मत हैं कि राज्य साध्य है अथवा साधन। बिना राज्य के मनुष्य समाज ठहर नहीं सकता। राज्य ही समाज के जीवन-क्रम और रक्षा का प्रधान साधन है। इसलिए अच्छे राज्य का होना मनुष्य समाज के लिए आवश्यक है। तो भी राज्य उसका मुख्य साध्य नहीं हो सकता। यद्यपि मनुष्य-समाज को आदर्शभूत राज्य की आवश्यकता होती है, तो भी यह बात नहीं है कि वह राज्य की सत्ता से ही सद्गुण-सम्पन्न और उदात्त होता हो। मनुष्य के अनेक पुरुषार्थ हैं और वे राज्य-संस्था के सिवा और संस्थाओं तथा सम्बन्धों के द्वारा भी प्राप्त होते हैं। राज्य तो समाज का एक अंग और शक्ति है और उसकी रक्षा तथा नियन्त्रण का एक कार्य है। समाज का उद्देश्य मनुष्यों के हितों की रक्षा करके उसके गुणों और इच्छाओं का उत्कृष्ट परिपोषण करना है। ऐसी अवस्था में समाज कभी राज्य का केवल एक गौण घटक बनकर नहीं रह सकता। यदि राज्य को अन्तिमतः मनुष्य की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान दिया जाय तो उसकी व्यक्ति विशिष्टता और आत्मिक अथवा नैतिक स्वतन्त्रता नाम मात्र को ही रह जायगी और उसका आचरण तथा व्यवहार बिलकुल एक निश्चित और बँधे हुए स्वरूपवाला और विवेकशून्य हो जायगा। स्वयं मनुष्य ने ही स्थल, काल और कार्य के अनुसार जिन संस्थाओं का निर्माण किया है, उनकी अपेक्षा वह स्वयं कहीं अधिक श्रेष्ठ है। संस्थाएँ मनुष्य के लिए हैं, मनुष्य संस्थाओं के लिए नहीं है।

राज्य (State) और राष्ट्र (Nation) दोनों समानार्थक संज्ञाएँ नहीं हैं। राज्य किसी विशिष्ट क्षेत्र की मर्यादा से निबद्ध, संघटित और स्वतन्त्र लोक-समाज का केवल राजकीय स्वरूप है; संसार के राजकीय व्यवहारों में उसका स्वतन्त्र और नित्य स्थान तथा मान है।

राष्ट्र किसी सुसंघटित लोक समाज का राजकीय, सांस्कृतिक और नैतिक स्वरूप है। उसमें स्वतन्त्र और समान एकता की भावना होती है। उसका गत इतिहास, वर्त्तमान जीवन और भावी आकांक्षाएँ एक विशेष प्रकार की हुआ करती हैं। राष्ट्र वस्तुतः ऐतिहासिक और नैतिक दोनों रीतियों से बना हुआ एकात्मक संघटन है। ऐतिहासिक दृष्टि से राष्ट्र की रक्षा और पोषण उसके आर्थिक, राजकीय और बौद्धिक संघटन के द्वारा होती है। जब बहुत से लोग एक स्थान में रह कर और एक साथ मिलकर कुछ परिश्रम या कार्य करते हैं, एक ही प्रकार की आशाओं और आकांक्षाओं का भोग करते हैं, साथ ही मिलकर सुख-दुःख भोगते हैं और परीक्षाएं तथा प्रसंग देखते हैं, तब उन लोगों की एकराष्ट्रीयता की भावना दृढ़ होती है। अपने प्राचीन इतिहास के कारण उन लोगों में जो आत्मीय भावना उत्पन्न होती है, वही उन का सच्चा नैतिक बन्धन और बल होता है। यदि राष्ट्र बहुत सी बातों में एक भावनात्मक सत्य है तो राज्य व्यावहारिक सत्य है।

केवल वंश, धर्म, भाषा, देश अथवा सत्ता की एकता अथवा समानता पर ही संघटित राष्ट्र की रचना नहीं होती। इन सब बातों से राष्ट्र की रचना में सहायता तो अवश्य मिलती है, परन्तु इन सब बातों को हम राष्ट्र का मुख्य अथवा मूल लक्षण नहीं कह सकते। यदि इन सब बातों के रहते हुए भी किसी राष्ट्र के लोगों में एकता की समान भावना और नीति तथा एकत्र सहवास और सहकार की पिछली स्मृतियाँ, वर्त्तमान प्रसंग और नवीन आकांक्षाएं न हों, तो उनमें राष्ट्रीय भावना और संस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। इस प्रकार के नैतिक और मानसिक बन्धन-स्थल के सान्निध्य,

ऐतिहासिक उलट-फेर और ध्येयों की एक-रूपता से उत्पन्न होते हैं। सच्चा राष्ट्र-बन्धन और राष्ट्र बल वास्तव में राष्ट्र में रहनेवाली समान हित की भावना, एक साथ मिलकर भोगे हुए सुख-दुःख और सब लोगों पर समान रूप से आनेवाले प्रसंगों और परिस्थितियों के द्वारा प्राप्त होता है। राष्ट्र के लोगों में इस प्रकार की उत्कट भावना होनी चाहिए कि हम सब लोग पहले भी एक थे, अब भी एक हैं और आगे चलकर भी एक ही रहेंगे।

आजकल राष्ट्र ऐसे लोगों का समाज समझा जाता है जिन्हें अपनी प्रादेशिक और राजकीय एकता का ज्ञान होता है, जिनमें एक साथ मिलकर रहने की समान प्रबल इच्छा और रुचि होती है और जो एक साथ मिलकर उन्नति करना चाहते है। राष्ट्र के मुख्य लक्षण इस प्रकार हैं—(१) एक प्रदेश; (२) एक-राज्यतन्त्र; (३) एकता की भावना; (४) स्वतन्त्रता की भावना; (५) समानता की नीति; (६) देश-प्रेम; और (७) विशिष्ट दृष्टि तथा ध्येय।

राष्ट्र अथवा राज्य में जो लोग रहते हैं, वे एक ही जाति, एक ही धर्म अथवा एक ही भाषावाले नहीं होते। किसी विशिष्ट क्षेत्र में एकता अथवा आपसदारी की भावना से एक साथ रहनेवाले सभी लोग राष्ट्र अथवा राज्य की जनता मे होते हैं। वही उस राज्य की प्रजा होते हैं।

जिस देश में हम और हमारे पूर्वज उत्पन्न हुए और पले हों और जहाँ हमारे पुत्र पौत्र आदि जन्म लेने, पलने और रहने को हों, वही हमारा स्वदेश है। जहाँ हमें अन्न-वस्त्र, हवा-पानी, घर-बार, औषध और सुख मिलता हो और जहाँ हमारा व्यवसाय, व्यवहार, श्रम और साहस होता हो और आशाएँ तथा आकांक्षाएँ सुगमतापूर्वक पूरी होती हों, वही हमारा स्वदेश है। स्वदेश केवल भौगोलिक कल्पना अथवा रचना नहीं है। वह हमारे पूर्वजों की अनेक पीढ़ियों और उनके नेताओं का निर्माण किया हुआ एक मानसिक और नैतिक संघटन है। वह देश की नैसर्गिक सीमा, उर्वरता और सम्पत्ति तथा मनुष्य-निर्मित सत्ता, स्वतन्त्रता,

संघटन, सहकार और संस्कृति सब का एकत्र और संकलित फल है। जिस प्रदेश में एक ही प्रकार की आर्थिक और राजकीय घटनाएँ होती हैं और जहाँ एक ही प्रकार की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक भावनाओं से निबद्ध लोग रहते हैं, वहीं उन लोगों का स्वदेश होता है।

जिस प्रकार स्वदेश हमारा और हमारे पूर्वजों का है, उसी प्रकार वह हमारे वंशजों का भी है और रहना चाहिए। उसकी रक्षा, उसमें रहनेवालों का स्वास्थ्य-संपादन, पोषण और सुख-वर्धन प्रत्येक पीढ़ी के हाथों होना चाहिए। हमारे सब प्रकार के उपभोग और आवश्यकताएँ वहीं पूरी होती हैं, हमारे पूर्वजों के बड़े बड़े कार्यों की स्मृतियाँ और स्मारक वहीं बने हुए होते हैं और हमें प्रोत्साहित करते हैं। हमारी कलाओं, विद्याओं और शास्त्रों का उद्गम स्थान और निवास-भूमि वही है। वह वंश-परम्परा से चली आई हुई हमारी आर्थिक, नैतिक और आध्यात्मिक मीरास, मिल्कियत और धरोहर है। हमें उसकी स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा की रक्षा करनी चाहिए और उसकी वृद्धि तथा सुधार करना चाहिए। उसकी स्वतन्त्रता, बड़प्पन और बलिष्टता के कारण ही संसार में हमारा स्थान और मान है।

स्वदेशी और स्वदेश की प्रीति, अपने देश की सीमा, सत्ता, स्वास्थ्य, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, संस्कृति और विद्या-कला की रक्षा तथा वृद्धि करनेवाली उत्कट भावनाएँ हैं। ये भावनाएँ स्वाभाविक भी हैं और वाजिब भी। हमें देश को भी अपने कुटुम्ब की ही तरह देखना चाहिए और उसकी न-हीन स्थिति तथा संकट-काल में स्वार्थत्याग और अपने कुटुम्ब के सुख त्याग करना चाहिए। उसकी रक्षा, हित और सम्पन्नता में ही हमारी भी रक्षा, हित और सम्पन्नता है। उसके ह्रास में हमारे सर्वस्व का नाश है। हमें अपने देश के ध्येय, निर्बन्ध, आचरण और व्यवहार नीतिपूर्ण, न्याय-संगत और उन्नतिशील रखने चाहिएँ।

जो अपने देश की स्वतन्त्रता और संस्कृति की रक्षा तथा वृद्धि करता है और उसकी विशिष्ट नीति तथा निर्बन्धों का पालन करता है, वही सच्चा

देशभक्त अथवा नागरिक होता है। जिस समय स्वदेश पर कोई विपत्ति आती है, उस समय जो स्वयं अपने कौटुम्बिक, जातीय, धार्मिक, आर्थिक और बौद्धिक व्यवहारों तथा कर्त्तव्यों को एक ओर रखकर अपने देश के लिए अपना तन, मन और धन तथा अपना समय अनन्य भाव से अर्पित कर देता है और उसकी सेवा करता है, वही सच्चा देशभक्त और उदार-चरित नागरिक होता है। अपने देश के हित के लिए उसका मन दिन-रात बेचैन रहता है और उसका हृदय सदा उमड़ा रहता है।

राजकीय शास्त्र में मनुष्य के राजकीय जीवन का अध्ययन होता है। वह राज्य के उचित अर्थ और क्षेत्र, उसकी आवश्यकता और उदय, उसके स्वभाव और स्वरूप, उसके अंग, व्यवस्था और प्रकार, उसकी संस्थाओं और संघटन आदि सबका विचार करता है। मनुष्य राज्य की प्रजा होता है और इसी दृष्टि से राजनीतिशास्त्र यह भी बतलाता है कि मनुष्यों के सामुदायिक जीवन के साथ राजसत्ता का क्या सम्बन्ध है। इसी के अन्तर्गत इन बातों का भी विवेचन होता है कि राजसत्ता के साथ मनुष्यों का क्या सम्बन्ध है और दोनों के पारस्परिक अधिकार तथा कर्त्तव्य क्या हैं। (देखो पृ० ७-८ और ३५)

आजकल के जमाने में जब तक किसी राजकीय समाज की जन-संख्या अधिक न हो, तब तक वह बाहरी संकटों तथा परचक्रों से सफलता-पूर्वक अपनी रक्षा नहीं सकता और न आन्तरिक व्यवस्था और संघटन ही भली भाँति बनाये रख सकता है। आजकल संसार की जो परिस्थिति है, उसे देखते हुए राज्य को दूसरों के आक्रमणों तथा भीतरी लड़ाई-झगड़ों का प्रतिकार करने में समर्थ होना चाहिए।

जिस राज्य की पूर्ण रूप से वृद्धि या उन्नति हो चुकी हो, उसकी राजसत्ता एकत्र या संघटित और नियमपूर्वक चलनेवाली होनी चाहिए। उसके हाथ में समाज का संघटित बल होना चाहिए। उसके शासन के लिए राज्य में कोई विरोध या व्यत्यय नहीं होना चाहिए; और

उसका अधिकार पूर्ण तथा अव्याहत रूप से तथा नियमानुसार चलना चाहिए। परिणत स्थितिवाले राज्य साधारणतः निर्बन्धों या कानूनों के द्वारा तथा निश्चित प्रणाली से अपने शासन सम्बन्धी सब काम करते हैं। जब तक कोई विशेष आपत्ति आकर खड़ी न हो, तब तक राजसत्ता कभी अपने भीतरी या बाहरी व्यवहारों में अनियमित अथवा अनियन्त्रित कार्य नहीं करती। देश के भीतरी कार्यों में पूर्ण रूप से निर्बन्धों या कानूनों का साम्राज्य होता है जिससे नागरिक लोग अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं। राजसत्ता के परराष्ट्रीय व्यवहार के सम्बन्ध में भी आजकल कुछ सार्वराष्ट्रीय निर्बन्ध तथा नियम बन गये हैं। राष्ट्र-संघ के बन जाने से आजकल उनका पालन और वृद्धि भी हो रही है।

आजकल के समय में प्रत्येक उन्नत राजकीय समाज के लिए उच्च नैतिक कल्पनाओं और नियमों का आधार होना चाहिए। वह समाज सुधरा हुआ और नये सुधार करने के योग्य होना चाहिए। उसमें सार्व-जनिक तथा जागतिक हित के लिए नैतिक बन्धनों और नियमों का पालन करने की भावना और तत्परता होनी चाहिए। और साथ ही उसमें ग्रहण करने की ऐसी क्षमता होनी चाहिए जिसमें वह समय समय पर नई नई उत्पन्न होनेवाली नीति सम्बन्धी कल्पनाओं को आत्मसात कर सके। क्योंकि बिना इसके न तो चिरस्थायी आन्तरिक शान्ति ही हो सकती है और न दूसरे राज्यों के साथ मित्रता की सन्धि और सम्बन्ध ही हो सकता है।

आजकल के राज्य एक दूसरे से बिलकुल अलग और स्वयंपूर्ण नहीं रह सकते। उन्हें नित्य ही एक दूसरे के साथ राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध तथा व्यवहार करने पड़ते हैं। आजकल मनुष्यों के सब प्रकार के सम्बन्ध तथा व्यवहार केवल जाति अथवा राष्ट्र की मर्यादा से ही नियद्ध नहीं रह सकते, बल्कि वे जागतिक हो गये हैं। सभी का एक दूसरे के सुख, शान्ति और हित में कुछ न कुछ अंश रहता है और सबका

परस्पर निकट सम्बन्ध होता है। इससे भिन्न भिन्न राज्यों में सहकार और परस्परावलम्बन उत्पन्न होता है।' ऐसी अवस्था मे उन्हें ठीक रास्ते पर लगाने के लिए नीति सम्बन्धी कुछ निर्बन्धों या नियमों की आवश्यकता उत्पन्न होती है। परन्तु अभी तक कोई ऐसी जागतिक अधिसत्ता उत्पन्न नही हुई है जो संसार के समस्त राज्यों से बढ़कर हो, जिसे सब मानते हों और जो सब के साथ समान व्यवहार करती हो। और इसी लिए न तो किसी एक तन्त्र के द्वारा इस प्रकार के नीति-निर्बन्धों की रचना ही हो सकती है और न उनका पालन ही कराया जा सकता है। इसी लिए प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य स्वयं अपने देश से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों और दूसरों के साथ होनेवाले व्यवहारों में पूर्ण रूप से समान अधिकारी समझा जाता है।

परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी आजकल के सभी प्रौढ़ राज्यों ने पारस्परिक सन्धि, विग्रह और उदासीनता की तीनों परिस्थितियों के व्यवहारो को एक निश्चित और उचित रूप देने के लिए कुछ नीति नियम और सिद्धान्त मान लिये हैं। इन्हीं सिद्धान्तों और नीति-नियमों को सार्वराष्ट्रीय निर्बन्ध (International Law) कहते हैं। आजकल यही नीति-नियम राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों के लिए मार्गदर्शक होते हैं। इन नीति-नियमों के कारण राज्यों की स्वतन्त्रता नष्ट नहीं होने पाती, पर फिर भी वे अपनी इच्छा से अपने लिए कुछ सामान्य बन्धन मान लेते हैं। परन्तु उनके लिए किसी दंड-धारी नैर्बन्धिक सत्ता का आधार नहीं है; अर्थात् कोई ऐसी सत्ता नहीं है जो नीति-नियमों का भंग करनेवालों को किसी प्रकार का दंड दे सके। वे केवल नैतिक अथवा उपयुक्तता के नियम है।

सार्वराष्ट्रीय निर्बन्धों को माननेवाले राष्ट्र या राज्य अपना जो एक संघटन बनाते हैं, उसे राष्ट्र-संघ कहते है। उन सबके परामर्श से एक परिषद् में इस प्रकार के सब नियम या निर्बन्ध बनाये जाते हैं।

इसके उपरान्त प्रत्येक राज्य उन नियमों या निर्बन्धों पर पूर्ण रूप से विचार करके उन्हें मान्य करता है।

अपने राजकीय और आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए प्रत्येक राज्य दूसरे राज्यों में अपने प्रतिनिधि, दूत या वकील नियुक्त करता है और स्वयं अपने राज्य में एक ऐसा मन्त्री रखता है जो पर-राष्ट्रों से सम्बन्ध रखनेवाली नीति निश्चित करता है और उसके अनुसार सब कामों की देख-भाल करता है। उसी के द्वारा दूसरे राष्ट्रों के साथ सब प्रकार के व्यवहार तथा सम्बन्ध होते हैं।

इस प्रकार के सार्वराष्ट्रीय नियमों के द्वारा राज्यों के पारस्परिक व्यवहारों और हित-सम्बन्धों में कुछ स्थिरता, सामंजस्य और मनुष्यत्व आ जाता है। इन नियमों का मुख्य उद्देश्य यही है कि कलह कम हो, युद्ध को छोड़कर दूसरे मार्गों से अथवा पंचायतों आदि के द्वारा झगड़ों का निपटारा हो, युद्ध के समय जहाँ तक हो सके, शत्रुओं के साथ मनुष्यतापूर्ण व्यवहार हो, युद्ध में पकड़े जानेवाले और घायल होनेवाले लोगों के साथ अच्छा व्यवहार हो, और राज्यों की सीमा, समुद्र में की स्वतन्त्रता, युद्ध-काल में माल और यात्रियों के आने-जाने, दूसरे राष्ट्रों के नागरिकों की स्वतन्त्रता और बन्धनों के सम्बन्ध में नियम बन जायँ, आदि आदि।

राष्ट्र संघ की स्थापना हो जाने के कारण आजकल ये सब बातें सांग हो रही हैं। सन् १९१९ की वेर्साय (Versailles) वाली न्धि के समय स्पष्ट रूप से यह निश्चित कर दिया गया था कि राज्यों के पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करने के लिए, विकट प्रश्नों का निराकरण करने के लिए, शान्ति बनाये रखने के लिए और राज्यों में परस्पर मित्रता और सहकार बढ़ाने के लिए ही इस राष्ट्र-संघ नामक संस्था का निर्माण हो रहा है। उसके उद्देश्य तथा अधिकार प्रायः सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों ने मान लिये हैं। इससे युद्धों और लड़ाई झगड़ों के मार्ग में कुछ रुकावट हो गई है और भिन्न भिन्न राज्यों में आर्थिक, राजकीय और मानवीय हितों की,

आरोग्यात्मक और सामाजिक विषयों में सहकार उत्पन्न हो रहा है। काम करनेवाले मजदूरों, शिक्षा, रोगों, व्यसनों, गुलामों और पिछड़े हुए देशों के प्रश्नों को हाथ में लेकर राष्ट्र-संघ उन सबका उचित निराकरण करने का बहुत कुछ प्रयत्न कर रहा है।

सार्वराष्ट्रीय निर्बन्धों और व्यवहारों की दृष्टि से प्रत्येक राज्य एक स्वतन्त्र घटक है। उन सबका अलग अलग स्वतन्त्र स्थान है; और उन्होंने दूसरे राज्यो के साथ जो सन्धियाँ की हैं, उनके लिए वे वचनबद्ध हैं। यदि किसी देश की शासन-प्रणाली में किसी प्रकार का परिवर्त्तन हो जाय अथवा किसी देश में कोई क्रान्ति हो जाय तो भी उन पर यह नैतिक उत्तरदायित्व बराबर बना ही रहता है। इससे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की रक्षा तथा सम्पादन होता है और उन्हें कुछ न कुछ शाश्वतता प्राप्त होती है।

सार्वराष्ट्रीय व्यवहारों में सब राज्य समान योग्यतावाले और स्वतन्त्र समझे जाते हैं; फिर चाहे उनकी शासन-प्रणाली और अन्तर्गत व्यवहार जिस प्रकार का हो। उनके लिए सबसे अधिक आवश्यक यही है कि जो नियम उन्होंने मान लिये हैं और दूसरों के साथ जो करार या समझौते किये हैं, उन्हीं के अनुसार उन्हें अपने वचनों, कर्त्तव्यों, सन्धियों और सम्बन्धों का परिचालन और पालन करना चाहिए। किसी राज्य के आन्तरिक व्यवहारों और प्रणालियों के न्याय-संगत अथवा अन्यायपूर्ण होने के साथ सार्वराष्ट्रीय निर्बन्धों का कोई सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् ये सार्वराष्ट्रीय निर्बन्ध यह नहीं देखते कि किसी राज्य में जो शासन-प्रणाली स्थापित है, वह नीति की दृष्टि से समर्थनीय है या नहीं, उसके शासन का मार्ग और प्रकार न्याय के अनुसार है या नहीं, अथवा उसके राजकीय उद्देश्य नीति के आधार पर हैं या नहीं।

भिन्न भिन्न राष्ट्रों और वंशों के लोगों में परस्पर मनुष्यत्वपूर्ण व्यवहार, सहानुभूति, सहिष्णुता और सख्य भाव की सृष्टि होनी चाहिए। अभी

तक संसार में वंश-द्वेष और वर्ण-द्वेष बहुत से अंशों में और विकट रूप से वर्त्तमान है। विशेषतः युरोप के गोरों में तो ये बातें सीमा से कहीं बढ़ गई हैं। प्राचीन काल का जो धर्म-द्वेष था, वह तो आजकल कम हो गया है; परन्तु उसके स्थान पर जाति-द्वेष, वर्ण-द्वेष और राष्ट्र-द्वेष आ बैठा है। बहुत से गौरेतर लोगों का जीवन और भविष्य आजकल गोरे लोगों के हाथ में चला गया है। उन्होंने संसार के सभी छोटे बड़े देशों, द्वीपों और खंडों पर अपनी राजकीय सत्ता स्थापित कर ली है, जिससे वहाँ के साधन, सम्पत्ति, निवासी, व्यवसाय, व्यापार, जमीन, राज्य-व्यवस्था और सब प्रकार के कार-बार उन्हीं गोरों के हाथ में चले गये हैं। उन सबका उन्होंने सहज में ही अपने लाभ के लिए व्यवहार किया है और उन्हें अच्छी तरह दबा रखा है। इस वर्ण-द्वेष के साथ साथ स्वार्थ, सत्ता और सम्पत्ति भी आ मिली है जिससे गौरेतर जातियों की स्थिति सब प्रकार से अनुकम्पनीय और दयनीय हो गई है। गोरे लोग दूसरे वर्णवालों के देश में जाकर बस गये हैं, उन लोगों के साथ बहुत ही बुरी तरह से बरताव करते हैं और उन्हें किसी दूसरे स्थान में जाकर बसने भी नहीं देते। इन्हीं सब बातों और इसी तरह की दूसरी अनेक बातों के कारण इस समय गौरेतर जातियों की स्थिति बहुत ही खराब हो गई है। उदाहरण के लिए हब्शियों और अफ्रिका खंड को ही लीजिए। दूसरे लोगों और देशों की स्थिति भी वैसी ही है। उनमें केवल वर्ण-द्वेष ही नहीं है, बल्कि संस्कृति की भिन्नता का द्वेष और आर्थिक स्पर्धा तथा सत्ता और स्वतन्त्रता के सम्बन्ध की असूया भी है। इन पर-पीड़क भावनाओं का जोर और प्रभाव कम करना प्रत्येक देश के नागरिक का कर्त्तव्य है।

संसार की उन्नति के साथ साथ लोगों को मिलाकर एक करने का विचार और क्रिया भी बढ़ रही है। टेलिग्राफ, टेलिफोन, रेडियो, भाप और बिजली से चलनेवाली रेलों, नौकाओं, विमानों, सुरंगों, पुलों तथा

इसी प्रकार के दूसरे साधनों और व्यापार, धर्म, राजनीति, साहित्य आदि शास्त्रों के प्रचार और मानव जाति की एकता, समता और बन्धुता की कल्पनाओं से संसार के भिन्न भिन्न लोगों का संघटन और सख्य भाव बराबर बढ़ता जा रहा है।

सारे संसार की भाषा एक नहीं है; इसलिए सारे संसार के सामान्य व्यवहार के लिए धीरे धीरे एक सामान्य भाषा मान्य होनी चाहिए। इससे विचार-विनिमय और आचार-व्यवहार में सुकरता उत्पन्न होगी। इस समय संसार के आर्थिक और राजकीय हित अन्योन्याश्रयी हो गये हैं। एक स्थान के आर्थिक दुःख और दरिद्रता अथवा राजकीय आन्दोलन और क्रांति का दूसरे स्थानों की परिस्थितियों पर भी प्रभाव पड़ता है। एक देश की इस प्रकार की बातों से दूसरे देशों के व्यापारी, व्यवसायी, मन्त्री और राजनीतिज्ञ आदि भी चिन्तित होते हैं। यदि किसी एक स्थान में कोई वैज्ञानिक आविष्कार हो अथवा कोई नया यन्त्र बने, तो वह दूसरे स्थानों की आर्थिक तथा राजकीय स्थिरता में बाधा उत्पन्न कर सकता है। एक स्थान में होनेवाली नवीन सामाजिक, राजकीय और आर्थिक व्यवस्था अथवा विचार-क्रान्ति दूसरे स्थानों में असन्तोष, अस्वस्थता, विद्रोह, क्रान्ति अथवा नवीन आन्दोलन उत्पन्न कर देती है।

आजकल आपस में जो भिन्नता, विरोध तथा द्वेष दिखाई पड़ता है, वह बिलकुल आरम्भ से चला आनेवाला अथवा सदा बना रहनेवाला नहीं है, बल्कि स्थल, काल और कार्य के कारण उसकी सृष्टि हुई है। ऐसी अवस्था में आजकल के विश्व-कुटुम्बियों, उदारचरितों, सत्पुरुषों और उनके साथ ही साथ सामान्य नागरिकों का भी यह कर्त्तव्य है कि वे इस प्रकार की भिन्नताओं, विरोधों और द्वेषों को भूलकर ऐसे सूत्र ढूँढ निकालें जिनसे आपस में साम्य, सख्य-भाव और सुख उत्पन्न हो सके; और इन सब बातों को बनाये रखने और बढ़ाने के लिए नये उत्साह से उपकार और सहकारिता के मार्ग का अवलम्बन करें। हम लोगों को स्वतन्त्रता, समता,

बन्धुता, न्याय, लोकसत्ता, सदाचार, सहकार, ज्ञान, विद्याओं और शास्त्रों का प्रचार करके लोगों में फैला हुआ द्वेष, विरोध, कलह और युद्ध पूर्ण रूप से नष्ट करना चाहिए और इस प्रकार—

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

वाली वृत्ति और भावना उत्पन्न करनी चाहिए और इन्हीं के अनुसार आचरण तथा व्यवहार करना चाहिए ।

बारहवाँ प्रकरण

राज्यतन्त्र

जिस संघटित संस्था के द्वारा राज्य के सब कार-बार व्यवस्थित रूप से चलते हैं, उसे राज्यतन्त्र कहते हैं । राज्य की नीति और व्यवहार का परिचालन और संघटन तथा संस्था की रक्षा का काम राज्यतन्त्र करता है । राज्यतन्त्र चाहे किसी एक राजा के हाथ में हो और चाहे जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों और लोक-सम्मत मन्त्रियों के हाथ में हो, विना उसके न तो राज्य की व्यवस्था हो सकती है और न उसके काम पूरे उतर सकते । राज्यतन्त्र और राज्य में रहनेवाली प्रजा यही दोनों 'राज्य के मुख्य अंग हैं । यदि राज्यतन्त्र न हो तो राज्य में चारों ओर अशान्ति फैल जाय । ऐसी अवस्था में मात्स्य न्याय के अनुसार बलवान् लोग दुर्बलों को दबावेंगे और मारेंगे अथवा उन्हें अपना गुलाम बना लेंगे और दुर्बलों की सम्पत्ति, शील तथा सत्वों की रक्षा न हो सकेगी । मनु भगवान ने कहा है— "बलवद्‌भयाद्रक्षणार्थं राजानमसृजत् प्रभुः ।" अर्थात् ईश्वर ने बलवानों के भय से रक्षा करने के लिये ही राजा और राज्यतन्त्र का निर्माण किया है । रामायण और महाभारत में जगह जगह इस बात का वर्णन है कि

अराजकता के क्या क्या दुष्परिणाम होते हैं। अराजकता फैलने पर समाज-धर्म का नाश हो जाता है, "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाली अवस्था हो जाती है, निर्बन्ध, नीति और नियम का लय हो जाता है और साधारण लोगों को निर्भयता, सुरक्षितता, स्वतन्त्रता और सुख नहीं मिलता। भावी काल्पनिक सत्ययुग अथवा गत कृतयुग का चाहे जो स्वरूप हो और तत्व-ज्ञानी लोग समाज-रचना की चाहे जैसी परिणति कर डालें, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टि से आज तक बराबर राज्य का संचालन करनेवाले राज्यतन्त्र का अस्तित्व भी देखने में आता है और उसकी आवश्यकता भी सदा से बनी हुई दिखाई देती है। अभी तक मनुष्य पूर्ण सद्गुणी, धार्मिक, परोपकारी और पर-सहिष्णु नहीं हुए हैं। उनमें कुछ न कुछ अंशों में षड्रिपु निवास करते ही हैं। उनकी वृत्ति स्वार्थप्रेरित, सत्ताकांक्षी और सम्पत्ति-लोलुप ही है। वे अपने सामाजिक कार-बार स्वयं-स्फूर्ति, मेल जोल और सत्प्रवृत्ति से नहीं करते। उन्हें नियन्त्रण, नियन्त्रण-कारिणी शक्ति और निर्बन्धों तर्थात् दंड, दंडक और दंडनीति की बराबर आवश्यकता है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध ठीक बनाये रखने और उनके सब कार-बार ठीक तरह से चलाने के लिए राज्यतन्त्र की आवश्यकता है ही।

राजा तथा राज्यतन्त्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चार मत प्रचलित हैं; और मत-प्रवर्त्तकों ने उन मतों के अनुसार राज्यतन्त्र के लक्षण और अधिकार निश्चित किये हैं। कुछ लोगों के मत से राजा और राज्यतन्त्र दोनों ईश्वर-निर्मित है। इस प्रकार के विचार मनुस्मृति और महाभारत में मिलते हैं। उनका मत यह है कि ईश्वर ने राजा को उत्पन्न किया और उसके हाथ में दंडनीति और राजसत्ता दी। इस विचार या सिद्धान्त के अनुसार राजा, उसके अधिकारियों और दंड को देवता का स्वरूप प्राप्त हुआ और यह मानने की प्रथा चल पड़ी कि उन्हें अनियन्त्रित अधिकार प्राप्त है। साथ ही यह भी कहा जाने लगा कि वे लोग प्रजा के सामने

किसी प्रकार से उत्तरदायी नहीं हैं और उनके लिए निर्बन्धों या कानूनों का कोई बन्धन नहीं है। राजा का व्यवहार चाहे अच्छा होता और चाहे बुरा, उसका शासन तथा सब कार्य चाहे स्वयं उसके स्वार्थों की सिद्धि के लिए होते और चाहे प्रजा के कल्याण के लिए होते, पर वह अमर्याद सत्ताधारी, बल्कि एक प्रकार से इस पृथ्वी पर का परमेश्वर समझा जाता था। न्याय तथा अन्याय का निर्णय नीति के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं, बल्कि राजा की उक्ति तथा कृति के अनुसार होने लगा। राजा को निर्वाचित करने का, उसका विरोध करने का अथवा उसे राज्यच्युत करने का अन्तिम अधिकार प्रजा के हाथ में नहीं रह गया। यह निश्चित हो गया कि राजा को उसका पद वंश-परम्परा के अनुसार प्राप्त होता है और उसकी अधिसत्ता ईश्वर-प्रदत्त मान ली गई।

यदि किसी राजा के सब कार्य और व्यवहार उत्तम हों और वह बहुत अच्छी तरह प्रजा का हित या कल्याण करता हो और तब यदि हम उसे एक बार ईश्वर के तुल्य मान लें तो इसमें भी कोई हर्ज नहीं हैं; परन्तु यह कल्पना और विचार बहुत ही भ्रमपूर्ण है कि राजा चाहे दुष्ट ही क्यों न हो, पर फिर भी वह ईश्वर के समान समस्त नीति-निर्बन्धों की सीमा और अधिकार-क्षेत्र से परे और सबसे श्रेष्ठ है।

जिस समय संसार में प्रातिनिधिक लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली का अस्तित्व नहीं था और देशहित तथा लोकहित की रक्षा का कार्य एक ही राजा के अधिकार में होता था, उस समय लोगों के लिए यह समझना बहुत ही स्वाभाविक और साथ ही आवश्यक भी था कि हमारा राजा ईश्वर के समान सद्गुणी और प्रजा का उत्तम रूप से पालन-पोषण करनेवाला है और वह प्रजा का ठीक तरह से शासन करता है और आवश्यकतानुसार उन्हें उचित दंड देता है। परन्तु राजा का पद और अधिकार वंश-परम्परागत हो जाने के कारण कुछ बुरे राजा भी निकलने लगे। इसलिए राजा की ईश्वर-प्रदत्त और अनिर्बन्ध अधिकारवाली कल्पना प्रजा के लिए पीड़ा-

कारक हो गई। और अब तो वह ऐतिहासिक, तात्विक और नैतिक दृष्टि से भी भ्रमपूर्ण सिद्ध हुई है। प्रजा के हित और नीति की दृष्टि से उसका परिणाम बुरा ही हुआ है। इससे लोगों की सत्ता, सुख और स्वतन्त्रता की वृद्धि नहीं हुई। बहुतों का यह मत है कि राजा प्रत्यक्ष ईश्वर नहीं है। उसे देवर्षियों के बनाये हुए धर्म और नीति के अनुसार अपना राज्य करना चाहिए, दुष्ट और अनुचित व्यवहार करनेवाले राजा को राज्यच्युत करने का अधिकार ऋषि-मुनियों, प्रजा के नेताओं और प्रतिनिधियों को है। प्रातिनिधिक सत्ता का प्रचार होने से पहले धर्माधिकारी और समाज-धुरीण लोग यह कार्य कर सकते थे। धर्म का निश्चय करनेवाले ऋषि और आचार्य भी ईश्वर द्वारा प्रेरित ही माने जाते थे। मनुष्यों को उनके बनाये हुए धर्म-शास्त्रों के विरुद्ध जाने का अधिकार नहीं होता था।

युरोप में भी राजा के ईश्वरत्व की कल्पना की इसी प्रकार वृद्धि हुई थी। वहाँ भी इस प्रकार के विचार प्रचलित थे कि राजा का अधिकार ईश्वर-प्रदत्त है, वह निर्बन्धातीत, अनियन्त्रित और स्ववश है, लोकवश नहीं है; लोकमत के द्वारा वह न तो नियुक्त किया जा सकता है और न पद-च्युत किया जा सकता है आदि आदि। परन्तु आगे चलकर लोकसत्तावाली कल्पना के सामने इस सत्ता की कल्पना का अन्त हो गया; और कुछ स्थानों में तो राजा नामधारी और अधिकार-रहित हो गया और कुछ स्थानों में राजा का नाम और पद ही बिलकुल हटा दिया गया।

कुछ लोगों का यह मत है कि युद्ध की आवश्यकता के कारण राजा का निर्माण हुआ था। बहुत से स्थानों में राज्य और राजवंश युद्ध में प्राप्त विजय के कारण ही स्थापित हुए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से नवीन राज्यों और राजवंशों का इसी प्रकार उदय हुआ है। परन्तु इस मत के अनुसार सिद्धान्त सम्बन्धी इस प्रश्न का कुछ भी निर्णय नहीं होता कि राज्य की आवश्यकता क्या है और पहले-पहल उसकी उत्पत्ति किस प्रकार हुई।

कोई राज्य और राज्यतन्त्र बल की सहायता से और युद्ध के आक्रमण से पादाक्रान्त किया जा सकता है और कुछ अंशों में बल की सहायता से और कुछ अंशों में लोगों की अनुकूलता और सम्मति से वह राज्य तथा राज्यतन्त्र चलाया भी जा सकता है। परन्तु फिर भी इस मत के अनुसार इस प्रश्न का निराकरण नहीं होता कि राज्यतन्त्रवाली संस्था किन कारणों से उत्पन्न हुई। राज्यतन्त्र चलानेवाले अथवा राज्य को हस्तगत करनेवाले में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह बाहरी चक्रों अथवा आन्तरिक विप्लवों से अपनी और अपने राज्य की रक्षा कर सके। इस प्रकार की शक्ति से ही राज्य ठहर सकते हैं। परन्तु इससे इन बातों का पता नहीं चलता कि राज्यतन्त्र का उद्गम और आधार क्या है। राज्यतन्त्र के लिए बल एक आवश्यक और सहायक बात है, परन्तु वह उसका मुख्य लक्षण नहीं है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि राज्यतन्त्र लोक-निर्मित और लोक-सम्मत है। भीष्म ने महाभारत में और कौटिल्य ने अर्थ-शास्त्र में कहा है कि राज्यतन्त्र की उत्पत्ति लोगों की आवश्यकता, इच्छा और सम्मति के कारण हुई है। पश्चात्य ग्रन्थकार हाब्स, लॉक और रूसो के मत भी इसी प्रकार के हैं।

हाब्स का मत है कि आरम्भ में मनुष्यों की स्थिति और व्यवहार प्रेमपूर्ण, शान्तिपूर्ण और मित्रता का नहीं था, बल्कि उनमें परस्पर बराबर मार-पीट, कलह और शत्रुता चलती रहती थी। उनका व्यवहार भेड़ियों का सा होता था और उनमें बराबर युद्ध औ मार-काट होती रहती थी। इस प्रकार की आपत्तियों से बचने के लिए उन्होंने आपस में यह निश्चय किया कि एक मुख्य अधिकारी अथवा राजा बनाया जाय और सब लोगों के पालन-पोषण तथा पतित्व के सब अधिकार उसी को अर्पित कर दिये जायँ; और इसी लिए उन लोगों ने उस अधिकारी या राजा की अधिसत्ता के लिए कोई बन्धन नहीं रखा और यह मान लिया कि उसका अधिकार सर्वश्रेष्ठ, स्ववश, स्वयंभू और अनियन्त्रित है।

लॉक का मत यह है कि आरम्भ में मनुष्यों की स्थिति और व्यवहार शान्तिपूर्ण और मित्रता का था, पर आगे चलकर कुछ कारणों से वह अवस्था बिगड़ गई और लोगों में कलह तथा शत्रुता होने लगी। इससे मनुष्यों के जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति की सुरक्षितता नष्ट हो गई। इस सुरक्षितता को फिर से स्थापित करने और बनाये रखने के लिए लोगों ने एकत्र होकर राजा का निर्वाचन किया, अपने स्वाभाविक और आवश्यक अधिकारों की रक्षा की दृष्टि से उसके साथ करार किया और कुछ खास शर्तें लगाकर उसे मर्यादित अधिकार दिया। राजा यदि लोगों की सुरक्षितता की रक्षा न करता तो ऐसी अवस्था के लिए लोगों ने उसे निकाल बाहर करने का अधिकार अपने हाथ में रखा। इसी लिए राजा की अधिसत्ता स्ववश और अनियन्त्रित नहीं हुई।

रूसो के मत से मनुष्यों की आरम्भिक स्थिति तथा व्यवहार सादा और साधु-तुल्य था। परन्तु कुछ समय के उपरान्त उनकी वह स्थिति बिगड़ गई और उसमें फिर से सुधार करने के लिए सब लोगों ने एकत्र और सम्मत होकर तथा आपस में निश्चय करके अपनी नैसर्गिक और आवश्यक स्वतन्त्रता तथा सत्ता, अपना बल बढ़ाने के विचार से, समाज के समष्टि रूप को पूरी तरह से अर्पित कर दी और एक बड़ी संघटनात्मक शक्ति और सामुदायिक सत्ता उत्पन्न की। उन्होंने अपनी वह स्वतन्त्रता तथा सत्ता केवल लोक-समाज को छोड़कर और किसी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह के हाथ में पूर्ण रूप से अथवा मर्यादित रूप से नहीं दी। अपनी उस स्वतन्त्रता और सत्ता को उन्होंने स्वयं अपनी ही संघटित और सामुदायिक शक्ति तथा सत्ता के हाथ में रखा। अर्थात् आरम्भिक स्थिति में मनुष्यों की जो वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अधिकार थे, वे अब नहीं रह गये और वे लोग स्वयं अपनी इच्छा तथा सम्मति से एक नवीन समाज या समुदाय की समष्टि रूपी संस्था में प्रविष्ट और एकत्र हुए। ऐसे सामुदायिक संघटन से प्रत्येक मनुष्य को अपनी सच्ची स्वतन्त्रता और अधिकार भोगने

का अधिक अवसर तथा शक्ति प्राप्त होती है। वह उस समुदाय शक्ति में समभागी और समभोगी होकर समाविष्ट होता है, उसका पृथक् और संकुचित भाव तथा स्वार्थ दूर हो जाता है और उसकी इच्छा, अधिकार तथा स्वतन्त्रता व्यापक, सामुदायिक और समाज-हितकारक हो जाती है। उसके आचार और व्यवहार में सार्वत्रिकता और महत्व का प्रवेश होता है। वह सामुदायिक इच्छा और शक्ति से काम करने लगता है। इस मत के अनुसार राज्यतन्त्र और राज्य के अधिकारी केवल मन्त्री और कर्मचारी माने जाते हैं। उनके लिए कोई स्वतन्त्र अधिकार या सत्ता नहीं रखी गई है। उन्हें नियुक्त करने का भी और पद-च्युत करने का भी अधिकार लोगों के सामुदायिक संघटन और सत्ता के हाथ में रखा गया है। अधिकारी लोग पूरी तरह से नौकर ही ठहराये गये हैं।

राज्यतन्त्र का निर्माण करनेवाली इस लोक-सम्मति को राजकीय अथवा सामाजिक सम्मति कहते हैं। इस मत का मुख्य सिद्धान्त यही है कि राजा अथवा राज्यतन्त्र का निर्माण लोक-सम्मति से होता है। इसका मतलब यही है कि राजा अथवा राज्यतन्त्र देव-निर्मित या बल द्वारा सम्पादित नहीं है। यह मत तात्विक या वैज्ञानिक ढंग का है, ऐतिहासिक घटनाओं के अनुसार नहीं है। हाँ इस सिद्धान्त का इतना अंश अवश्य सत्य है कि तात्विक या वैज्ञानिक दृष्टि से न्याय्य राज्यतन्त्र का मुख्य आधार और मूल आधार केवल लोक-सम्मति ही है। राज्यतन्त्र का चिर-स्थायित्व केवल लोगों की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। समाज में राज्याधिकारियों की अपेक्षा प्रजा का ही महत्व अधिक है और अधिसत्ता, राज्यतन्त्र तथा स्वतन्त्रता का विचार केवल इसी दृष्टि से होना चाहिए। राज्यतन्त्र के अधिकार मर्यादित होते हैं और उन्हे प्रजा की सम्मति से तथा उनके हित और स्वतन्त्रता की दृष्टि से सब काम करने चाहिएँ। बल तो राज्यतन्त्र का केवल साधनात्मक और आनुषंगिक भाग है। चाहे ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ लोगों ने अपनी सामर्थ्य और सेना के बल से भले

ही नवीन राज्यों का निर्माण कर लिया हो, तो भी तात्विक या सिद्धान्त की दृष्टि से राज्यतन्त्र का मूल और मुख्य आधार लोक-सम्मति ही है। इसी से वह उत्पन्न होता और बना रहता है। केवल सेना के बल पर न तो वह उचित रूप ही धारण कर सकता है और न ठहर ही सकता है।

ऐतिहासिक विद्वानों के मत से राज्य संस्था और राज्यतन्त्र स्वाभाविक भी हैं और आवश्यक भी। बिना इनके न तो मनुष्य एकत्र होकर रह ही सकते है और न उनका जीवन ही सुखावह तथा सामुदायिक हो सकता है। यह बात नहीं है कि किसी एक विशिष्ट काल में अथवा किसी विशिष्ट प्रसंग या अवसर पर देवताओं, दैत्यों अथवा मनुष्यों ने राजा, राज्यतन्त्र अथवा राजकीय संस्था का निर्माण किया हो। ये सब चीजें आरम्भ में ही साध्य स्वरूप में और अंकुर रूप से मनुष्य के नियन्त्रण-स्वभाव और नीति-स्वभाव में थीं। भौगोलिक परिस्थिति, सामाजिक स्वभाव के परिपोष और सामाजिक संघटन तथा सुख की आवश्यकता के योग से धीरे धीरे इनकी वृद्धि हुई और इनके विविध प्रकार दिखाई देने लगे। इसके उपरान्त इनके पारस्परिक अन्तर तथा गुण-दोष भी दिखाई देने लगे। आगे चलकर बुद्धि की सहायता से इनके रूपान्तर करने के भी प्रयत्न होने लगे। राजकीय संस्थाओं के विकास का आरम्भ कुटुम्ब में के पिता अथवा कर्त्ता के नियन्त्रण से आरम्भ हुआ था; और आगे चलकर धर्माधिकारी, मान्त्रिक, धनी, शिक्षक, सेनानी और नेता आदि के द्वारा परिणत होती हुई वे संस्थाएँ राज्य के रूप में व्यक्त हुईं और उन्होंने अपना वर्त्तमान परिणत स्वरूप प्राप्त किया। राज्य संस्था का मुख्य लक्षण यही है कि वह रक्षण और नियन्त्रण करे; फिर चाहे वह रक्षण और नियन्त्रण धर्मानुसार हो, नीति के अनुसार हो या स्वेच्छा के अनुसार हो। आरम्भिक कुटुम्बों में जो काम पति या पिता करता था, राज्य रूपी समाज में वही काम नरपति या राजा करता है। राजकीय संस्था वास्तव में मनुष्य के सामाजिक और सामुदायिक जीवन का स्वाभाविक और आवश्यक अंग है और

सामाजिक जीवन तथा उसके रक्षण और नियन्त्रण की सत्ता की साथ ही साथ वृद्धि हुई है। राज्यतन्त्र के स्वरूप, स्वभाव, वर्चस्व और प्रकार बराबर स्थल, काल और कार्य के अनुसार बदलते और बढ़ते रहे हैं। परन्तु उनका अंकुर आरम्भ से ही मनुष्य के सामाजिक जीवन में वर्तमान था और उसी के योग से मनुष्य का सामुदायिक जीवन सुसंघटित और सुव्यवस्थित हुआ है।

राजकीय समाज का प्रधान केन्द्र उसकी अधिसत्ता में होता है। राज्य की सर्वश्रेष्ठ रक्षण सत्ता और नियन्त्रण सत्ता ही अधिसत्ता अथवा प्रभु-शक्ति है। देश में जितने व्यक्ति, समूह और वस्तुएँ होती हैं, उन सब पर उसका अधिकार होता है। निर्बन्ध या कानून की दृष्टि से उससे बढ़कर श्रेष्ठ और कोई सत्ता नहीं है। उसकी आज्ञा और शासन सबको शिरसावंद्य करके पालन करना चाहिए, चाहे वह अधिसत्ता राजमुखी हो और चाहे लोकमुखी हो। निर्बन्ध या कानून बनाना, नियन्त्रण लगाना और शासन करना आदि कार्य उसी के अधिकार में हैं। नागरिक लोग जिन अधिकारों का उपभोग और जिन कर्त्तव्यों का पालन करते हैं, वे सब उसी के द्वारा निश्चित होते हैं। उनका आधार, निश्चितता और स्थिरता सब उसी के कारण हैं।

बाहर की किसी दूसरी राजसत्ता को उसके कामों और शासन व्यवस्था में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करने का कानून की दृष्टि से या कोई नैर्बन्धिक अधिकार नहीं है; और न देश में रहनेवाले किसी व्यक्ति या समूह को उसका विरोध करने का ही नैर्बन्धिक अधिकार है। उसकी आज्ञा चाहे न्यायपूर्ण हो और चाहे अन्यायपूर्ण हो, प्रजा को उसका पालन करना चाहिए। राज्यतन्त्र की उत्पत्ति चाहे जिस तरह से हुई हो, पर उसकी अधिसत्ता ही राज्य की मुख्य सत्ता है। वही निर्बन्ध या कानून बनाती है और वही रक्षण, नियन्त्रण तथा न्याय करती है। उसी के हाथ मे समाज की सारी शक्ति एकत्र रहती है।

यद्यपि तत्वतः अधिसत्ता में कर्तुमकर्तुम् की सारी शक्ति या सामर्थ्य होती है, तो भी व्यवहार में समाज की चाल-ढाल, भावना या विचार और ध्येय का और उसके निर्बन्ध के अधिकार और सामान्य कार्य व्यवस्था पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। नैर्बन्धिक अधिसत्ता चाहे राज्यतन्त्र में ही क्यों न हो, परन्तु नैतिक अधिसत्ता फिर भी जनता में ही रहती है। जनता की भावना या विचार, नीति और सम्मति ही प्रत्येक राज्यतन्त्र और अधिसत्ता का अन्तिम आधार है।

लोकसत्तात्मक अधिसत्ता कभी बिना लोक समाज के होती ही नहीं। उसे लोक-समाज के विरुद्ध कोई काम करने का अधिकार भी नहीं है। यदि वह लोक-समाज के विरुद्ध आचरण करे तो इसमें उसका हित नहीं है। वह लोक-समाज की प्रतिनिधि और लोकसत्ता की अधिष्ठान है और लोगों के हित तथा स्वतन्त्रता की रक्षा करती है। वह लोक-समाज तथा लोकसत्ता का ऐसा स्वरूप है जो सुसंघटित, निश्चित, अपने अधिकारों का उपयोग तथा कार्य करने के योग्य और समर्थ है। यदि यह अधिसत्ता किसी समय थोड़े से अधिकारियों के हाथ में ही हो, तो भी वे अधिकारी लोगों के चुने हुए और उत्तरदायी प्रतिनिधि होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर लोग उन्हें उनके पद से हटा सकते हैं। उनके कोई निजी और स्वतन्त्र अधिकार नहीं होते। उनके हाथ में जो अधिकार होते हैं, वे लोगों के दिये हुए ही होते हैं और लोगों के लिए ही होते हैं। प्रतिनिधि लोग बहुमत के आधार पर ही सब काम करते हैं और बहुमत से ही उत्पन्न होते हैं और उनमें बहुमत प्रतिबिम्बित रहता है। उन्हें बहुमत का ही सहारा रहता है और बहुमत से ही उनका अस्तित्व रहता है; और इसी लिए वे लोग राज्य कर सकते हैं।

अधिसत्ता का मुख्य कार्य समाज को ठीक अवस्था में बनाये रखना और समाज-संस्था की सब प्रकार से रक्षा करना है। वह समाज की सारी शक्ति का एकत्र किया हुआ स्वरूप है। उसके लिए लोकमत और

लोगों की शक्ति का मुख्य आधार होना चाहिए। इस समय अधिसत्ता केवल स्वतन्त्र और लोगों के कल्याण के इच्छुक थोड़े से आदमियों की सत्ता नहीं है, बल्कि वह लोकसत्ता का प्रतिबिम्बित और प्रातिनिधिक स्वरूप है। जिन अधिकारियों और संस्थाओं के हाथ में अधिसत्ता के केन्द्र और मुख्य सूत्र होते हैं, उन्हीं के द्वारा समाज का शासन, पालन और नियन्त्रण होता है।

समाज की राजकीय अधिसत्ता को यदि तात्विक दृष्टि से अनियंन्त्रित भी मान लिया जाय तो भी ऐतिहासिक, व्यवहार और नीति की दृष्टि से उसके लिए मर्यादा और बन्धन रहते ही हैं। उसकी उत्पत्ति के समय की परिस्थिति, वृद्धि, संघटन और अन्तर्भूत तत्व सभी उसकी स्वतन्त्रता और अधिकार क्षेत्र को नियन्त्रित करते हैं। प्रोफेसर डायसी ने इस नियन्त्रण का नाम "अन्तर्गत नियन्त्रण" रखा है। केवल अविवेक और अन्याययुक्त आचरण करनेवाली राजकीय सत्ताधारी संस्था अधिक दिनों तक ठहर ही नहीं सकती। इसी प्रकार राजकीय अधिसत्ता के कृत्यों पर बाहरी नियन्त्रण भी होते हैं। चाहे कोई अधिसत्ता हो, वह कुछ बातों में कभी एक निश्चित मर्यादा या सीमा के आगे जा ही नहीं सकती। ज्यों ही वह उस मर्यादा या सीमा का उल्लंघन करती है, त्यों ही बाहर से उसमें रुकावट होती है। गुलामी, लूट खसोट, राजकीय आक्रमणों की उच्चाकांक्षा और उत्पीड़न आदि बातों की भी मर्यादा होती है। प्रत्येक अधिसत्ता को लोगों के असन्तोष के कारण उत्पन्न होनेवाले विद्रोह, क्रांति और परचक्र का भय रहता है। अधिसत्ता कभी अपने समय के नैतिक और नैर्बन्धिक विचारों की पूर्ण रूप से उपेक्षा करके सदा लोकमत के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकती। नैतिक दृष्टि से उस पर जनता की भावनाओं और ध्येयों का आन्तरिक नियन्त्रण रहता है। अधिसत्ता के अनियन्त्रित आचरण के लिए इस प्रकार का स्वाभाविक भय और नैतिक प्रतिबन्ध रहता है। हाँ कोई राष्ट्र-संघ अथवा देश की संस्था कानून की दृष्टि से उसके लिए कोई निर्बन्ध नहीं बना सकती।

निबंन्ध या कानून का मतलब अधिसत्ता की दी हुई आज्ञा या राजशासन है। यह आज्ञा यद्यपि उसके मुख से और उत्तरदायित्व पर नैर्बन्धिक रूप से निकले, तो भी वह अपने समाज के ध्येयों, रीति-रवाजों, भावनाओं और आवश्यकताओं का विचार छोड़ कर स्ववश रूप से नहीं निकल सकती। जो निर्बन्ध या कानून इन सब बातों के अनुसार नहीं होते, उनके लिए लोगों का विरोध होता है। जो निर्बन्ध लोगों की सदिच्छा, न्याय-बुद्धि और नीति के अनुसार नहीं होते, वे व्यवहार की दृष्टि से सफल नहीं होते और उपयोगी नहीं ठहरते। जब तक लोगों की समझ में निर्बन्धों का महत्त्व और उपयोगिता न आवे, तब तक वे सफल या यशस्वी नहीं हो सकते। हमारे यहाँ एक नीति-वाक्य है—"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाकरणीयम् नाचरणीयम्।" परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि लोगों की मूढ भावनाओं और विश्वासो के अनुसार निर्बन्ध या कानून बनाने चाहिएँ और उनका पालन होना चाहिए। वे स्वतन्त्रता, सुख और प्रगति या उन्नति के पोषक होने चाहिएँ। इसका केवल इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि नए निर्बन्धो या कानूनों और प्रचलित लोक भावना तथा विश्वास में बहुत बड़ा अन्तर नहीं होना चाहिए। जब लोगों को शिक्षा की सहायता से और निर्बन्धो के नियन्त्रण तथा प्रोत्साहन से धीरे धीरे आगे बढ़ाया जाता है, तभी लोक-समाज सुधरता और बलवान् होता है।

नैतिक दृष्टि से निर्बन्ध वास्तव में न्याय, नीति और सदाचार के अनुसार होनेवाले वचन हैं। राजकीय अधिसत्ता की दृष्टि से निर्बन्ध एक पालन-पोषणात्मक आज्ञा है। नीति प्रायः उपदेश करती है और सत्ता आदेश तथा निग्रह करती है। नीति तो सदाचार, लोक-सम्मति और सम्यक् संकल्प पर अधिष्ठित है और सत्ता दंडधारी है तथा शासन पर अधिष्ठित है। अपने सामाजिक सदाचारी जीवन और सुधार का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए नागरिक नीति-शास्त्र में नैतिक और राजकीय दोनों ही प्रकार के निर्बन्धों का उपयोग होता है।

आजकल के निबंन्ध या कानून ऐसी अधिसत्ता के बनाये हुए होते हैं जो लोकसत्ता द्वारा निर्मित, प्रातिनिधिक और लोकवश होती है; और इसी लिए वे निबंन्ध लोकमत के अनुसार होते हैं। इसी लिए उनमें और लोकमत में बहुधा विरोधी भाव नहीं उत्पन्न होता।

जिस प्रकार निबंन्ध केवल शासन या दंड नहीं है, उसी प्रकार स्वतन्त्रता केवल स्वेच्छाचार या मनमाना आचरण नहीं है। "मनः पूतं समाचरेत्" वाली अर्थात् मनमाना आचरण करने की कल्पना सामाजिक स्वतन्त्रता में नहीं आती। समाज बहुत से मनुष्यों का समूह है और सब लोगों को एक साथ मिलकर प्रेमपूर्वक रहने के लिए किसी प्रकार का नियन्त्रण मानना चाहिए। इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ होता है कि कोई आदमी सार्वजनिक हित के विरुद्ध आचरण न करे; और प्रत्येक व्यक्ति को अपने प्रयत और इच्छा के अनुसार आचरण करने का अधिकार और स्वतन्त्रता ह नी चाहिए। इस स्वतन्त्रता का यह अर्थ नहीं है कि सब लोगों को केवल अपने अपने स्वार्थ की दृष्टि से स्वयं अपने ही अनुकूल बातें करने का अधिकार या स्वतन्त्रता हो। समाज में रहनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सारे समाज के हित की दृष्टि से कुछ बन्धनों का पालन करना पड़ता है। समाज में रहनेवाले लोगों की स्वतन्त्रता अथवा नागरिकों की स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि सब लोगों को विशिष्ट परिस्थितियों में कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की सिद्धि के लिए उचित आचरण और व्यवहार करने की स्वतन्त्रता हो; और इससे उन उद्देश्यों की सिद्धि होनी चाहिए। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो उचित नीति, मर्यादा और बन्धनों के साथ सच्ची स्वतन्त्रता का कभी विरोध हो ही नहीं सकता। बल्कि इसके विपरीत इन मर्यादाओं और बन्धनों के द्वारा वैयक्तिक कर्तृत्व और वृद्धि या उन्नति को और सामाजिक सुस्थिति और सुधार को यथेच्छ अवकाश मिलता है। स्वतन्त्रता और सुव्यवस्था दोनों अन्योन्याश्रयी और परस्पर-पोषक हैं। किसी व्यक्ति को सभी मनमाने काम करने और किसी

वस्तु या व्यक्ति पर अमर्यादित रूप से अपना अधिकार चलाने का हक हो ही नहीं सकता। यदि यह मान लिया जाय कि लोगों को ऐसा ही करने का हक हासिल है, तो फिर चारों ओर बलवानों की उन्मत्तता और अत्याचार का ही राज्य दिखाई देगा और दुर्बलों के भाग्य में या तो दासता रह जायगी और या उनका नाश ही हो जायगा। यदि हम यह चाहते हों कि सब लोग समान रूप से स्वतन्त्रता का उपभोग करें तो कुछ सार्वत्रिक नियन्त्रणों और सार्वजनिक नियमों का होना आवश्यक है। और इस प्रकार के नियन्त्रण तथा नियम समाज की ऐसी श्रेष्ठ शक्ति को निर्बन्धों या कानूनों के रूप में बनाने चाहिएँ जो सन्मान्य, सर्वमान्य, सर्वसामान्य और सुनिश्चित स्वरूपवाली हो। सच्ची स्वतन्त्रता केवल ऐसी ही सुव्यवस्था में प्राप्त हो सकती है। किसी को दूसरे के नाश का कारण नहीं होना चाहिए। लार्ड एक्टन का मत है कि स्वतन्त्रता शब्द से इस बात का निश्चय अभिप्रेत है कि सत्ताधारी और बहुसंख्यक समाज परम्परागत रीति-रवाज और प्रचलित लोकमत का अनिष्ट और अनुचित दमन या अत्याचार न चलने दिया जाय; और प्रत्येक व्यक्ति तथा समूह को अपने अपने मत के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करने की स्वतन्त्रता रहे।

स्वतन्त्रता के मुख्यतः चार विभाग किये जा सकते हैं। इनमें पहली व्यवहार सम्बन्धी स्वतन्त्रता है। व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध में और व्यक्ति तथा राज्यतन्त्र के पारस्परिक सम्बन्ध में नागरिकों को व्यवहार, आचरण और साहचर्य सम्बन्धी कुछ नियमों का पालन करना पड़ता है; और साथ ही जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी कुछ अधिकारों और कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है; और उन्हें मानना पड़ता है। ये नियम अधिकार, कर्त्तव्य और व्यवहार विषयक तथा दंड विषयक निर्बन्धों में समाविष्ट होते हैं। इनके द्वारा मनुष्यों की व्यवहार सम्बन्धी स्वतन्त्रता की रक्षा और वृद्धि होती है।

दूसरी राजकीय स्वतन्त्रता है। इसका अर्थ यह है कि नागरिकों को अपने देश के राज्यतन्त्र और राजसंस्थाओं के कार्यों में पूर्ण रूप से सम्मिलित होने का अधिकार हो। इसमें सार्वत्रिक मताधिकार, राज्यतन्त्र के कार्यकारी विभाग पर निर्बन्धकारी विभाग का अधिकार, नवीन नीति तथा निर्बन्धों की योजना करने का नागरिकों का अधिकार, महत्व के प्रश्नों और निर्बन्धों के सम्बन्ध में समस्त नागरिकों का मत-संग्रह, अपने प्रतिनिधियों को वापस बुलाने अथवा उनसे अपना प्रतिनिधित्व छीनने का अधिकार, कार्यकारी मंडल के लोगों का उत्तरदायित्व, नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की घोषणा, सब लोगों पर निर्बन्धों या कानूनों का समान नियन्त्रण, प्रचलित सार्वजनिक न्यायालयों में अपराधों का निर्णय, स्थानिक स्वराज्य और नागरिकों को राजकीय अधिकार तथा सत्ता दिलानेवाले तत्वों और नियमों आदि का समावेश होता है।

तीसरी देश-सम्बन्धी स्वतन्त्रता है। यह स्वतन्त्रता राज्य के आन्तरिक स्वशासन और बाहरी स्वाधीनता पर अवलम्बित रहती है। सार्वराष्ट्रीय व्यवहारों में इसी प्रकार के स्वतन्त्र देशों को स्वतन्त्र स्थान और समान सम्मान प्राप्त होता है। बलशाली और प्रगति पोषक राजकीय, नैतिक और सांस्कृतिक जीवन प्राप्त करने के लिए देश सम्बन्धी स्वतन्त्रता की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि एक देश का दूसरे देश पर प्रभुत्व हो तो उस दूसरे के अधीन देश में रहनेवाली जनता के जीवन के अनेक-विध अंगों और व्यापक स्वरूप का पूर्ण रूप से नाश ही हो जाता है। ऐसी ही परिस्थिति में उस देश के नागरिकों की बहुत अधोगति होती है और उनके स्वभाव में रहनेवाले उन्नति के बीज तथा स्वतन्त्रता के अंकुर मृतप्राय हो जाते हैं।

चौथी मत-सम्बन्धी स्वतन्त्रता होती है। धर्म और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता भी इसी के अन्तर्गत आती है। अपनी भावना के अनुसार अपनी पसन्द के उपास्य देवता की पूजा-अर्चा, स्मरण-भजन आदि अपने अनुकूल या प्रिय मार्ग से करने का अधिकार ही धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता

है। किसी के साथ यह जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए कि तुम्हें केवल अमुक धर्म के मतों का, मार्गों का, आचारों का अथवा विधियों का ही अनुसरण करना पड़ेगा। धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता का लक्षण यही है कि प्रत्येक व्यक्ति को इस सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र मत रखने का अधिकार होना चाहिए और इतनी स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपनी सदसद् विवेक बुद्धि के अनुसार जैसा आचरण चाहे, वैसा करे। शिक्षा सम्बन्धी बातों में भी शिक्षकों, शिक्षितों और शिक्षा देनेवाली संस्थाओं को बहुत कुछ मत-स्वतन्त्रता होनी चाहिए। उन पर राजसत्ता, धर्मसत्ता या जाति-सत्ता का कोई खास दबाव नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार की स्वतन्त्रता के द्वारा मनुष्य की बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है। जहाँ तक हो सके, प्रत्येक मनुष्य को अन्दर से अपनी उन्नति करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

मनुष्य का मनमाना आचरण और स्वेच्छाचारपूर्ण स्वतन्त्रता ऊपर बतलाई हुई चारों प्रकार की सुसंस्कृत स्वतन्त्रताओं से भिन्न है। वह अनि-यन्त्रित, वैयक्तिक और जंगली स्वतन्त्रता है, मर्यादित, नैतिक और उपयुक्त स्वतन्त्रता नहीं है। इस प्रकार की पाशविक स्वतन्त्रता में किसी प्रकार का संघटन वा सुव्यवस्था कभी ठहर ही नहीं सकती और न कोई उद्देश्य ही सिद्ध हो सकता है। और इन सब बातों के अभाव के कारण सुखमय जीवन तो दूर रहा, खाली शान्तिपूर्ण जीवन भी व्यतीत नहीं किया जा सकता। इसी लिए इस मनमानी स्वतन्त्रता को रोकने और उसके लिए उचित बन्धन तथा मर्यादाएँ प्रस्तुत करने के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के प्रयत्न और योजनाएँ कर रहा है।

राज्यतन्त्र की सर्वांगीण व्यवस्था को ही राज्य-संघटन कहते हैं। वह संघटन सामान्यतः उसी राज्य में रहनेवाले लोगों के निजी प्रयास और मत से निर्मित होता है। वह संघटन ऐसा नहीं होता जिसे एक लोक-समाज किसी दूसरे लोक समाज पर लाद सके। राज्य-संघटन का सच्चा

आधार और उद्गम उसमें रहनेवाले लोक-समाज की सम्मति ही है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो राज्य-संघटन एक ऐसा नियम रूपी नियन्त्रण है जो सब लोग मिलकर राज्यतन्त्र के लिए प्रस्तुत करते हैं। उसमें राज्यतन्त्र के वर्णन, विभाग और कार्य दिये हुए होते हैं, उसके नियमित अधिकार बतलाये जाते हैं और उस संघटन को बदलने का अन्तिम अधिकार लोगों के हाथ में दिया रहता है। राज्य-संघटन के अन्तर्गत राज्य का स्वरूप और व्यवस्था भी आती है। और राज्यतन्त्र की सत्ता तथा स्वतन्त्रता नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य तथा दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा मर्यादा आदि सबका समन्वय करनेवाले तत्व और नियम ग्रथित रहते हैं।

आजकल राज्य-संघटन बहुधा लिखित प्रकार का होता है। प्राचीन काल में वह प्रधानतः अलिखित प्रकार का ही होता था। कुछ राज्य-संघटन तो ऐसे लचीले होते हैं जिनमें सुगमतापूर्वक परिवर्त्तन किया जा सकता है; और कुछ ऐसे दृढ़बद्ध होते हैं, जिनमें परिवर्त्तन करना बहुत कठिन होता है। लचीले राज्य-संघटन कायदे और कानून बनाने की सामान्य प्रणाली से ही बदले जा सकते हैं। परन्तु दृढ़बद्ध राज्य-संघटन कुछ विशेष योजना के अनुसार ही बदले जा सकते हैं। अंग्रेजी राज्य संघटन बहुत से अंशों में अलिखित और लचीला है और अमेरिकन राज्य संघटन लिखित तथा दृढ़बद्ध है। रचना के इन भिन्न प्रकारों का नागरिकों के अधिकारों, कर्त्तव्यों और सत्ता तथा स्वतन्त्रता पर कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होता है।

राज्य-संघटन के लिए जो नियम पहले बना दिये जाते हैं, उनके अतिरिक्त उस संघटन का उद्देश्य पूरा करने के लिए अनेक रूढियाँ और परम्पराएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। ये रूढियाँ और परम्पराएँ संघटन के मूल तत्वों के अनुकूल ही होती हैं और उनके द्वारा उसका कार्य सुगमता और शान्ति से होता है।

प्रत्येक राज्य को समय और कार्य की आवश्यकताओं को देखते हुए राज्य-संघटन में कुछ परिवर्त्तन और सुधार करना पड़ता है। इससे लोगों के नवीन विचारों और कार्यों को यथेष्ट क्षेत्र और सहायता मिलती है और राज्य-संघटन के बन्धन लोगों की उन्नति के बाधक नहीं होते, बल्कि साधक ही होते हैं। जब राज्य-संघटन में परिवर्त्तन करने की आवश्यकता उत्पन्न होती है, तब लोगों में बहुत खलबली मचती है और अनेक सहकारी तथा विरोधी पक्ष तैयार हो जाते हैं।

राज्यतन्त्र के तीन मुख्य अंग हुआ करते हैं। उन्हीं में सारी सत्ता और अधिकार विभक्त होते हैं। उनमें से एक अंग निर्बन्ध या कानून बनाने का काम करता है, दूसरा न्यायदान का काम करता है और तीसरा सब कार्यों का संचालन करता है। इन्हीं तीनों अंगों की उचित व्यवस्था, उनमें के अधिकार-विभाग और पारस्परिक सम्बन्ध पर ही राज्यतन्त्र के कार्य और प्रकार अवलम्बित रहते हैं। हमें इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का विचार करना पड़ता है कि इनमें बँटी हुई सत्ता एक दूसरी से स्वतन्त्र होनी चाहिए या एक दूसरी की सहकारी होनी चाहिए या परस्परावलम्बी होनी चाहिए। और इसका कारण यह है कि नागरिकों के अधिकार तथा स्वतन्त्रता इन्हीं सब बातों पर अवलम्बित रहती है। अधिकार-विभाग के सिद्धान्तों के अनुसार राज्य, निर्बन्ध, कार-बार और न्याय के कार्य भिन्न भिन्न और स्वतन्त्र संस्थाओं और अधिकारियों को करने चाहिएँ और उन्हें एक दूसरे के कार्यक्षेत्र और अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इससे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता बनी रहती है और राज्य के सब कार्य सुगमतापूर्वक होते रहते हैं। यदि सारी सत्ता एक ही व्यक्ति, एक ही अंग अथवा एक ही संस्था के हाथ में हो तो फिर उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रह जाता। वह व्यक्ति, अंग अथवा संस्था स्वेच्छाचारिणी और स्ववश हो जाती है। यदि सारा अधिकार एक ही हाथ में हो तो उसका शासन प्रजा के लिए कष्टदायक हो जाता है। परन्तु इस प्रकार

का अधिकार-विभाग स्वयं राज्य के कार्यों के संचालन के लिए सुलभ और ठीक नहीं होता। राज्य के सब कार्य सुगमतापूर्वक और ठीक तरह से चलाने के लिए इन तीनों अंगों को एकचित्त होना चाहिए और उनमें सहकार रहना चाहिए; और विशेषतः निर्बन्ध या कानून बनानेवाली लोक-सभा की और सब अंगों पर प्रधानता होनी चाहिए। प्रत्येक अंग के हाथ में कुछ तो नियमित और मुख्तारी के या दूसरों द्वारा प्रदत्त और कुछ प्रासंगिक निजी अधिकार रखने पड़ते हैं। तभी राज्यतन्त्र के सब काम सुगमतापूर्वक चल सकते हैं। राज्यतन्त्र के सब काम अच्छी तरह चलाने के लिए यह आवश्यक है कि निर्बन्धकारी और कर देनेवाली सत्ता का कार्यकारी सत्ता के साथ सदा झगड़ा या विरोध ही न बना रहे। इंग्लैंड में इसी प्रकार का झगड़ा या विरोध उत्पन्न होने पर निर्बन्धकारी लोक-सभा कभी कभी कार्यकारी प्रधान मंडल पर अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत करती है अथवा उसकी नीति या कार्य के सम्बन्ध में अपना असन्तोष प्रकट करती है और इस प्रकार उसे अधिकार-त्याग करने के लिए विवश करती है। उधर प्रधान मंडल जब लोक-सभा का बहुत विरोधी हो जाता है, तब वह राजा के द्वारा लोक-सभा का विसर्जन करा देता है और उसका फिर से निर्वाचन कराता है। प्रधान मंडल सदा लोक-सभा का ही चुना हुआ होता है और उसी पर अवलम्बित रहता है। अमेरिका में इन तीनों अंगों का स्वतन्त्र और अलग अलग निर्वाचन होता है और तब उन्हें आपस में सहकार करना पड़ता है। अँगरेजी प्रणाली में सत्ता का केन्द्रीकरण है और अमेरिकन प्रणाली में सत्ता का विभाग है। इंग्लैंड में जो लोग राज्य के सब कार्य करते हैं, वे लोकमत के सामने अधिक उत्तर-दायी होते हैं और अमेरिकावाले लोकमत के सामने उतने उत्तरदायी नहीं होते। इसी से इंग्लैंड के नागरिकों के लिए स्वतन्त्रता अधिक सुलभ है।

राज्यतन्त्र की अनेक प्रणालियाँ और प्रकार हैं। उनका वर्गीकरण नियन्त्रित और अनियन्त्रित, लोकसत्ताक और राजसत्ताक आदि प्रकारों में

किया जा सकता है। अरस्तू ने राज्यतन्त्र के तीन न्याय्य प्रकार और तीन विपरीत प्रकार बतलाये हैं। उसके मत के अनुसार राज्यतन्त्र या तो एक राजा के अथवा अल्पजनों के अथवा बहुजनों के हाथ में रहता है। जिस समय राज्यतन्त्र के सब कार्य सब लोगों के हित की दृष्टि से होते हों, उस समय समझना चाहिए कि राज्यतन्त्र न्याय्य प्रकार का है। पर जिस समय राज्य के सब कार्य स्वयं राज्य करनेवालों के स्वार्थ की दृष्टि से होते हों, उस समय उसे विपरीत प्रकार का समझना चाहिए। राज्यतन्त्र ऐसा होना चाहिए जो सदा प्रजा के हित के लिए तत्पर रहे। नहीं तो राज्य का कार्य अत्याचारपूर्ण हो जाता है। अरस्तू के इस वर्गीकरण से आजकल के समय में पूरा पूरा काम नहीं चल सकता। आजकल राज्यतन्त्र के अनियन्त्रित राज्यसत्तात्मक और नियन्त्रित लोकसत्तात्मक के भेद से वर्गीकरण किया जाता है; और तब फिर आगे लोकसत्तात्मक प्रणाली के प्रधान मंडलात्मक, अध्यक्षात्मक, सांघिक और एक-केन्द्रात्मक आदि विभाग करके उनका वर्गीकरण किया जाता है।

जिस राज्यतन्त्र में निर्वन्ध और संघटन का नियन्त्रण न हो, वह अनियन्त्रित राजसत्तात्मक प्रणाली का होता है। इसके विपरीत जो राज्यतन्त्र संघटन और निर्बन्ध से बँधा हुआ होता है, वह नियन्त्रित लोकसत्तात्मक प्रणाली का होता है। ऐसा राज्यतन्त्र लोकानुवर्ती रहता है और राजसत्तात्मक प्रणालीवाले राज्यतन्त्र की तरह स्वेच्छाचारी और निरंकुश नहीं होता। कुछ राज्यों में राजा के रहते हुए भी ऐसी व्यवस्था होती है कि उनका संघटन लोक-निर्मित और निर्वन्धों या कानूनों से बँधा हुआ होता है। ऐसे राज्यों के राजा नामधारी होते हैं, सत्ताधारी और दंडधारी नहीं होते। राज्य के ऐसे प्रकार को नियन्त्रित राजसत्तात्मक प्रणाली कहते हैं। दूसरे प्रकार के राज्यों में राजा नहीं होता। वहाँ लोक-नियुक्त अथवा लोक-सभा द्वारा नियुक्त अध्यक्ष या राष्ट्रपति रहता है। ऐसे राज्य-प्रकार को लोकसत्तात्मक प्रणाली कहते हैं।

लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली के प्रधान-मंडलात्मक प्रकार में कार्यकारी प्रधान मंडल अपने यहाँ की लोक-नियुक्त प्रातिनिधिक सभा के सामने पूर्ण रूप से उत्तरदायी रहता है। प्रधान मंडल-निविष्ट कार्यकारी सत्ता सदा लोक-सभा-निविष्ट निर्बन्धकारी सत्ता के सामने उत्तरदायी रहती है। उसका और उसमें के मन्त्रियों का आयुष्य या कार्यकाल प्रातिनिधिक सभा की इच्छा पर अवलम्बित रहता है। ये सब अधिकारी या मन्त्री प्रातिनिधिक सभासदों में से ही चुने जाते है, कार्यकारी मंडल के लिए लोगों के द्वारा उनका कोई स्वतन्त्र निर्वाचन नही होता। प्रतिनिधि सभा में जिस मत या पक्ष के सभासदों की अधिकता होती है, उसी मत या पक्ष के नेताओं पर प्रधान मंडल का काम आ पड़ता है; और कार्यकारी तथा योजक सत्ता उन्हीं के हाथ में चली जाती है। वही राज्य के कार्यकारी और प्रधान मन्त्री होते हैं। इस प्रणाली का मुख्य लक्षण यह है कि राज्य का कार-बार करनेवाले प्रधान मंडल और अधिकारियों पर लोक-प्रतिनिधि सभा का पूरा पूरा नियन्त्रण होता है। ज्यों ही वह सभा प्रधान मंडल के कार्य का विरोध करे, अथवा उसके प्रति अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत करे, त्यों ही प्रधान मंडल को अपने अधिकार का त्याग कर देना चाहिए।

अध्यक्षात्मक राज्यतन्त्र में कार्यकारी मन्त्रिमंडल और अध्यक्ष का आयुष्य या कार्यकाल निर्बन्धकारी प्रतिनिधि सभा की इच्छा पर अवलम्बित नहीं होता। उनका निर्वाचन प्रतिनिधि सभा के सभासद लोग नहीं करते। कुछ मतदाता स्वतन्त्र रूप से कुछ निश्चित वर्षों के लिए राज्यतन्त्र के कार्यकारी अंग के प्रमुख रूप में अध्यक्ष का निर्वाचन करते हैं। इस प्रकार की राज्य-प्रणाली में निर्बन्धकारी, कार्यकारी और न्यायकारी का अर्थात् राज्यतन्त्र के त्रिविध अंगों और अधिकारियों का विभाग किया हुआ होता है। कार्यकारी सत्ता के अध्यक्ष का अस्तित्व, स्थान और कार्य-काल निर्बन्धकारी सत्ता के मत पर अवलम्बित नही होता। हाँ, उसे अपने सब कार्य अवश्य निर्बन्धों या कानूनों के अनुसार ही करने पड़ते हैं। उसका

अधिकार और स्थान तो स्वतन्त्र होता है, परन्तु अपने कार्यों के लिए वह सब प्रकार से निर्बन्धकारी सत्ता के सामने उत्तरदायी रहता है। यदि निर्बन्धकारी सत्ता अपने अध्यक्ष और उसके मन्त्रिमंडल के प्रति अविश्वास अथवा विरोध का प्रस्ताव स्वीकृत भी कर ले तो भी अध्यक्ष और उसके मन्त्रिमंडल के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वे अपने अधिकार और स्थान का परित्याग करें। अध्यक्ष और कार्यकारी मंडल के मन्त्री लोक-सभा के भी सभासद होते हैं और उसमें बैठने को उन्हें स्थान मिलता है। अध्यक्ष अपने कार्यकारी मंडल के मंत्रियों को स्वयं ही चुनता है और आवश्यकता होने पर उन्हें निकाल भी सकता है। सब मन्त्री उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

जब कुछ स्वतन्त्र राज्य या रियासतें स्वयं अपनी सम्मति से अपनी सारी प्रभुता और स्वतन्त्रता किसी ऐसी बड़ी मध्यवर्ती अधिसत्ता में विलीन करती हैं जिसका निर्माण वे सब स्वयं मिलकर करती हैं और स्वयं उस नवीन संघात्मक राज्य की अंगभूत रियासतें बनकर रहती हैं, तब उन सब राज्यों या रियासतों के नवीन राजकीय संघटन को संघात्मक अथवा संयुक्त राज्य कहते हैं। अधिसत्ता का अधिष्ठान कुछ अंशों में तो उस मध्यवर्ती संस्था में चला जाता है और कुछ अशों में उन अंगभूत राज्यों या रियासतों में रहता है। उस नवीन संघात्मक राज्य का जो संघटन सब रियासतें आपस में परामर्श करके निश्चित करती हैं, उसी के अनुसार उन सब रियासतों की अधिकार-मर्यादा निश्चित रहती है। और मुख्य न्यायसत्ता को यह निर्णय करने का अधिकार रहता है कि कहीं कोई रियासत उस मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं कर रही है। मध्यवर्त्ती संस्था और उसकी अंगभूत रियासतों की सत्ता, कार्य और अधिकार पहले से ही निश्चित रहते हैं। कुछ संघात्मक राज्य-संघटनों में अन्तिम और शेष अधिकार मध्यवर्त्ती संस्था के हाथ में रहता है और कुछ संघात्मक राज्य-संघटनों में वह अंगभूत रियासतों के हाथ में होता है। ये दोनों ही प्रकार

के अधिकार-विभाग उन रियासतों की ऐतिहासिक और तत्कालीन परिस्थितियों तथा राजकीय भावनाओं पर अवलम्बित रहते हैं ।

इससे यह पता चलता है कि संघात्मक राज्यतन्त्र उस नवीन राज्य-संघ अथवा मध्यवर्त्ती राज्य-संस्था को कहते हैं जिसकी स्थापना दो या अधिक राज्य एकत्र होकर आपस की सम्मति से करते है। सामान्यतः उनका राजकीय संघटन लिखित होता है। संघ के अंगभूत स्थानिक राज्यों और मध्यवर्त्ती संयुक्त संस्था के राज्याधिकारों और कामों का विभाग या बँटवारा पहले से ही कर दिया जाता है। मध्यवर्त्ती संयुक्त राज्यतन्त्र अपने अंगभूत राज्यों के राज्यतन्त्रों से कुछ राज कार्यों में अधिक महत्त्व का और समर्थ होता है। कुछ स्थानों में अन्तिम और शेष अधिसत्ता उसी मध्य-वर्त्ती संयुक्त संस्था के हाथ मे ही रहती है। इस प्रकार के संयुक्त राज्य की स्थापना होते ही उसके अंगभूत राज्यों या रियासतों की स्वतन्त्र अधिसत्ता नष्ट हो जाती है और वे सब राज्य या रियासतें उस मध्यवर्त्ती संयुक्त राज्य की घटक-स्वरूप बनकर रहती हैं। उन राज्यों या रियासतों के हाथ में राज्य सघटन के अनुसार दिये हुए कुछ अधिकार और काम रहते हैं और बाकी सब कामों की देख-रेख और बचे हुए अधिकार तथा काम और अन्तिम सत्ता उसी संयुक्त राज्यतन्त्र के हाथ में रहती है। जो काम घटक राज्यों को सौंप दिये जाते हैं अथवा जो अधिकार उन्हें दे दिये जाते हैं, उनमे हस्तक्षेप करने का अधिकार सयुक्त राज्यतन्त्र को नहीं होता।

एककेन्द्रात्मक राज्यतन्त्र एकमुखी होते हैं। उनमें प्रान्तिक और स्थानिक राज्य-सस्थाओं का अस्तित्व उसी सत्ता के कारण होता है जो मध्यवर्त्ती राज्य संस्था को सौंपी हुई होती है और वही मध्यवर्त्ती राज्य-संस्था उन प्रान्तिक तथा स्थानिक राज्य-संस्थाओं को अधिकार भी देती है और कार्य भी सौंपती है। वे अधिकार तथा कार्य मूलतः मध्यवर्त्ती सत्ता के होते हैं और वे उन प्रान्तिक और स्थानिक राज्य-संस्थाओं को अपने कनिष्ठ स्थानिक विभाग समझ कर उन्हें वे अधिकार तथा कार्य

सौंपती है। राज्य के कार-बार के स्थानिक घटक किसी प्रकार स्वतन्त्र नहीं होते; वे मध्यवर्त्ती राज्य-संस्था के ही निर्माण किये हुए होते हैं। उनके अधिकारी भी मध्यवर्त्ती अधिसत्ता के प्रतिनिधि और हस्तक हुआ करते हैं। उनके कार्यों आदि के सम्बन्ध में निर्बन्ध या कानून और नियम आदि बनाने का अधिकार भी पूर्ण रूप से मध्यवर्त्ती अधिसत्ता को ही होता है। यही एकमुखी राज्यतन्त्र का मुख्य लक्षण है।

स्थानिक स्वतन्त्रता और स्वराज्य की दृष्टि से संघात्मक राज्य-प्रणाली ही अधिक हितकारी है। एकमुखी राज्य प्रणाली इसलिए अधिक सामर्थ्यवान् हो जाती है कि उसमें समस्त अधिकार तथा अधिसत्ता एक ही स्थान में केन्द्रीभूत हो जाती है।

आजकल यह प्रश्न उठाया जाता है कि राज्यतन्त्र के निर्बन्धकारी अंग में एक ही प्रातिनिधिक सभा होनी चाहिए अथवा दो होनी चाहिएँ। कुछ लोगों का मत यह है कि धनवान और कुलीन वर्गों के स्थान, मान और अधिकार की रक्षा करने के लिए सामान्य प्रातिनिधिक सभा के सिवा ज़मींदारों, सम्पत्तिशालियों और हक़दारों की एक विशेष और अलग सभा होनी चाहिए। इसका फल यह होगा कि सामान्य सभा में जो निर्णय होंगे और जो निर्बन्ध या कानून बनेंगे, उनकी इस विशेष सभा में अच्छी तरह जाँच-पड़ताल हो जाया करेगी जिससे राज्य में कोई अविचारपूर्ण कार्य न हो सकेगा, समाज की स्थिति पर क्रान्तिकारक आघात करनेवाले कायदे-क़ानून न बन सकेंगे और समाज को इन बड़े लोगों के ज्ञान, अनुभव और विद्या से लाभ पहुँच सकेगा। इससे समाज की व्यवस्था बनी रहेगी और सुधार ठीक तरह से हो सकेंगे। यह भी कहा जाता है कि इस विशेष सभा में विद्वान, अनुभवी, बड़े और ऐसे लोगों को स्थान मिलना चाहिए जो राज्य की अच्छी सेवा कर चुके हों। ऐसे लोगों की राज्य के द्वारा नियुक्ति नहीं होगी, बल्कि ये भी प्रजा के द्वारा ही निर्वाचित होंगे। पर कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनका यह मत है

कि सब लोगों की ओर से चुनी हुई एक ही सामान्य प्रातिनिधिक सभा होनी चाहिए; और उस पर दूसरी विशेष सभा का नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। यदि उस पर नियन्त्रण रखनेवाली दूसरी विशेष सभा होगी तो देश की अधिक उन्नति न हो सकेगी और उन्हीं लोगों का पक्ष प्रबल हो जायगा जो देश में जल्दी किसी प्रकार का परिवर्त्तन नहीं होने देना चाहते। इन दोनों ही पक्षों के मत नीचे दिये हुए उद्धरणों में ग्रथित हैं।

जब तक बड़े लोगों की विशेष सभा न हो, तब तक सामान्य लोगों की प्रातिनिधिक सभा में बुद्धिमत्ता या समझदारी नहीं आती। और जब तक सामान्य लोगों की सभा न हो, तब तक बड़े लोगों की सभा में प्रामाणिकता नहीं आती। (हेरिंगटन, सन् १६११-१६७७)

यदि विशेष सभा का सामान्य सभा के साथ मतभेद हो तो वह घातक है; और यदि दोनों में मतभेद न हो तो विशेष सभा अनावश्यक है। (ऐबसिए, सन् १७४८-१८३६)

राज्यतन्त्र के कार्य के विभाग इस प्रकार होते हैं—अंगभूत अथवा आवश्यक और हितकारक अथवा ऐच्छिक। यदि अंगभूत या आवश्यक काम न किये जायँ तो राज्यतन्त्र ठहर नहीं सकेगा; और यदि हितकारक कार्य न किये जायँ तो लोग सुखी और सद्गुणी न हो सकेंगे। अंग-भूत अथवा आवश्यक कार्य ऐसे होते हैं जो राज्य के अस्तित्व के लिए आवश्यक बातों का संग्रह और संरक्षण करते हैं। राज्य-संघटन को सँभालना या बनाये रखना, परचक्रों से उसकी रक्षा करना, समाज में व्यवस्था और शान्ति बनाये रखना, निर्बन्ध या कानून बनाना, देश के सार्वराष्ट्रीय स्थान, नीति और महत्त्व की रक्षा करना, लोगों के जीवन और धन की रक्षा करना, अपराधियों को दंड देना और कारागार में भेजना, न्याय करना, कर वसूल करना, प्रजा के अधिकार और कर्त्तव्य निश्चित करना, देश की चलन निश्चित करना, राज्यतन्त्र के लिए आवश्यक

इसी प्रकार की और बहुत सी बातें करना आदि सब काम अंगभूत या आवश्यक कामों के अन्तर्गत आते हैं। यदि स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो ऊपर बतलाये हुए सब काम मनुष्यों के जीवन, सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, नागरिक संस्था, न्याय और राज्य के आय व्यय से ही सम्बन्ध रखते हैं।

ऐच्छिक अथवा हितकर कार्य मुख्यतः लोगों के स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखते हैं। इनके द्वारा मनुष्यों की स्थिति सुधारने और हित की रक्षा तथा वृद्धि करने का ही प्रयत्न होता है। उनमें शिक्षा, आरोग्य, स्वच्छता, उद्योग-धन्धों की रक्षा और प्रोत्साहन, व्यापार और लेन-देन का नियन्त्रण, दीन-दुःखियों की व्यवस्था और औषधोपचार, मजदूरी और काम-धन्धा करनेवाले लोगों के हित के लिए उपायों की योजना, अकाल-सम्बन्धी योजना, नाप-तौल आदि का नियन्त्रण और देख-रेख, सहयोग सम्बन्धी आन्दोलन, रेलों और नौकाओं के मार्ग, छोटी अवस्थावाले अपराधियों के सुधार के लिए शालाएँ और विश्रामगृह आदि की स्थापना, मादक पेयों और द्रव्यों का प्रतिबन्ध या नियमन, खाने-पीने की वस्तुओं की परीक्षा और व्यवस्था, नगर-रचना, नगरोद्यान, पदार्थ-संग्रहालय आदि बातों का समावेश होता है।

हिन्दू शास्त्रकारों ने राज्यतन्त्र के कार्यों के निग्रह और अनुग्रह नाम के दो विभाग अथवा क्षेमकारक और योगकारक नाम के दो प्रकार के अधिकार बतलाये हैं। एक का उद्देश्य "कंटकशोधनम्" (अर्थात् बुरी बातों और दुष्टों का निराकरण) होता है और दूसरे का उद्देश्य "धर्म-स्थीयम्" (अर्थात् धर्म की स्थापना करनेवाले, लोकहितात्मक और पुण्य-संचयात्मक काम) करना कहा है।

> दुष्टस्य दंडः सुजनस्य पूजा न्यायेन कोशस्य संप्रवृद्धिः।
> अपक्षपातोऽर्थिषु राष्ट्ररक्षा पंचैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम्॥
>
> अत्रिसंहिता।

अर्थात् दुष्टों को दंड देना, सुजनों का सम्मान करना, न्यायपूर्वक कोश

की वृद्धि करना, निष्पक्ष होकर न्याय करना और राज्य की रक्षा करना ही राजा के पाँच कर्त्तव्य कहे गए हैं।

समाज की प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य की अधम अथवा दुष्ट प्रवृत्तियों को रोकने के लिए और इस प्रकार उसे अधिक समाजशील तथा सहकार के योग्य बनाने के लिए अधिसत्ता को नियन्त्रण और शासन का उपयोग अधिक विस्तृत परिमाण में, अधिक कठोरतापूर्वक और प्रायः करना पड़ता था। छोटे छोटे अपराधों के लिए भी वह अपेक्षाकृत अधिक कठोर दंड दिया करती थी। समाज के हित को दृष्टि से मनुष्यों को आज्ञापालन, शान्ति, सहिष्णुता और सेवा आदि गुणों की अच्छी जानकारी होनी चाहिए। बल्कि ये सब बातें उसकी आदत में दाखिल होनी चाहिएँ; और इसी लिए आरम्भ में कठोर दंड की आवश्यकता हुआ करती थी। जब मनुष्य को एक बार इन सामाजिक और नैतिक गुणों का ज्ञान हो जाता है और आदत पड़ जाती है, तब उसे उच्च जीवन की ओर ले जाने के लिए अधिकाधिक सौम्य मार्ग का ही अवलम्बन किया जाता है। अपराधियों को शारीरिक दंड उतना अधिक नहीं दिया जाता और उन्हें मानसिक तथा नैतिक दंड देने की ओर ही अधिक ध्यान रखा जाता है। उस समय शासन की प्रवृत्ति मनुष्यों का मन सुसंस्कृत और सद्गुणी बनाने की ओर ही होती है। कठोर दंड देने से अपराधी सुधरता नहीं, बल्कि वह और भी अधिक उद्दंड हो जाता है; इसी लिए उसमें अपने दोषों की जानकारी और सद्गुणों के प्रति प्रीति उत्पन्न करनी चाहिए। तभी वह समाज मे सहवास और सहकार करने के योग्य होता है।

राज्यतन्त्र के कार्यक्षेत्र और अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रश्न यह है कि लोगों के जीवन-क्रम में राज्यतन्त्र का कितना हाथ होना चाहिए। इस प्रकार का हस्तक्षेप, जहाँ तक हो सके, अधिक होना चाहिए या जहाँ तक हो सके, कम होना चाहिए। सभी लोगों के हित की दृष्टि से राज्यतन्त्र के कार्यों का उचित क्षेत्र क्या होना

चाहिए ? भिन्न भिन्न सम्प्रदाय इन प्रश्नों के भिन्न भिन्न उत्तर देते हैं।

व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियों का मत है कि राज्यतन्त्र का कार्य, जहाँ तक हो सके, मर्यादित और नियन्त्रण, जहाँ तक हो सके, अल्प होना चाहिए। और इसका कारण वे यह बतलाते हैं कि राज्यतन्त्र कोई अच्छी संस्था नहीं है। बस इतना ही है कि लोक रक्षा की दृष्टि से वह आवश्यक है। उसका काम केवल रक्षा और न्याय करना है। बाकी और सब कामों और बातों में मनुष्यों को स्वतन्त्रता होनी चाहिए।

समाजसत्तावादियों का यह मत है कि राज्यतन्त्र का कार्य और उसका नियन्त्रण, जहाँ तक हो सके, व्यापक और अधिक होना चाहिए, क्योंकि राज्यतन्त्र केवल रक्षणात्मक और कुछ दूसरी अपरिहार्य बातों के लिए उपयोगी होनेवाली संस्था नहीं है, बल्कि वह लोकहितकारक संस्था है। उसके लिए शैक्षणिक, सांस्कृतिक और लोकहित-संवर्धक कार्य करना और तत्सम्बन्धी निर्बन्ध बनाना और नियन्त्रण रखना इष्ट होता है। पहले तो व्यक्तियों को इस बात का पता ही नहीं चलता कि हमारा पूरा पूरा हित किन बातों में है; और यदि उन्हें इस बात का पता चल भी जाय तो भी जब तक राज्यसत्ता उनके हितों की ओर ध्यान न दे और उनकी सहायता न करे, तब तक उन हितो का सुगमतापूर्वक साधन नहीं हो सकता।

अराजकतावादियों, समाज समतावादियों और समुदायवादियों का यह मत है कि राज्यतन्त्र की, उसके नियन्त्रण की और सहायता की बिलकुल कोई आवश्यकता ही नहीं है। मनुष्य स्वभावतः बहुत अच्छा है और इसलिए वह अपराध तथा कलह करनेवाला नही है। ऐसी अवस्था में उसके लिए किसी प्रकार के रक्षण या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं है। यदि आरम्भ मे ही उसके लिए उचित और समानता की सामुदायिक परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाय तो फिर वह स्वेच्छापूर्वक संघ और समुदाय का निर्माण करके अपने सब काम आप ही कर लेगा और अपनी सामाजिक इच्छाएँ तथा आकांक्षाएँ तृप्त कर लेगा। फिर उसे दूसरों के साथ

लड़ने और झगड़ा-बखेड़ा करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जायगी, क्योंकि ऐसे समाज में वैयक्तिक स्वामित्व और वैयक्तिक सत्तावाले सिद्धांतों की प्रतिष्ठा तो रह ही नहीं जायगी; इसलिए फिर काम, क्रोध तथा लोभ आदि के द्वारा होनेवाले अपराधों का कहीं नाम भी न रह जायगा। और फिर जब प्रत्येक परिश्रम करनेवाले मनुष्य के अन्न-वस्त्र, औषधोपचार, निवास, विश्राम और सुख की उचित व्यवस्था हो जायगी, तब समाज में अपराध होंगे ही नहीं; और उस दशा में मनुष्यों को अपने नित्य के आवश्यक कार्य करने के उपरान्त मानसिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए यथेष्ट अवसर मिलेगा।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्यवादियों का यह मत है कि प्रत्येक मनुष्य को अपने सब काम स्वयं ही स्वतन्त्रतापूर्वक करने चाहिएँ। उसे इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक अपने सब काम करने का अधिकार है। स्वतन्त्रता मनुष्य मात्र की अमूल्य धरोहर या सम्पत्ति है। मनुष्य अपना हित स्वय ही अधिक अच्छी तरह समझ सकता है और वह स्वयं ही अच्छी तरह अपना हित कर भी सकता है। उसे अपनी उन्नति के लिए स्वयं अपनी इच्छा के अनुसार परिश्रम तथा कार्य करने और अपनी योग्यता के अनुसार यशस्वी या विफल होने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इस मत में मनुष्य के व्यक्तित्व और स्वतन्त्र वृत्ति के लिए अवकाश है। यदि इस सिद्धान्त के अनुसार समाज की व्यवस्था हो तो इसके प्रतिपादकों का कहना है कि जो लोग सबसे अधिक योग्य होंगे, वही आगे आवेंगे और जीते बचेंगे। साथ ही लोग अनेक प्रकार के प्रयत्न और उद्योग करनेवाले निकलने लगेंगे। जो लोग आलसी और कामचोर होंगे, वे पिछड़ जायँगे। इससे समाज और भी अधिक सम्पन्न तथा बलवान होगा। परन्तु इस मत के कुछ दुष्परिणाम भी हैं। यदि विशेष स र्थ लोग स्वार्थ से प्रेरित होंगे तो वे समाज में बहुत ही बुरी अवस्था उत्पन्न कर देंगे; और जब उनके हाथ में सम्पत्ति, सत्ता और स्वतन्त्रता एकत्र हो जायगी, तब उसका दुरुपयोग ही होगा।

इससे सद्गुणी तथा दुर्बल मनुष्यों को कष्ट और दुःख भोगना पड़ेगा। यदि सामान्य मनुष्यों को स्वतन्त्रता दे भी दी जाय, तो वे यह नहीं समझ सकते कि हमारा सच्चा हित किस बात में है; और न वे उस हित का साधन ही कर सकते हैं। तो फिर बुरी परिस्थिति में समर्थों के साथ प्रतियोगिता करके वे अपने हितों का किस प्रकार साधन कर सकेंगे? राज्यतन्त्र की तटस्थता के कारण बहुत से सामान्य लोगों को अनेक प्रकार के उत्पीडन, कष्ट और दरिद्रता भोगनी पड़ी है। उन्हें जीवन के लिए आवश्यक और आरोग्य के लिए पोषक वस्तुएँ प्राप्त नहीं हो सकीं। उनकी स्वाभाविक इच्छाएँ और कायिक तथा मानसिक आकांक्षाएँ अतृप्त ही रह गईं और उन्हें अनेक प्रकार के रोगों, अकाल में ही आनेवाले बुढ़ापे, पंगुता अथवा मृत्यु ने ग्रस लिया है और कौटुम्बिक तथा सांस्कृतिक जीवन का स्वास्थ्य, आश्रय और आनन्द उन्हें प्राप्त नहीं हो सका है। ऐसी अवस्था में यदि समर्थ व्यक्तियों के लिए नहीं तो कम से कम सामान्य व्यक्तियों के जीवन और सुख की दृष्टि से व्यक्ति-स्वातन्त्र्य-वाद अनिष्ट है। सामान्य लोगों की केवल रक्षा की ही दृष्टि से नहीं, बल्कि उनके हित की दृष्टि से भी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का उचित नियन्त्रण होना चाहिए। स्वार्थपूर्ण प्रतियोगिता से नहीं बल्कि एक दूसरे की सहकारिता और राज्यतन्त्र की सहायता से ही प्रत्येक व्यक्ति के हित का साधन हो सकता है और सुगमतापूर्वक हो सकता है।

समाजसत्तावादियों के मत का आधार व्यक्ति के सामुदायिक प्रयत्न और सामाजिक सत्ता के नियन्त्रण पर अवलम्बित है। इससे परिश्रम का व्यर्थ व्यय या नाश बचता है और घातक प्रतियोगिता रुकती है। सम्पत्ति का उत्पादन अधिक होता है। सम्पत्ति का विभाग भी सम और न्यायपूर्वक होता है। सबको समान अवसर मिलता है। दुर्बल, निराश्रित और विपदग्रस्त लोगों की बलिष्ठों से रक्षा होती है। सत्ता और सम्पत्ति केवल थोड़े से लोगों के हाथ में जाकर जमा नहीं हो जाती।

सामुदायिक उन्नति या प्रगति और सुख में ही वैयक्तिक उन्नति और सुख का सर्वोत्तम मार्ग है। यदि कोई मनुष्य किसी विषम परिस्थिति में बिलकुल अकेला पड़ जायगा, तो उसकी बहुत दुर्दशा होगी और वह मानों कपटी और पाप-पुण्य को न माननेवाले लोगों के भक्ष्य स्थान में जा पड़ेगा। अव्यवस्थित और व्यक्ति-प्रधान समाज में उचित प्रतियोगिता हो ही नहीं सकती। जिस मात्स्य न्याय को रोकने के लिए राजसत्ता का उदय हुआ था, वही मात्स्य न्याय फिर से एक दूसरे, परन्तु और भी अधिक हानिकारक रूप में अवतीर्ण होगा और मनुष्यों में शान्ति, समता और सख्य-भाव न रह जायगा। चारों ओर बलवानों का भय और आतंक छा जायगा।

प्रचलित मत मध्यम वृत्ति का है। आज-कल तत्वज्ञों और समाज-धुरीणों का मत कुछ ऐसा जान पड़ता है कि किसी तत्व या सिद्धान्त का अतिरेक नहीं होने देना चाहिए; और ऐसी व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए जिसमें समर्थ और अलौकिक व्यक्तियों के लिए भी स्थान रहे, उनका अन्त ही न हो जाय और समाज-सत्ता के नियन्त्रण में दुर्बल, निराश्रित और सामान्य लोगों की भी उचित रूप से रक्षा और पोषण हो सके। इससे उस कलह का कहीं नाम भी न रह जायगा जो आज-कल वर्गों वर्गों में, वर्णों वर्णों में, धनवान और दरिद्र में, उच्च और नीच में, सुखी और दुःखी में दिखाई पड़ती है। राज्यतन्त्र के कार्य रक्षणात्मक और पोषणात्मक होने चाहिएँ और उसे लोगों की क्षमता तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर कार्यों की योजना करनी चाहिए। उसे सबके हितों की ओर ध्यान देना चाहिए, सबकी आर्थिक, नैतिक, कायिक और मानसिक रक्षा करनी चाहिए और ऐसा अवसर तथा परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमें अच्छी तरह श्रेष्ठ जीवन व्यतीत किया जा सके।

राज्यतन्त्रवाले देशों के व्यक्तियों में और धार्मिक पन्थों तथा संघों,

'आर्थिक संघों और संस्थाओं, शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं और विद्यापीठों आदि और ऐसी संस्थाओं से, जो राजकीय नहीं हैं, जो सम्बन्ध होते हैं, उनका दो प्रकार से विचार किया जा सकता है। यदि हम यह मान लें कि राज्य सर्वक्षम और सर्वातीत किंवा परिपूर्ण और बुद्धिमय किंवा समाज का सच्चा हित और इच्छा प्रकट करनेवाला किंवा मनुष्य की समाज-प्रवृत्ति का सर्वश्रेष्ठ साध्य है, तो फिर व्यक्तियों और व्यक्तिसमूहों पर उसका पूरा पूरा नियन्त्रण होना चाहिए। अर्थात् इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और समूह की स्वतन्त्र प्रवृत्तियों और विरोधों का सामान्यतः समर्थन नहीं किया जा सकता। पर यदि राज्य को केवल साधन मान लें, अथवा यदि यह मान लें कि वह एक आवश्यक आपत्ति है, तो यही उचित जान पड़ेगा कि उसके हाथ में केवल इतनी सत्ता और नियन्त्रण होना चाहिए कि वह व्यक्तियों और समूहों के मार्ग के कण्टक और बाधाएँ दूर कर सके। इस मत की दृष्टि से व्यक्तियों और समूहों का सच्चा या वास्तविक अस्तित्व और स्वतन्त्र अधिकार होते हैं। और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि व्यक्तियों और समूहों में का विरोध और कलह दूर करने और दूसरे व्यक्तियों तथा समूहों के हित-सम्बन्धों का निर्णय करने के लिए राज्यसत्ता का कुछ नियन्त्रण अवश्य मान्य करना पड़ेगा। पर फिर भी नीति या विवेक की दृष्टि से अथवा समाज की दृष्टि से राज्यसत्ता को अमर्यादित सत्ता नहीं प्राप्त हो सकती।

आजकल के तत्वज्ञों, राजनीतिज्ञों और समाज-धुरीणों के सामने यह एक बहुत बड़ा प्रश्न उपस्थित है कि क्या इन दोनों मतों में कलह होना अपरिहार्य है अथवा इन दोनों का समन्वय करके कोई मध्यम मार्ग भी निकाला जा सकता है।

तेरहवाँ प्रकरण

लोकसत्ता

प्राचीन काल की राजसत्तात्मक शासन-प्रणाली वर्णसत्तात्मक शासन-प्रणाली और अल्पजनसत्तात्मक राज्य-प्रणाली का अब लोगों में कोई मान नहीं रह गया है और इन सबके स्थान पर आजकल लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली का विशेष मान हो रहा है और इसी का विशेष प्रचार भी हुआ है। जिस राज्य-प्रणाली में जनता की बहुसंख्या के हाथ में राजकीय अधिसत्ता होती है और उसके प्रतिनिधियों की सभा के हाथ में नैर्बन्धिक अधिसत्ता होती है, वही लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली कही जाती है। इस प्रणाली के स्वरूप और संघटन में स्थल और काल के अनुसार अनेक परिवर्त्तन हुए हैं। अमेरिका के प्रेसिडेण्ट अब्राहम लिंकन के मत से लोकसत्तात्मक राज्य वह है जो लोगों का हो, लोगों द्वारा परिचालित होता हो और लोगों के हित के लिए परिचालित होता हो। इस प्रकार का राज्य सब लोगों का और सब लोगों के लिए होता है। आजकल के राजकीय आन्दोलनों का मुख्य ध्यान लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली की ओर ही रहता है। प्राचीन काल में तो सभी नागरिकों की एक प्रत्यक्ष परिषद् हुआ करती थी, परन्तु इस शासन-प्रणाली का स्वरूप वैसा नहीं है, बल्कि इसका स्वरूप यह है कि इसमें सब लोगों के प्रतिनिधियों की सभा हुआ करती है। उस सभा में सब नागरिक स्वयं जाकर उपस्थित नहीं होते, बल्कि वे अपने प्रतिनिधियों के द्वारा वहाँ उपस्थित होते हैं; अर्थात् उसमें अपने प्रतिनिधियों को भेजते हैं। और राज्य के सब काम उन्हीं प्रतिनिधियों की सम्मति से और उन्हीं के बनाये हुए निर्बन्धों या कानूनों के अनुसार होते हैं; और राजसत्ता अपने सब कामों के लिए उन्हीं प्रतिनिधियों के सामने उत्तरदायी होती है।

प्राचीन राजनीतिकारों ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है और इतिहास में जो राजकीय घटनाएँ तथा बातें हो गई हैं, उनसे जो सिद्धान्त निकलते हैं, उनका अध्ययन करने से और गत तथा वर्त्तमान राजकीय संस्थाओं के गुणों और दोषों के अनुभव से राज्यशास्त्र का विचार करनेवाले पुरुषों की यह मत स्वीकृत और प्रतिपादित करने की ओर प्रवृत्ति हो रही है कि लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली ही उत्तम प्रणाली है। उनका मत है कि लोकमत को मनुष्यों के व्यवहारों के नियमन, हितों के पालन और नीति के पोषण का पूरा पूरा अधिकार होना चाहिए। समाज की अन्तिम अधिसत्ता राज्य-संघटन के अनुसार लोगों में ही होनी चाहिए। जनता के द्वारा चुनी हुई और बनाई हुई प्रातिनिधिक सभाओं के द्वारा ही उनके सब व्यवहार और कार्य होने चाहिएँ।

लोकसत्ता के मूल में व्यक्तियों की समानता, स्वतन्त्रता और शीलता की कल्पना या विचार ही मुख्य है। प्रत्येक सामान्य मनुष्य को सामाजिक और राजकीय संघटन तथा धार्मिक और आर्थिक व्यवहारों में स्वतन्त्रता और समानता दी जानी चाहिए। यदि सामान्य मनुष्य को ठीक ठीक अवसर मिले तो वह अपनी आर्थिक, नैतिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति कर लेगा, और इससे सारे समाज की उन्नति होगी। ऐसी अवस्था में सामाजिक, राजकीय और दूसरे कार्यों तथा व्यवहारों में उसे उचित स्थान, मान, अंश और अवसर मिलना चाहिए और उसके मार्ग की कृत्रिम बाधाएँ दूर होनी चाहिएँ। मनुष्य को किसी प्रकार की बाहरी सत्ता का दास और पराधीन नहीं होना चाहिए। सब लोगों को स्वाधीन और स्वतन्त्र होना चाहिए। प्रत्येक प्रकार की सत्ता का उद्गम उसी में होना चाहिए और वह सत्ता उन्हीं लोगों के अनुरोध और मत से चलनी चाहिए। किसी सत्ता को स्ववश और स्वेच्छाचारी स्थान नहीं मिलना चाहिए। मनुष्यों की रक्षा और हित-वृत्ति का मुख्य साधन सत्ता ही है। सत्ताधारियों के हाथ में मनमाने अधिकार नहीं होने चाहिएँ, बल्कि वे सब अधिकार लोकाधीन होने चाहिएँ।

समता की दृष्टि से किसी मनुष्य, जाति अथवा संघ का कोई विशेष मान या अधिकार नहीं होना चाहिए और प्रत्येक मनुष्य को समाज में समान अधिकार मिलना चाहिए। स्वतन्त्रता की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार पूरी तरह से आगे बढ़ने और व्यवहार या आचरण करने का अवसर मिलना चाहिए। बन्धुता की दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को सहकार्य और सेवा की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। लोकसत्ता सदा सामान्य मनुष्यों की सार्वजनिक दृष्टि, समाजशीलता, सामर्थ्य और योग्यता पर अधिष्ठित रहती है। ऐसी अवस्था में सामान्य मनुष्यों को इन दृष्टियों से अधिकारी पुरुष बनाना आवश्यक है। लोगों का लोभ, भय, स्वार्थ और स्वच्छन्दता कम करनी चाहिए। यदि लोगों की योग्यता, विश्वास, शिक्षा, कार्यक्षमता और सार्वजनिक दृष्टि उच्चतर नहीं होगी तो लोकसत्ता कभी सफल या यशस्वी न हो सकेगी। यदि लोगों का मन और दृष्टि निम्न कोटि की होगी तो उनके हाथ में सत्ता देना भी भारी धोखे का काम होगा। जो लोग सत्ताधारी और नीति निर्धारित करनेवाले हों, वे बुद्धिमान्, दूरदृष्टिवाले, समतावृत्तिवाले, सार्वजनिक हितबुद्धिवाले, न्यायशील और लोकहितार्थी होने चाहिएँ।

आजकल लोगों के सामने यह भी एक बहुत बड़ा प्रश्न है कि लोकसत्ता किस प्रकार सुसंघटित और लाभदायक बनाई जाय। साथ ही यह भी एक प्रश्न है कि इस संघटन में लोगों की इच्छा और विचार किस तरह ठीक ठीक प्रदर्शित किए जायँ और किन किन संस्थाओं तथा विश्वासों के द्वारा इनका दिग्दर्शन और व्यवहार कराया जाय। शासन-व्यवस्था और राज्य-तन्त्र में लोकसत्ता को अधिष्ठित और मुद्रित कराने का उचित प्रकार या मार्ग कौन सा है? बस यही सब बातें ऐसी हैं जिन पर हमें विचार करना चाहिए। अर्थात् हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि राज्यतन्त्र की निर्बन्धकारी, कार्यकारी और न्यायकारी सत्ता का नियमन करने का प्रयत्न करने के सम्बन्ध में लोकतन्त्र के क्या क्या सिद्धान्त और कौन कौन सी योजनाएँ हैं।

आजकल जिन अनेक मार्गों और उपायों से लोकसत्ता संघटित करने का प्रयत्न हो रहा है, उनमें से लोक-प्रतिनिधित्व की प्रणाली एक मुख्य और महत्त्व का मार्ग है; और सभी लोकसत्तात्मक संस्थाओं और समाजों का मुख्य आधार है। बस इसीके द्वारा लोकसत्ता यशस्वी या सफल हो सकती है। पहले स्थानिक लोक-सभाओं और ग्रामों तथा जातियों की पंचायतों में एक प्रकार से यही प्रतिनिधित्व की प्रणाली प्रचलित थी। परन्तु आजकल मध्यवर्त्ती और प्रान्तिक राज्यतन्त्र की रचना में परिणत स्वरूप में उसका उपयोग और योजना की जाती है। प्रातिनिधिक राज्य-प्रणाली में दो उद्देश्य दृष्टि के सामने रखने पड़ते हैं। पहला उद्देश्य तो यह है कि राज्यतन्त्र जनता के अधीन और उसके प्रति उत्तरदायी होना चाहिए; और दूसरा उद्देश्य यह है कि राज्यसत्ताधारी ही जो जनता है, उसकी इच्छा और मत उसमें उचित रूप से प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

इस लोकप्रतिनिधि सत्तात्मक राज्यतन्त्र की रचना करते समय अनेक प्रश्नों का विचार और निर्णय करना पड़ता है; और वे प्रश्न लोगों के अनुभव, इच्छा और समाज की स्थिति पर अवलम्बित रहते हैं। इनमें से मुख्य प्रश्न मताधिकार के क्षेत्र और प्रणाली का है। प्रत्येक वयस्क, राज्य-निष्ठ और एसे व्यक्ति को, जो शरीर से पंगु या मन से भ्रमिष्ठ न हो या जिसे कोई विशेष प्रकार का दण्ड न मिला हो, मतदान का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपना अपना हित समझता है, इसलिए उसे अपना मत प्रदर्शित करने के लिए अवसर, साधन और अधिकार मिलना चाहिए; और यह अधिकार होना चाहिए कि वह लोकसभा के लिए अपना प्रतिनिधि निर्वाचित कर सके। इससे वह उन बातों का विरोध कर सकता है जो उसे पसन्द नहीं हैं; और जिन बातों की उसे आवश्यकता होती है, उनकी माँग वह पेश कर सकता है। जब किसी व्यक्ति को इस प्रकार के मतदान का अधिकार दे दिया जाता है, तब सार्वजनिक कार्यों के सम्बन्ध में उसकी जानकारी भी बढ़ती है और उनके प्रति उसमें रुचि

भी उत्पन्न होती है। वह राजनीतिक बातों पर विचार करने के योग्य और इस सम्बन्ध में सुशिक्षित हो जाता है और उसमें यह विचार तथा विश्वास उत्पन्न होता है कि मेरा हित समाज के हित के साथ सम्बद्ध है। जब महत्वपूर्ण और पेचीले सार्वजनिक प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता होती है और अवसर मिलता है, तब उसकी बुद्धि और हित सम्बन्धी विचारों का विकास होता है और वह राज्य का एक कार्यक्षम, विचारशील और उत्साही घटक बन जाता है।

व्यक्तिस्वातन्त्र्य-वादी और व्यक्तिसमतावादी दोनों ही यह चाहते हैं कि सब लोगों को मत देने का अधिकार प्राप्त हो। दोनों ही यह कहते हैं कि लोकतन्त्र ही हमारा ध्येय है। व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियों का मत दो सिद्धान्तों पर अवलंबित है। पहला सिद्धान्त तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति यह समझता है कि मेरा हित किस बात में है; और उसे ऐसा समझने और अपनी समझ के अनुसार काम करने की स्वतन्त्रता और अधिकार होना चाहिए। और दूसरा सिद्धान्त यह है कि इस बात का ध्यान रहना चाहिए कि बहुत से लोगों को बहुत सुख मिले। बस इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के अनुसार सब लोगों को मत देने और अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। तभी व्यक्तियों को स्वतन्त्रता भी मिल सकेगी और तभी उनका हित भी हो सकेगा।

व्यक्तिसमतावादियों का मत दो सिद्धान्तों पर अवलम्बित है। उनमें से पहला सिद्धान्त तो यह है कि सब व्यक्ति समान हैं; और दूसरा सिद्धा- यह है कि राज्य के सभी कार्यों और व्यवहारों पर समाज का पूर्ण स्वामित्व और सत्ता होनी चाहिए। और इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के अनुसार सब लोगों को मत देने और अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होना चाहिए। तभी सब लोगों के हित-सम्बन्धों का अधिक से अधिक पालन-पोषण होगा, व्यक्तियों में समानता होगी और सामाजिक हित का साधन होगा। इस प्रकार व्यक्तिस्वातन्त्र्यवादियों के मत से व्यक्ति के

हित और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की दृष्टि से और व्यक्तिसमतावादियों के मत से समाज के हित और व्यक्तियों की समता की दृष्टि से सब को मताधिकार प्राप्त होना आवश्यक है।

इस सार्वजनिक मत-दान-प्रणाली के विरुद्ध भी कुछ मत हैं। इन विरोधियों का यह कहना है कि यह बात ठीक नहीं है कि प्रत्येक वयस्क व्यक्ति अपना हित समझने के योग्य होता है। और इसी लिए प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों की रक्षा और प्राप्ति भी नहीं कर सकता। न तो सब लोग समान ही होते हैं और न सब लोग पूर्ण स्वतन्त्रता के ही योग्य होते हैं। वे बहुत सी बातों के सम्बन्ध में उदासीन रहते हैं। उनमें सार्वजनिक हित-बुद्धि नहीं होती। सब लोग मताधिकार का महत्व नहीं समझते और उनमें ठीक तरह से मत देने की पात्रता भी नहीं होती। फिर जो लोग स्वयं अपना ही हित न समझते हों, वे भला सार्वजनिक हित की बातें क्या समझ सकेंगे? अज्ञान के कारण उनकी वृत्ति और दृष्टि संकुचित होती है और उन्हें अपने कुटुम्ब, जाति या गाँव मात्र का ही ध्यान रहता है। वे अपने ही सगे-सम्बन्धियों, रीति रवाजों और स्थानिक हित-सम्बन्धों में फंसे रहते हैं। सामान्यतः वे तात्कालिक आवेश और भावना के वश में होकर ही आचरण करते है। उनमें विचार, दूरदृष्टि और दूर तक की पहुँच नहीं होती। प्रायः लोग दरिद्रता, अज्ञान या लोभ के कारण अपने और अपने समाज के उच्चतम कल्याण का विचार नहीं करते और जो सबसे अधिक दाम देता है, उसी के हाथ अपना मत बेच देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि जो सबसे अच्छा उम्मेदवार हो, उसी को वे अपना मत दें। उनकी प्रवृत्ति साधारणतः सनातनी या पुराने, ढर्रे की बातों और प्रचलित संस्थाओं तथा नीतियों को ही चलाने की ओर होती है। वे बहुत से अंशों में परम्परा-प्रिय और गतानुगतिक वृत्ति के होते हैं। उनका मन समाज के सुधार की ओर नहीं जाता। समाज के सुधार की बातें उनकी बुद्धि में समाती ही नहीं।

अतः ऐसी अवस्था में, जब कि राज्य का शासन और कार-बार दिन पर दिन अधिक पेचीले और सूक्ष्म निरीक्षण के योग्य होते जा रहे हैं और जहाँ विशेष ज्ञान, विस्तृत अनुभव तथा आकलन बुद्धि की आवश्यकता जान पड़ती है, वहाँ भला ऐसे मूढ़ों और स्वार्थी लोगों का क्या काम है ? यदि सब लोगों को समस्त व्यवहारों के आधारभूत आर्थिक तथा समाजिक शास्त्रों का ज्ञान हो, तभी वे नवीन और हितकारी निर्वन्ध या कानून बना सकते हैं, अपनी नीति उत्तम रख सकते हैं और अच्छी तरह न्याय कर सकते हैं। इस प्रकार के कामों के लिए दिन पर दिन ज्ञानियों और बुद्धिमानों की ही विशेष आवश्यकता प्रतीत हो रही है। परन्तु इस प्रकार के ज्ञानी और नेता ऐसे होने चाहिएँ जो स्वभावतः निःस्वार्थी हों, जिनमें समाज-हित की दृष्टि हो, और जिनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में समाज को विश्वास हो। हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक मतधारी व्यक्ति में इस प्रकार का ज्ञान, शील और परोपकार-बुद्धि होगी। यदि निर्वन्ध-मंडलों या कानून बनानेवाली सभाओं में सामान्य व्यक्ति आवेंगे तो उन निर्वन्ध मंडलों और उनके बनाये हुए निर्वन्धों का स्वरूप भी सामान्य कोटि का और स्थिति पोषक होगा; वह नए सुधार आदि न कर सकेगा। और जब ऐसे लोगों का बहुमत हो जायगा, तब बड़े बड़े लोग पिछड़ जायँगे और बड़े बड़े काम रह जायँगे।

अब यदि हमारा यह उद्देश्य हो कि व्यक्तियों की स्वाभाविक शक्ति जाग्रत की जाय और उन्हें तथा उनके समाज को ऊँचे स्थान पर ले जाकर पहुँचाया जाय, तो हमारा यह उद्देश्य तब तक सफल नहीं हो सकता, जब तक हम मनुष्यों और उनके समाजों को अपनी उन्नति करने का अवसर न दें। आरम्भ में इस काम में विफलता या अपयश ही होगा। पर उस विफलता या अपयश के कारण हमें जो अनुभव प्राप्त होगा, उसकी सहायता से समाज को उन्नति के ठीक मार्ग पर लगाया जा सकेगा। व्यक्तियों [illegible] ना चाहिए। उन्हें राज्य-शासन

और राज्य-सम्बन्धी कार-बार में अंश और मताधिकार मिलना चाहिए। यदि सब लोग केवल मूक प्रजा बने रहेंगे तो उनमें आत्म-विश्वास और कर्तृत्व न उत्पन्न हो सकेगा। जब तक सब लोग स्वराज्य के हिस्सेदार और सहकारी न बनेंगे, तब तक उनकी उन्नति न हो सकेगी। उनमें उत्साह और उल्लास न उत्पन्न होगा, जिस से उनका उत्कर्ष भी न हो सकेगा। उनमें अनुभव, समय-सूचकता और धैर्य भी न आ सकेगा और वे स्वराज्य का ठीक ठीक अभिप्राय समझनेवाले, बलवान और आपत्तियों का सामना करनेवाले नागरिक न बन सकेंगे।

आजकल की प्रवृत्ति यही है कि प्रत्येक वयस्क और समझदार आदमी को अपना मत देने का अधिकार होना चाहिए। ध्यान केवल इस बात का रहना चाहिए कि मत देनेवाला व्यक्ति ऐसा न हो जो राज्य को बलवान बनाने और शान्तिपूर्वक उन्नति करने के मार्ग में बाधक हो और इस प्रकार के राजद्रोही अपराधों के लिए वह दंडित हो चुका हो। यदि वह राज्य का द्रोही होगा तो राज्य का सच्चा नागरिक न हो सकेगा। बस इस सम्बन्ध में यही एक अपवाद है; और इसे छोड़कर प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देने में साधारणतः और दूसरी शर्तें बाधक नहीं होतीं। परन्तु प्रत्येक राज्य-संघटन में राज्य की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार शिक्षा, निवास, कर-दान, सम्पत्ति, वंश आदि से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ और शर्तें भी रखी जाती हैं। उन शर्तों का उद्देश्य मुख्यतः यही हुआ करता है कि नागरिक में उत्तरदायी होने की वृत्ति हो और वह देश-हित तथा संस्कृति के साथ सहज में तद्रूप हो सकता हो। और नहीं तो इस प्रकार की शर्तें लोकतन्त्र की सार्वजनिक मतदान-प्रणाली के विरुद्ध ही हुआ करती हैं। परन्तु देश के हितों की रक्षा के लिए इस प्रकार की कुछ न कुछ शर्तें रखनी ही पड़ती हैं। मत देने के योग्य वही लोग होते हैं जिनका देश-हित के साथ तादात्म्य हो सकता है और जिनके हृदय में देश का हित करने की सच्ची लगन होती

है। इस सम्बन्ध में जान स्टुअर्ट मिल का कथन है—"यदि सामान्य मताधिकारी वर्गों के मन में राज्य-संस्था के सम्बन्ध में इतनी आस्था न उत्पन्न हुई हो कि वे अपना मत देने के लिए जा सकें अथवा यदि वे मत देने जाकर भी अपना मत सार्वजनिक हित की दृष्टि से न दें, बल्कि या तो वे अपना मत किसी दूसरे के हाथ बेच दें और या किसी ऐसे आदमी के पक्ष में अपना मत दें जिसका उन पर किसी प्रकार का प्रभाव हो अथवा जिन लोगों को वे जैसे-तैसे प्रसन्न करना चाहते हों, उनके कहने के अनुसार किसी को मत दें तो इस प्रकार की प्रातिनिधिक संस्थाओं का कोई उपयोग नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में वह संस्था उलटे दूसरों पर अत्याचार करने और षडयन्त्र रचने का साधन बन जाती है। जो निर्वाचन इस प्रकार होता है, वह कुराज्य का प्रतिबन्धक नहीं होता, बल्कि उलटे कुराज्य की यन्त्र-सामग्री में वह एक और भी चक्र बन जाता है। आजकल की लोकसत्ता सम्बन्धी कल्पना या विचार इससे कुछ भिन्न है। आजकल यह कहा जाता है कि आप जो शर्तें उचित समझें, वे शर्तें बना दें; परन्तु प्रत्येक समझदार वयस्क स्त्री और पुरुष को मतधारक संघ में स्थान दीजिए और सार्वजनिक कार्यों में उन्हें सम्मिलित होने दीजिए। बन्धन लगाना तो आवश्यक ही है, क्योंकि ऊपर मतदान की जिस प्रणाली का उल्लेख है, उसमें स्वार्थ की ओर ही अधिक प्रवृत्ति होती है और अज्ञान का गौरव बढ़ने की सम्भावना रहती है। मान लीजिए कि कोई राज्य सभी लोगों का है; पर इतने से ही यह आवश्यक नहीं हो जाता कि उससे सब लोगों का हित होता ही हो। यदि उसमें स्वार्थ-रहित और बुद्धि-प्रधान लोगों को स्थान मिलेगा, तभी लोगों का ध्यान सार्वजनिक हित की ओर जायगा और ज्ञान तथा नवीनता की कमी पूरी होगी।

प्रातिनिधिक लोकसत्ता की सफलता प्रतिनिधियों की पात्रता पर ही अवलम्बित रहती है। प्रत्येक चुने हुए सभासद में यह बात समझने की शक्ति होनी चाहिए कि प्रतिनिधि का काम सबसे अच्छे ढंग से किस

प्रकार किया जा सकता है। उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह भिन्न भिन्न महत्व के और पेचीले प्रश्नों का भली भाँति अध्ययन कर सके, उन सबका अलग अलग महत्त्व निश्चित कर सके और इस विषय में अपना स्वतन्त्र मत स्थिर कर सके कि अमुक प्रश्न के अमुक निराकरण का हमारे सारे देश पर और हमारे मतधारक संघ पर क्या परिणाम होगा। और इन सब कामों के लिए उसे सुशिक्षित, स्वतन्त्र विचारों से युक्त, निःस्वार्थी, समझदार और दूरदर्शी होना चाहिए। केवल सिर हिला देनेवाले आदमियों से काम नहीं चल सकता। राज्य के महत्वपूर्ण और आवश्यक कार्यों के सम्बन्ध में विचार करने और अपना मत निश्चित करने का पूरा पूरा समय, अवकाश, शिक्षा, योग्यता और इच्छा सामान्य लोगों में नहीं हुआ करती।

प्रत्येक प्रतिनिधि में सभासदत्व का भार अपने ऊपर लेने की पात्रता होनी चाहिए। उसमें वे सब गुण होने चाहिएँ जिनकी प्रतिनिधियों को आवश्यकता होती है; अर्थात् वे ऐसे होने चाहिएँ जो भय अथवा लोभ के वश होकर शीलभ्रष्ट न हो जायँ; नहीं तो उनके हाथों उनके मतधारक संघ और राज्य के हितों का घात ही होगा। उनमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वे राष्ट्र के हित का प्रामाणिकतापूर्वक समर्थन और साधन कर सकें। और उनमें यह समझने की योग्यता होनी चाहिए कि किन बातों से राज्य अच्छी अवस्था में रह सकता है और किन बातों से उसका कल्याण हो सकता है। तभी उन पर राजकीय अधिकार सौंपना इष्ट होगा। उनमें सामान्यतः यह गुण होना चाहिए कि वे उद्योगी हों; सार्वजनिक कामों के प्रति उनकी यथेष्ट प्रीति और रुचि हो; और यदि कोई कठिन, भयंकर या मोह का अवसर आवे तो अपनी बुद्धि को स्थिर रख सकें और मन की दृढ़ता दिखला सकें। उनकी अवस्था, सम्पत्ति, निवास, व्यवसाय, शिक्षा आदि से सम्बन्ध रखनेवाली शर्तें भिन्न भिन्न देशों की परिस्थितियों के अनुसार निश्चित होती हैं और उनमें समय समय पर परिवर्तन भी होते

रहते हैं। राजद्रोह एक ऐसा अपराध है जिससे प्रतिनिधि अपात्र बन जाता है। पर जो प्रतिनिधि योग्य होते हैं, उनके द्वारा सामान्य मतदाताओं के अज्ञान और स्वार्थ में राज्य के कार-बार की दृष्टि से रुकावट होती है।

चुने हुए सभासद के लिए यह समझना आवश्यक है कि मुझे मत-धारकों का प्रतिनिधि अथवा प्रतिध्वनि होना चाहिए; अर्थात् उन्हें यह ज्ञान होना चाहिए कि मतधारकों का अपने सभासदों पर कहाँ तक नियन्त्रण और कहाँ तक विश्वास होना चाहिए और सभासदों को लोकसभा में किस प्रकार आचरण करना चाहिए। सच्चे प्रतिनिधित्व का लक्षण यही है कि सामान्यतः मतधारकों के मतों का समर्थन और प्रकाश किया जाय, उनका विरोध या विपर्यास न किया जाय। निर्वाचन के समय प्रतिनिधि की योग्यता, नीतिमत्ता और बुद्धिमत्ता देख लेनी चाहिए। प्रतिनिधि चुने जाने पर वह जिस प्रकार का आचरण करता है, उसका बहुत अधिक महत्व होता है। प्रश्न यह होता है कि सभासद को मतधारक संघ के मतों का प्रतिबिंब और प्रतिध्वनि होना चाहिए या सभा के सामने आनेवाले प्रश्नों पर उसे मतदाताओं की ओर से, परन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक और लोकहित की दृष्टि से, विचार और निर्णय करना चाहिए? इनमें से एक प्रकार तो यह है कि मतधारक संघ का जो निर्देश और आदेश हो, वह हू-बहू उसी के अनुसार और मतधारक संघ का हस्तक बनकर काम करे। और दूसरा प्रकार यह है कि वह साधारणतः मतधारक संघ की नीति और इच्छा के अनुसार, परन्तु स्वतन्त्रतापूर्वक और प्रसंग के अनुसार, अपनी बुद्धि से काम लेनेवाले एक कर्त्ता की तरह काम करे। यदि केवल मतधारक संघ का लोकमत ही प्रदर्शित करना हो, तब तो पहला प्रकार ही ठीक होगा। परन्तु यदि उसे मतधारक संघ की ओर से विचार-विनिमय और निराकरण करना हो और प्रसंग के अनुसार स्वतन्त्र बुद्धि से मत देना हो, तब दूसरा प्रकार ही ठीक होगा।

प्रत्येक सभासद के लिए कुछ न कुछ स्वतन्त्रता होनी चाहिए; और साथ ही उसे स्वयं अपनी योग्यता पर भी विश्वास होना चाहिए। तभी वह सार्वजनिक और महत्व के प्रश्नों के सम्बन्ध में उचित विचार और निर्णय कर सकेगा। मतदाताओं के मत साधारणतः अज्ञानमूलक और भावनामूलक हुआ करते हैं। परन्तु प्रतिनिधियों के मत अध्ययन, अनुभव और विचार की सहायता से बने हुए होते हैं। ऐसी अवस्था में प्रतिनिधियों पर मतदाताओं का बहुत अधिक नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। तभी वह राज्य का सच्चा हितकारी और लोगों का पूरा पूरा प्रतिनिधि हो सकेगा।

निर्वाचन और प्रतिनिधित्व की मर्यादा इसलिए निश्चित कर देना आवश्यक है जिसमें प्रतिनिधि सामान्यतः लोकमत का निदर्शक और उसके प्रति उत्तरदायी बना रहे। मतदाता बराबर बदलते रहते हैं। उनका मत सदा एक सा और स्थिर नहीं रहता। उनके सामने नित्य नये नये प्रश्न आते रहते हैं। फिर यह भी आवश्यक नहीं है कि चुने हुए सभासद भी सदा उसी वृत्ति, मत और योग्यता के रहते हों। इन्हीं सब बदलती रहनेवाली बातों के कारण लोकसभा को सच्ची प्रातिनिधिक सभा बनाये रखने के लिए और लोगों का मत वहाँ सामान्यतः प्रदर्शित करते रहने के लिए और बीच बीच में लोकसभा में नवीन उत्साह लाते रहने के लिए यह आवश्यक होता है कि जो सभासद चुने जायँ, वे तीन या पाँच वर्षों के लिए चुने जायँ; अथवा उनकी कोई और अवधि निश्चित कर दी जाय। इससे मतदाता स्वयं अपने मत की भी और अपने प्रतिनिधियों के मत और योग्यता की भी बराबर जाँच कर सकते हैं, सब बातों पर फिर से विचार कर सकते है और अपने प्रतिनिधि को अपने प्रति उत्तरदायी बनाये रख सकते हैं। यदि कोई अधिक महत्व का राष्ट्रीय प्रश्न या प्रसंग उपस्थित हो तो राज्य के संघटन के अनुसार निर्वाचन की काल-मर्यादा घटाने या बढ़ाने का अधिकार किसी बहुत बड़े अधिकारी के हाथ में रहता है। इस विषय पर विचार करनेवाले लेखकों का मत है कि यदि प्रत्येक नवीन परन्तु

महत्वपूर्ण योजना को स्वीकृत करने से पहले लोकसभा का फिर से निर्वाचन हो जाय और वह योजना बहुमत से मान्य हो जाय तो वह योजना बहुत ही उपयुक्त होगी। इस प्रकार झूठे और स्वार्थी प्रतिनिधियों के निर्वाचन के मार्ग में कुछ तो रुकावट हो ही जायगी।

यदि प्रत्येक मनुष्य केवल इस बात का ज्ञान प्राप्त कर ले कि हमारा हित किस बात में है, उस हित के साधन का वह प्रयत्न करने लगे और सार्वजनिक हित की ओर कुछ भी ध्यान न दे, तो इतने से ही सारे समुदाय के हित का साधन नहीं हो सकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने उदर-निर्वाह की ही चिन्ता करे, स्वार्थ-वृत्ति धारण कर ले और केवल अपने ही हितों के साधन का प्रयत्न करता रहे, तो क्या इसमें स्वयं उसी का सच्चा हित भी कभी हो सकता है? यदि नहीं तो फिर भला उससे सामुदायिक हितों का साधन कैसे हो सकेगा? सब लोगों के व्यक्तिगत हित में ही सामुदायिक हित अन्तर्भूत नहीं है। उसका स्वरूप इसकी अपेक्षा कुछ विशेष भिन्न और उच्च कोटि का है। समुदाय की परम्परा, एक के बाद एक आनेवाली पीढ़ियों और उनकी आकांक्षाओं के कारण ही समुदाय का निजी और स्वतन्त्र अस्तित्व होता है और उसे एक विशिष्ट स्वरूप प्राप्त होता है। उसके अन्तर्गत जो घटक होते हैं, वे व्यक्तिशः बराबर बदलते रहते हैं। इसी लिए यदि प्रत्येक व्यक्ति केवल अपने ही हितों का साधन करे तो सारे समुदाय का भावी और सच्चा हित नहीं हो सकता। सारे समुदाय का सच्चा हित करने के लिये केवल व्यक्तिगत हितों का विचार करने से काम नहीं चल सकता। इसके लिए व्यक्तियों में सार्वजनिक हितों का विचार करने का अभ्यास या आदत होनी चाहिए और उन्हें इस बात की शिक्षा मिलनी चाहिए।

इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि बहुसंख्यक लोगों का जो मत हो, वह ठीक नहीं है। परन्तु आजकल प्रातिनिधिक लोक सभाओं में केवल बहुसंख्यकों का मत ही ग्राह्य करना पड़ता है और अल्प-संख्यकों

का मत त्याज्य मानना पड़ता है। और इसका कारण यही है कि आज-कल हमारे पास कोई ऐसी शास्त्रशुद्ध और सन्मान्य कसौटी नहीं है जिसके आधार पर हम यह निश्चित कर सकें कि सच्ची या ठीक बात कौन सी है और झूठी या गलत बात कौन सी है। बस जो कुछ है, उसी में हमें बहुसंख्यकों का हित अथवा बहुत से लोगों का बहुत कुछ हित देखना और करना पड़ता है। यदि ऐसा न किया जाय तो बहुसंख्यक लोग अपने बल के कारण दूसरों का मत मानेंगे ही नहीं; और उस दशा में किसी प्रकार की समाज-व्यवस्था न ठहर सकेगी। समाज-व्यवस्था को तो बहुजनों का सहारा चाहिए।

चाहे अल्प संख्यक लोगों का निर्णय हम मान्य न कर सकते हों, तो भी अल्प-संख्यक लोगों को इस बात का अधिकार होना चाहिए कि वे लोक-सभा में अपना मत उपस्थित कर सकें, उसके सम्बन्ध में विचार-विनिमय करा सकें और बहु-संख्यक लोगों के मत का विरोध कर सकें। उन्हें ऐसा अवसर दिया जाना चाहिए जिसमें यदि हो सके तो वे लोकमत को अपने अनुकूल कर सकें। पर हाँ, यह आवश्यक है कि बहुमत से जो निर्णय हो, उसे वे अवश्य मान्य करें। बहुमत के निर्णय को बदलना अल्पसंख्यक लोगों के आन्दोलन और बहुमत को अपनी ओर करने पर अवलम्बित है।

लोकतन्त्र वाले राज्य-संघटन में एक और महत्व का प्रश्न निर्वाचन के क्षेत्र और प्रणाली-सम्बन्धी है। लोकसभा में भिन्न भिन्न पक्षों के प्रतिनिधि उनकी संख्या के अनुसार जाने चाहिएँ। यदि उसमें केवल एक ही बहु-संख्यक पक्षवाले लोगों के प्रतिनिधि होंगे, तो यह बात लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध होगी। लोकतन्त्र कोई बहुसंख्यक पक्ष के मत की अनुगामी प्रणाली नहीं है। लोकसभा में जो बहुमत उत्पन्न हो, वह अनेक भिन्न और विरोधी मतों के ऊहापोह से उत्पन्न होना चाहिए। इसके लिए लोकसभा में सभी पक्षों के प्रतिनिधि होने चाहिएँ और उनकी की हुई

गुण-दोष-सम्बन्धी चर्चा और उनके सहकार से ही राज्य के सब काम चलने चाहिएँ। परन्तु अल्पसंख्यक पक्ष तभी अपने प्रतिनिधि चुन सकेंगे, जब उन्हें थोड़ी-बहुत विशिष्ट लोकसंख्या का सहारा मिलेगा। कभी कभी यह भी हो सकता है कि अल्प-संख्यक लोगों का मत ही ठीक निकले। ऐसी अवस्था में उन्हें लोकसभा में अपना मत उपस्थित करने के लिए ऐसा अवसर मिलना चाहिए जिसमें वे लोकसभा में प्रवेश कर सकें और स्थान पा सकें। अनुभव, विचार और प्रसंग से लोगों के मत बदला करते हैं। इसलिए केवल कुछ विशिष्ट लोग तथा पक्ष ही सदा बहुसंख्यक नहीं बने रहते। उनमें पक्षान्तर और मतान्तर बराबर होता रहता है। अर्थात् आज जिस मत के पक्ष में थोड़े से लोग हैं, कल उसी के पक्ष में बहुत से लोग हो सकते हैं; और जिस मत के पक्ष में बहुत से लोग हों, कल उसी का समर्थन करनेवाले बहुत थोड़े लोग बच सकते हैं।

प्रत्येक राज्य में विशिष्ट व्यावसायिक वर्गों और स्थानिक हित सम्बन्धों को विशेष आश्रय की आवश्यकता हुआ करती है। यदि प्रतिनिधि-सभा में उन्हें उचित स्थान न दिया जाय और इस प्रकार उनकी विशेषता मान्य न की जाय, तो फिर उनका कोई महत्व ही न रह जायगा और उनके हितों की बहुत दुर्दशा होगी। इससे दुष्ट, उद्दंड और दरिद्र लोगों की प्रबलता होगी और वे दूसरे लोगों की तथा सारे देश की हानि करेंगे। देश या समाज भिन्न भिन्न वर्गों, हितों और स्थलों का समुदाय है। यद्यपि उसके सामान्य हित-सम्बन्ध एक ही हों, पर फिर भी उनके विशेष हित-सम्बन्ध एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसी लिए राज्य के सब कामों में सभी लोगों के मत प्रतिध्वनित और प्रतिबिम्बित होने चाहिएँ जिसमें किसी एक विशिष्ट वर्ग, हित अथवा स्थान के ही हाथ में राज्य का सारा कार-बार न चला जाय और उसका उपयोग वे केवल अपने ही हितों के साधन में न करने पावें। उनके परस्पर विरोधी हित-सम्बन्धों में वहाँ समझौता होना चाहिए और उनमें मेल बैठना चाहिए। जिस लोकसभा में

सभी हित-सम्बन्ध प्रदर्शित होते हों और सभी पक्षों के प्रतिनिधि उपस्थित रहते हों, उसी लोक-सभा के बनाये हुए निर्बन्धों या कानूनों की सारे समाज के विचारों और भावनाओं के साथ मेल खाने की विशेष सम्भावना होती है।

इसी लिए अल्पसंख्यक संघों और पक्षों तथा स्थानिक दलों और हितों का प्रतिनिधित्व उचित प्रकार से होना चाहिए। यदि देश के बिलकुल बराबर बराबर क्षेत्रफलवाले अथवा लोक-संख्या के बराबर बराबर विभाग कर दिये जायँ और प्रत्येक को एक एक अथवा बराबर प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दे दिया जाय तो केवल इतने से सारे देश में फैले हुए अल्प-संख्यक पक्षों और स्थानिक संघों का प्रतिनिधित्व नहीं हो सकेगा। और इसका कारण यह है कि प्रत्येक विभाग से प्रायः एक ही प्रतिनिधि भेजा जायगा और बहुधा उन्हीं लोगों का प्रतिनिधि भेजा जायगा, जिनका उस विभाग में बहु-मत होगा; और दूसरे अल्प-मतवालों के प्रतिनिधियों का निर्वाचन न हो सकेगा। हाँ, यदि किसी और स्थान में उस मत के मत-दाताओं की संख्या अधिक होगी, तो वहाँ से उनका प्रतिनिधि चुन लिया जायगा; पर बाकी जगहों में सहसा उस मत के प्रतिनिधियों का निर्वाचन न हो सकेगा। राज्य मे अनेक पक्षों के लोग देश भर में फैले हुए होते हैं। उनमें से कुछ पक्ष ऐसे भी होते हैं जिनका किसी विशिष्ट स्थान में बहुमत नहीं होता। ऐसी अवस्था मे यदि यह प्रणाली प्रचलित रहे कि एक विभाग से एक ही प्रतिनिधि चुना जायगा तो इस प्रकार अल्प-मतवाले पक्षों के लिए उनकी संख्या के अनुसार प्रामाणिक प्रतिनिधि मिलना कठिन हो जायगा। इसी लिए एक नई विशिष्ट प्रतिनिधि-प्रणाली निकाली गई है। इसमें आवश्यकता केवल इसी बात की होती है कि एक प्रति-निधि का निर्वाचन करने के लिए जितने मतदाताओं की आवश्यकता होती है, कम से कम उतनी लोक-संख्या प्रत्येक संघटित पक्ष की होनी चाहिए। इस प्रणाली में निर्वाचन का क्षेत्र बड़ा करना पड़ता है और उसमें से

अनेक परन्तु लोक-संख्या के मान से कुछ निश्चित प्रतिनिधि निर्वाचित करने का अधिकार रखना पड़ता है। इस प्रकार के प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है, जितने प्रतिनिधि उस क्षेत्र से चुने जाने को होते हैं; और उन्हें उतने निश्चित मत अपनी पसन्द से क्रमानुसार उम्मेदवारों को इस प्रकार देने पड़ते हैं कि पहला मत अमुक प्रतिनिधि को, दूसरा मत अमुक प्रतिनिधि को, आदि। इसमें यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक मतदाता अपने सभी मतों का उपयोग करके अपनी पसन्द का क्रम दिखला ही दे। उसे जितने उम्मैदवार पसन्द होंगे, उतने ही उम्मैदवारों के नामों के आगे अपनी पसन्द से क्रमानुसार स्वीकृति-सूचक चिह्न लगा देगा; बस और कुछ नहीं। जिन उम्मैदवारों को पहली पसन्द के उतने मत मिल जायँगे जितने मतों का होना निर्वाचन के लिए आवश्यक होता है, बस उन्हीं उम्मेदवारों का निर्वाचन हो जायगा। निर्वाचन में मतदाता लोग जितने प्रतिनिधियों के लिए मत देते हैं, उन्हीं की संख्या के अनुसार इन आवश्यक मतों की संख्या होती है। यदि किसी उम्मैदवार को पहली पसन्द के बहुत से मत मिलें तो उसके नाम के आगे उतने ही मत रखे जाते हैं जितने उसका निर्वाचन करने के लिए आवश्यक होते हैं; और बाकी के मत पसन्द किये हुए दूसरे उम्मैदवार को दे दिये जाते हैं। इसी प्रकार निश्चित संख्या में प्रतिनिधि चुन लिये जाते हैं। मतदान की इस प्रणाली के अनुसार यह होता है कि यदि किसी क्षेत्र में किसी अल्प-संख्यक पक्ष के उतने मतदाता होते हैं, जितने मतदाताओं की प्रतिनिधित्व के लिए आवश्यकता होती है, तो वे अपने मतदाताओं की संख्या के अनुसार अपनी पसन्द के प्रतिनिधि चुन सकते हैं।

मतधारक संघ प्रस्तुत करने का आजकल एक और नया प्रकार भी निकला है। इस में समाज के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अंगों के भिन्न भिन्न स्थलात्मक विभाग करके उन्हें अपनी ओर से प्रति-

निधि भेजने का अधिकार दे दिया जाता है। इस प्रणाली का मुख्य गुण यही है कि उन-उन अंगों का ठीक प्रतिनिधित्व हो जाता है। पुराने ढंग से जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं, उन्हें अपने विशिष्ट क्षेत्र के समाज के समस्त अंगों और मतों की असली हालत कुछ भी मालुम नहीं होती और यों ही उन्हें उन सबका प्रतिनिधित्व करना पड़ता है। यदि समाज के किसी एक अंग के सम्बन्ध में उन्हें कुछ अच्छा ज्ञान होता है, तो दूसरे कई अंगों के सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं होता; और उन्हें विना जाने-बूझे ही उनकी ओर से भी मत देना पड़ता है। और कभी कभी ऐसा मत भी देना पड़ता है जो वस्तुतः उनके विरुद्ध होता है। इस नवीन प्रकार में प्रतिनिधियों को केवल अपनी बुद्धि के अनुसार प्रत्येक विषय में न्याय और निर्णय नहीं करना पड़ता, बल्कि जिस अंग की ओर से उनका निर्वाचन होता है, उसी के मतों और हित-सम्बन्धों की वकालत करनी पड़ती है। इस प्रकार का प्रतिनिधि केवल राष्ट्र का पंच नहीं होता, वल्कि अपने स्थल और अंग का वकील होता है।

आजकल प्रायः सभी प्रतिनिधि किसी न किसी संघटित पक्ष के अनुयायी हुआ करते हैं। उस पक्ष के संघटित बल की सहायता से उनका निर्वाचन बहुत सहज में हो जाता है। स्वतन्त्र और लोकतन्त्रीय राज्यों में राजकीय दृष्टि से लोगों के बहुत बड़े बड़े सुसंघटित पक्ष या दल बन गये हैं। उन लोगों के देश-हित सम्बन्धी राजकीय विचार और सामाजिक तथा आर्थिक विषयों में मत एक-दूसरे से भिन्न हुआ करते हैं। उनके अनुयायी देश भर में फैले हुए होते हैं। उनके नेता अपने कार्यों और उपदेशो से अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाते हैं और उनके मतों की सहायता से लोक-सभा में अपना बहुमत और राज्य के कार्यों में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। उनकी इच्छा और प्रयत्न यही रहता है कि हम राज्य के समस्त कार्यों का संचालन अपनी नीति के अनुसार करें। आजकल वड़ी-वड़ी बातों, विषयों और नीतियों

का अन्तिम निर्णय राज्यतन्त्र के ही द्वारा होता है और राजदंड के भय से उस निर्णय का पालन किया जाता है। देश के दूसरे संघ और समूह उन्हीं निर्बन्धों या कानूनों के अनुसार आचरण करते हैं। उनके कार्य-क्षेत्र और अधिकार-क्षेत्र की मर्यादा निश्चित करने का अधिकार राज्यतन्त्र को ही होता है। आजकल का राज्यतन्त्र लोकमतानुवर्ती होता है। उनके सब कार्य प्रतिनिधियों की सम्मति से और उत्तरदायी राजमंडल के द्वारा चलते हैं। अर्थात् आजकल लोकमत ही समस्त कार्यों का मूल और मुख्य आधार है। परन्तु इस लोकमत का मतलब क्या है और वह लोकमत होता किसका है? उस लोकमत का किस प्रकार पता लगाना चाहिए और उसका प्रदर्शन किसे करना चाहिए? यदि लोगों को सार्वजनिक कामों के सम्बन्ध में अच्छी जानकारी न हो तो उन्हें कौन सज्ञान बनाकर मार्ग दिखलावे? यदि वे लोग उदासीन हों, तो उनमें इतना उत्साह और संघटन कौन उत्पन्न करे जिसमें वे अपना मत और इच्छा प्रदर्शित करें और राज्य के कार्यों में सामंजस्यपूर्वक और उन्हें अपना कर्त्तव्य समझकर उनमें सम्मिलित हों? लोगों को जाग्रत करने, उन्हें शिक्षा देने और उनमें सार्वजनिक हित-बुद्धि, चातुर्य और लगन पैदा करने का काम अवश्य होना चाहिए। और यह काम आजकल संघटित राजकीय पक्ष और उनके समाचार-पत्र तथा नेता लोग करते हैं। वे लोग मुख्यतः इसी बात का प्रयत्न करते रहते हैं कि मत देने का अधिकार रखनेवाले मतधारक और मत देने का अधिकार न रखनेवाली जनता हमारी ओर आकृष्ट हो। प्रत्येक मतधारक में न तो इतना उत्साह ही होता है और न वह अपना इतना उत्तरदायित्व ही समझता है कि निर्वाचन में अपना मत देने का मुझे जो अधिकार प्राप्त है, उसका मैं अवश्य उपयोग करूँ। अधिकांश मतदाता आलस्य, उदासीनता और निश्चिन्तता में पड़े रहते हैं। उन्हें इनसे निकालकर उठाना चाहिए, और ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें वे मत देने के स्थान पर जाने से पहले सब बातों का

ऊँच-नीच सोचने-समझने लगें। यह काम पक्षों या दलों के नेता, समाचार-पत्र और व्यवस्थापक लोग करते हैं। लोकसत्ता के जड़ पकड़ने, उसकी बेल के बढ़ने और फलने-फूलने के लिए मतधारकों में मत देने का उत्साह होना चाहिए। आजकल की प्रातिनिधिक स्वराज्य-व्यवस्था में मुख्य विशेषता यही है कि मतधारक संघों और प्रतिनिधि सभाओं में बहुमत की ही प्रबलता होती है। ऐसी अवस्था में प्रत्येक उत्साही और आकांक्षी राजकीय पक्ष में स्वभावतः इस प्रकार की इच्छा होती है कि हमारे पक्ष के मत-धारक और प्रतिनिधि अधिक हों; और इसके लिए उन्हें अपने पक्ष का संघटन और कार्य करने की क्षमता बढ़ानी पड़ती है। इससे मतदाता और प्रतिनिधि बढ़ते हैं और बराबर एक ही पक्ष में मिले रहते हैं। बिना उनकी सहायता और सहारे के कोई पक्ष राज्यारूढ़ नहीं हो सकता और उसका प्रधान मंडल ठहर नहीं सकता। उन्हीं के सहारे से लोग रंक से राजा हो जाते हैं और राज्य के सब काम चलाते हैं।

यदि समझदार और सार्वजनिक कामों की ओर ध्यान देनेवाले मत-धारक की दृष्टि से देखा जाय तो चुने हुए प्रतिनिधियों और नियुक्त किये हुए प्रधान मंडल या अध्यक्ष मंडल को सब काम उनकी इच्छा के अनुसार करने चाहिएँ और उन पर ऐसा नियन्त्रण होना चाहिए जिसमें वे मत-धारकों की इच्छा के विरुद्ध कोई काम न कर सकें। चुने हुए प्रतिनिधि, प्रधान और मन्त्री तभी अपने सब काम अच्छी तरह और निर्भीकतापूर्वक कर सकते हैं जब उन्हें अपने मतधारक संघ का सहारा और सहायता प्राप्त होता रहे। ऐसी अवस्था में नेताओं और प्रतिनिधियों के कार्यों के भली भाँति संचालन और मतधारकों की इच्छा का पूरी तरह से परिपालन होने के लिए प्रत्येक राजकीय पक्ष या दल का उचित संघटन होना आ-वश्यक और उपयोगी है। जब एक बार लोगों का आधिपत्य मान लिया जाता है और राज्य-शासन के परिचालन के लिए मतधारकों को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दे दिया जाता है, तब जो लोग मतधारकों

के प्रतिनिधि होना चाहते हों और उनके विचारों, सिद्धान्तों तथा कार्य-प्रणाली के अनुसार राज्य के सब कार-बार करना चाहते हों, उन्हें बहुमत का सहारा मिलना चाहिए। बड़े-बड़े स्थानिक विभागों, प्रान्तों और देश से इस प्रकार का सहारा पाने के लिए पक्षों या दलों को बहुत कुछ संघटन और प्रयत्न करने की आवश्यकता होती है। इसके लिए मतधारकों के पक्ष रूप में स्थानिक संघ होने चाहिएँ और ऐसे समस्त संघों की एक मध्यवर्ती संयुक्त संस्था होनी चाहिए। आजकल के राज्यों की प्रचंड अधि-सत्ता मूढ़, आलसी और उदासीन मालिकों के हाथ से निकल जाती है और बुद्धिमान, उत्साही और चतुर मन्त्रियों के हाथों में खेलती है।

आजकल की प्रातिनिधिक प्रणाली की राजनीति में पक्ष या दल सब कार्यों का संचालन करनेवाले और बीच की शृंखला मिलानेवाले हैं। वे राजकीय अधिसत्ता की मूलभूत बातों में एकसूत्रता लाते हैं और एकत्र विचार करके एक मत तैयार करते हैं। वे अधिसत्ता को एक हाथ में लाकर और एक स्थान में केन्द्रीभूत करके अपनी आकांक्षाओं और अनुभव के अनुसार उस अधिसत्ता से देश की स्वतन्त्रता और सम्पन्नता के लिए प्रयत्न कराते हैं। उन्हीं के द्वारा लोकमत और लोकशक्ति जाग्रत रहती और प्रदर्शित होती रहती है और भिन्न-भिन्न पक्षों की ऊहापोह, प्रतिद्वन्द्विता और भिन्न-भिन्न योजनाओं से जनता की समझ में यह बात आती रहती है कि देश का कल्याण किन बातों में है; और जनता अपनी इच्छा या पसन्द के अनुसार कभी इस पक्ष की ओर और कभी उस पक्ष की ओर प्रवृत्त होती है, राज्य के कार्यों में उनका बहुमत करती है और तब देश की राजनीति पर उसी पक्ष के मतों और योजनाओं का रंग चढ़ता है।

इन राजकीय पक्षों के संघटन के कारण स्वतन्त्र विचारवाले मतधारकों और प्रतिनिधियों को राज्य के कार-बार में स्थान नहीं मिलने पाता। इससे उनका मत और प्रतिनिधित्व व्यर्थ हो जाता है। इसके सिवा आज-कल के राज्य-संघटन बहुत पेचीले होते हैं, उनके सामने विविध प्रकार के

कठिन काम होते हैं और उन्हें नित्य ही महत्वपूर्ण तथा पेचीले प्रश्नों की मीमांसा करनी पड़ती है; और इसी लिए राजकीय अधिकारों के सूत्र पक्षों या दलों के मतदाताओं और प्रतिनिधियों के हाथों से निकल कर उनमें के उच्चाकांक्षी नेताओं, प्रधानों या मन्त्रियों और विज्ञों के हाथ में केन्द्रित होते हैं। लोगों की प्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिधि-रूपी प्रधानता या प्रभुत्व नाम मात्र को ही होता है। पक्षों या दलों में भी केवल सम्पन्न व्यक्तियों और बड़े आदमियों की ही प्रबलता होती है और मतदाताओं के मतों को जल्द कोई पूछता भी नहीं। और राज्यतन्त्र तथा अधिसत्ता चाहे कहने के लिए लोकमुख और प्रतिनिधियों के द्वारा ही क्यों न परिचालित होती हो, परन्तु वस्तुतः थोड़े से होशियार, समर्थ तथा कर्तृत्ववान् लोगों के हाथ में उसका चला जाना अपरिहार्य होता है।

यदि प्रतिनिधियों और पक्षों या दलों के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार किया जाय तो दोनों को ही एक दूसरे की आवश्यकता होती है और वे एक दूसरे पर अवलम्बित रहते हैं। बहुत से अंशों में पक्षों या दलों की सहायता से ही प्रतिनिधि लोग चुने जाते हैं, लोकसभा में ठीक तरह से काम कर सकते हैं और अपने विचारों तथा मतों को सफल कर सकते हैं और राज्य-सम्बन्धी कार्यों पर उनका प्रभाव पड़ सकता है। ये सब बातें और कार्य प्रतिनिधियों की केवल वैयक्तिक योग्यता पर ही अवलम्बित नहीं रहते। उनके निर्वाचन के लिए मतदाताओं के सहारे की आवश्यकता होती है, काम करने के लिए बहुत बहुत कुछ ज्ञान और ढग की जरूरत होती है, और प्रभाव डालने के लिए सहायता तथा सहकारियों की आवश्यकता होती है। इन सब बातों से उनका पक्ष बहुत सहज में प्रबल और यशस्वी हो सकता है। यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो वे अपने पक्ष या दल के बोलनेवाले मुख, समर्थन करनेवाले हस्तक और सहायता करनेवाले सहकारी ही होते हैं। पक्ष या दल की संस्था उन्हें अपना काम करने के सम्बन्ध में आदेश और

उपदेश करती है, उन्हें जिन बातों के जानने की आवश्यकता होती है, वे बातें बतलाती है और जिन बातों में सहायता की आवश्यकता होती है, उन बातों में सहायता देती है। यह पक्ष-संस्था मानों प्रतिनिधियों पर मतदाताओं की ओर से पहरेदार के रूप में रहती है। इन पक्षों के निजी समाचार-पत्र भी होते हैं जिनमें उनके सभी काम, लोक-सभा में होनेवाले उनके भाषण और दिये हुए मत प्रकाशित होते रहते हैं जिससे उनके मतधारक संघ को उनके कार्यों और व्यवहारों का ज्ञान होता रहता है और तब उन बातों के सम्बन्ध में वे अपना मत स्थिर कर सकते हैं। इससे प्रतिनिधियों की समक्ष मे यह बात भी आ जाती है कि हम पर कितनी जवाबदेही और जिम्मेदारी है। आजकल के पक्ष या दल एक प्रकार से मतधारक संघ और शासन-संस्था के बीच की कड़ी या शृंखला हो रहे हैं। वे ही प्रसंगानुसार इन दोनों में एकता अथवा विरोध उत्पन्न करते हैं।

इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि प्रतिनिधि लोग केवल अपने स्थानिक मतधारक संघ के प्रति एकनिष्ठ होकर किंवा स्वयं अपनी इच्छा से काम करने नहीं पाते। उन्हें अपने राजकीय पक्ष या दल के प्रति एकनिष्ठ रहना पड़ता है। यदि किसी समय स्थानिक हित-सम्बन्ध, अपनी सदसद्विवेक-बुद्धि और पक्ष या दल के हित-सम्बन्ध में विरोध उत्पन्न होता है, तब पक्ष या दल के हितों को तथा नीति की रक्षा के लिए उन्हें दूसरी सब बातों की ओर से अपना ध्यान हटा लेना पड़ता है। प्रतिनिधि केवल अपने पक्ष या दल का काम करनेवाला हाथ बन जाता है। स्थानिक मत-दाता भी किसी न किसी पक्ष या दल के अनुयायी होते हैं; इसलिए उन्हें भी पक्ष या दल के अनुरोध से ही चलना पड़ता है। और इसी लिए वे अपने प्रतिनिधियों का विरोध नहीं कर सकते। इससे यह पता चलता है कि यदि लोकमत तैयार करके और उसका संघटन करके उसे प्रदर्शित करने के लिए राज्य-संघटन की कक्षा के बाहर पक्षों या दलों की संस्थाओं की आवश्यकता हो तो इस बात की बहुत अधिक सम्भावना हो जाती है

कि पक्ष संस्था की गाड़ी के नीचे स्थानिक हित-सम्बन्ध और वैयक्तिक मत-स्वातन्त्र्य दबकर पिस जाय। बर्क का मत यह है कि पक्ष या दल ऐसे लोगों का संघ होता है जो सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार अपने संयुक्त प्रयत्नों से राष्ट्रीय हित के साधन के लिए एकत्र होते हैं। प्रत्येक पक्ष या दल का एक विशिष्ट कार्यक्रम होना चाहिए और उसे लोगों को उस कार्य-क्रम की शिक्षा देनी चाहिए। साथ ही उसे अपने अनुयायियों की संख्या भी बढ़ानी चाहिए और सबको एक साथ मिलकर वह कार्यक्रम पूरा करना चाहिए। पक्ष या दल अपने संघटन और मर्यादा का निर्माण करके अपने अनुयायियों को राजकीय कार्यों की शिक्षा देता है। वह राष्ट्रीय निर्बन्ध-कारिणी और कार्यकारिणी संस्थाओं में एकसूत्रता लाता है और अधिकारी मंडल पर परिणामकारक टीका करने का उत्कृष्ट काम करता है। उसकी दृष्टि के सामने जाति-भेद, सम्पत्ति-भेद और धर्म-भेद नहीं रहते, या कम से कम नहीं रहने चाहिएँ। केवल राजकीय मत-भेद के अनुसार ही उसका स्वतन्त्र संघटन होता है।

प्रातिनिधिक शासन-प्रणाली में जो अड़चनें पैदा होती हैं, उन्हें दूर करने के लिए कुछ और उपाय भी किये जाते हैं। बहुमत की प्रबलता ही लोकसत्ताक शासन-प्रणाली का मुख्य लक्षण है। ऐसी अवस्था में बहुमत से होनेवाले बखेड़ों और अत्याचारों को बचाने या दूर करने के लिए कुछ उपायों की आवश्यकता होती है। बहुमत को राज्य के कार्यों का परिचालन करने का कोई वास्तविक ईश्वरीय या नैतिक अधिकार तो होता ही नहीं। अनेक ऐसे प्रसंग भी आ पड़ते हैं जिनमें बहुमतवालों के हाथों प्रागतिक और कर्तृत्ववान अल्पमतवालों का अहित या अनिष्ट होने की सम्भावना रहती है। इसके सिवा बड़े-बड़े राज्यों में मध्यवर्ती राज्य-संस्था का स्थान बहुत दूर हुआ करता है जिससे स्थानिक प्रश्नों और सुधारों की ओर उचित ध्यान नहीं दिया जाता, क्योंकि उनके सम्बन्ध में और लोगों को कोई विशेष जानकारी नहीं होती। ऐसी अवस्था में स्थानिक प्रतिनिधियों के संघों को,

अनेक अल्प-मतवालों को और विशेष हित-सम्बन्धवाले लोगों को ऐसे विषयों का स्वयं निर्णय करने और स्वयं शासन करने का कुछ मर्यादित अधिकार देना पड़ता है जिनके साथ केवल उन्हीं लोगों का सम्बन्ध होता है। उन प्रश्नों के साथ उनका बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध होता है और वे प्रश्न होते भी उन्हीं के सम्बन्ध के हैं। उन्हीं लोगों को उन प्रश्नों की चिन्ता भी रहती है और जानकारी भी। ऐसी अवस्था में जिस विशिष्ट जन-समूह का जिन प्रश्नों के साथ बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध हो, उनके सम्बन्ध में निर्णय आदि करने का अधिकार उसी जन-समूह को दिया जाना चाहिए। तभी वे लोग स्वयं-निर्णय के ज्ञान का अनुभव करके समर्थ हो सकेंगे। पर अन्तिम निर्णय का अधिकार मध्यवर्त्ती सत्ता के ही हाथ में होना चाहिए। यदि इस प्रकार मध्यवर्त्ती राज्य-संस्था की सत्ता तथा काम प्रादेशिक, धार्मिक, औद्योगिक, जातीय और सांस्कृतिक संघों में बाँट दिये जायँगे तो फिर मध्यवर्त्ती सत्ता किसी विषय में अनुचित रूप से अपने अधिकार या निर्णय का उपयोग न कर सकेगी और उसके द्वारा अव्यापारेषु व्यापार न हो सकेगा। जिन प्रश्नों के साथ लोगों का निजी और विशेष हित-सम्बन्ध नहीं होता, उन प्रश्नों के सम्बन्ध में लोगों में सामान्यतः अज्ञान ही रहता है। इसी लिए जिन प्रश्नों के साथ जिन लोगों का विशेष सम्बन्ध हो, सबसे पहले और सबसे अधिक उन्हीं लोगों के हाथों में उन प्रश्नों के निर्णय का अधिकार देना अधिक उत्तम होता है। लोगों को अपने सार्वजनिक कार्यों की ओर ध्यान देने में प्रवृत्त करना चाहिए। नहीं तो राजकीय और सामाजिक दृष्टि से वे अकर्मण्य होने लगते हैं। राजकीय विषयों की ओर उन्हें प्रवृत्त करने के लिए उनके हाथ में राज्य-शासन चलाने की सत्ता दी जानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए कोई न कोई ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ उसे सार्वजनिक कार्यों का अनुभव हो सके।

बहुत से अधिकार इसलिए स्थानिक संस्थाओं को सौंप दिये जाते हैं कि लोकसत्ता केवल नामधारी न रह जाय और वह लोकमत के अनुसार

चले। और इस काम को Devolution of Power या अधिकारों की सपुर्दगी कहते हैं।

प्रातिनिधिक संस्थाओं में प्रत्येक नागरिक प्रत्यक्ष रीति से सम्मिलित नहीं हो सकता; इसी लिए कुछ देशों में कुछ महत्वपूर्ण विषयों में यह कहने का अधिकार दे दिया गया है कि अमुक कार्य होना चाहिए या नहीं होना चाहिए। इस योजना को लोक निर्णय (Referendum) कहते हैं। यह निर्णय नागरिकों का मत गिनकर किया जाता है। ऐसे विषयों में प्रतिनिधि सभा का कुछ भी अधिकार नहीं होता। इस प्रकार बीच-बीच में राज्य-संघटन के सुधार और दूसरे महत्व के प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से जनता के सामने रखे जाते हैं और इस सिद्धान्त का प्रत्यक्ष रूप से व्यवहार में स्थापन होता है कि जनता की इच्छा और निर्णय ही राज्य में सर्वश्रेष्ठ और सार्वभौम सत्ता है। इस प्रणाली से सभी नागरिकों में अपने प्रत्यक्ष उत्तर-दायित्व का भाव उत्पन्न होता है और वे अपने देश के राजकीय कार्यों में प्रत्यक्ष रूप से स्थान ग्रहण करके अपना निर्णायक मत दे सकते हैं। इससे उन लोगों में सार्वजनिक कामों की जानकारी पैदा होती है।

इस प्रणाली में कुछ दोष भी दिखाई देते हैं। पहला दोष तो यही है कि बहुत से नागरिक ऐसे महत्वपूर्ण विषयों पर अपना मत देते ही नहीं। दूसरा दोष यह है कि निर्वाचित किये हुए प्रतिनिधि अधिक शिक्षित, प्रगल्भ विचारोंवाले, अनुभवी और लोकहित का अधिक ध्यान रखनेवाले होते हैं; और सामान्य जनता उनकी अपेक्षा ना-समझ, पुराने विचारों की, संकुचित वृत्तिवाली और सहज में अपने पक्ष के सूत्र चालकों के हाथ में चली जानेवाली होती है। इसी लिए यह आवश्यक नहीं है कि उनका निर्णय सचमुच लोकहित करनेवाला ही हो। तीसरा दोष यह है कि इसमें प्रत्यक्ष रूप से एकत्र होकर विचार-विनिमय और दलबन्दी आदि, करने का और इन बातों से लाभ उठाने का कोई स्थान या अवसर ही नहीं रह जाता। चौथा दोष यह है कि नागरिकों के सामने मत देने के लिए जो योजना

उपस्थित की जाती है, वह सामान्यतः अंगोपांगों सहित, बिलकुल ठीक और सिद्ध कर के रखी जाती है। इससे उस योजना में कोई फेर-फार करने की जगह नहीं होती। उसके सम्बन्ध में केवल "हाँ" या "नहीं" कहना भर रह जाता है। उसकी चर्चा और जाँच करने की और उसके सम्बन्ध में कोई नई बात बतलाने की जगह ही नहीं रहती। वह जिस रूप में उपस्थित की जाती है, उस रूप में या तो उसे मान लेना पड़ता है और या उसे त्याज्य ठहरा देना पड़ता है।

एक और प्रणाली है जिसमें लोग स्वयं ही यह बतलाते हैं कि अमुक विषय में यह कानून बनना चाहिए और उसकी योजना भी स्वयं ही प्रस्तुत करके प्रतिनिधि-सभा या मन्त्रिमण्डल के पास भेज देते हैं; और जब वे लोग उसे अच्छी तरह देख लेते हैं, तब वह फिर जन-साधारण के सामने आती है और लोग उसके सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। निर्बन्ध या कानून बनाने की इस प्रणाली को जनता का निर्बन्ध-उपक्रम या Initiative कहते हैं। कुछ निश्चित संख्या के नागरिक इस प्रकार के निर्बन्धों का उपक्रम करके कोई योजना प्रस्तुत करते हैं। कुछ स्थानों में राज्य संघटन के अनुसार मतधारक संघों को यह भी अधिकार होता है कि वे अपने प्रतिनिधियों की काल-मर्यादा समाप्त होने से पहले ही यदि चाहें तो अपने प्रतिनिधियों को वापस बुला सकते हैं और उनकी जगह दूसरे प्रतिनिधि चुन सकते हैं। इस योजना को प्रत्याहरण (Recall) कहते हैं। कभी-कभी राज्याधिकारी लोग अपनी नीति निश्चित करने के लिए जन-साधारण के विचारों से परिचित होने के उद्देश्य से किसी प्रश्न के सम्बन्ध में सारी जनता का मत भी लिया करते हैं। इस प्रकार को लोकाभिप्राय (Plebiscite) कहते हैं; पर इस प्रकार जो मत प्रकट किया जाता है, वह राज्याधिकारियों के लिए बन्धनकारक नहीं होता।

चौदहवाँ प्रकरण

नागरिकों के अधिकार, कर्त्तव्य और बन्धन

उचित रूप से संघटित और प्रौढ़ राजकीय समाज को जितने अधिकार प्राप्त होते हैं और उन्हें जिन कर्त्तव्यों का पालन करना होता है, उन सब का अन्तर्भाव नागरिकता में होता है। नागरिकों के जो अधिकार और कर्त्तव्य होते हैं, वे या तो निबन्ध या कानून के अनुसार प्राप्त होते हैं अथवा राजकीय और नीति-कल्पनानुसार होते हैं अथवा सामाजिक स्वरूप के होते हैं। एक दृष्टि से तो उनका उद्देश्य यह होता है कि व्यक्तियों की रक्षा हो और उनकी स्वतन्त्रता तथा सुस्थिति बनी रहे; और दूसरी दृष्टि से उनका उद्देश्य यह होता है कि सामाजिक हित के विचार से व्यक्तियों की स्वतन्त्रता का नियन्त्रण किया जाय।

जब किसी नागरिक के स्वार्थ और समाज के हित में किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न हो, तब उसे उन दोनों में उचित सामंजस्य स्थापित करना चाहिए और अपने स्वार्थ को सारे समाज के हित की अपेक्षा गौण समझना चाहिए। उत्तम नागरिकता का यही सच्चा लक्षण है। प्रत्येक नागरिक को अपने वैयक्तिक कर्त्तव्यों का अच्छी तरह पालन करना चाहिए; और साथ ही समाज के हित के लिए जो सार्वजनिक कार्य करने आवश्यक हों, उनमें भी तत्परतापूर्वक सम्मिलित होना चाहिए। परन्तु इन अधिकारों और कर्त्तव्यों के उचित पालन और पोषण के लिए उन पर उपयुक्त नियन्त्रण भी होना चाहिए। लोगों के एक स्थान में रहकर उचित प्रकार का सहवास और सहकार करने के लिए समाज की मुख्य सत्ता द्वारा बनाये हुए नियमों की आवश्यकता होती है।

समाज को ठीक अवस्था में बनाये रखने और व्यक्तियों तथा समूहों की स्वतन्त्रता बनाये रखने के लिए सबसे पहले जो नियम बने थे, वे

अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि के रूप में थे। उन्हीं के द्वारा व्यक्तियों की प्राण-रक्षा, वित्त-रक्षा, सत्व-रक्षा, सदाचार-रक्षा और नीति-रक्षा हुई थी। प्रत्येक प्रकार के सहवास के लिए इस प्रकार के नीति-नियमों की विशेष आवश्यकता हुआ करती है। इन्हीं के द्वारा समाज अपनी ठीक अवस्था में बना रहता है, लोगों के पारस्परिक सम्बन्ध बने रहते हैं और सब काम या व्यवहार चलते रहते हैं।

मनुष्य भावनात्मक है। वह विकारों के वश में रहता है। उसकी निजी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ और ध्येय होते हैं। उन्हीं सब की प्रेरणा के कारण वह बन्धनों और मर्यादाओं को तोड़कर दूसरों के जीवन, स्वतन्त्रता, सम्पत्ति, सत्वों और सुखों पर आक्रमण करता है और अनेक प्रकार के इष्ट अथवा अनिष्ट मार्गों से आचरण करता है। तो भी उसमें नैसर्गिक रीति से समाज-भावना और शील-प्रवृत्ति रहती है; और इसी लिए जब वह बहुत से लोगों के साथ मिलकर समूह में रहने लगता है, तब धीरे-धीरे उस की समझ में यह बात आने लगती है कि स्वयं मेरे लिए भी और साथ ही दूसरों के लिए भी अनुकूल व्यवहार या आचरण कौन सा है और प्रतिकूल व्यवहार या आचरण कौन सा है। उस समय उसे इस बात की भी आवश्यकता प्रतीत होने लगती है कि समाज में सब के साथ मिलकर रहने के लिए कुछ मर्यादाएँ और बन्धन होने चाहिएँ। तात्पर्य यह कि सामाजिक जीवन की दृष्टि से जिन संस्थाओं, साधनों और विश्वासों को वह मान्य कर लेता है, उनकी रक्षा के लिए उसे नियम बनाने पड़ते हैं।

ये नियम दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के नियम तो ऐसे होते हैं जो समाज की सामान्य विवेक-बुद्धि के द्वारा उचित और उपयुक्त माने जाते हैं और वे नैतिक विश्वासों और आचारों के रूप में होते हैं; और दूसरे प्रकार के नियम ऐसे होते हैं जिन्हें राज्यसत्ता के द्वारा मान्यता प्राप्त होती है और जो ऐसे कानूनी बन्धनों के रूप में होते हैं जिनका

पालन सभी लोगों को करना पड़ता है। पहले प्रकार के नियमों को हम लोग समाज के नीति-नियमों के रूप में मानकर उनका पालन करते हैं; और दूसरे प्रकार के नियमों को राज्य-शासन अथवा निर्बन्ध के रूप में मानकर उनका पालन करते है। पहले प्रकार के नियम उपदेशात्मक होते हैं; और यदि हम उनका पालन न करें, तो हमें समाज की निन्दा, उपहास और बहिष्कार सहन करना पड़ता है। दूसरे प्रकार के नियम आदेशात्मक होते हैं; और यदि हम उन्हें न मानें तो हमें राजदंड और कारावास भोगना पड़ता है। राजसत्ता की तरह धर्मसत्ता भी तथा दूसरे कार्यात्मक और उद्योगात्मक संघ भी अपने उद्देश्यों और हितों के अनुसार अपने अनुयायियों और सभासदों के लिए नियम बनाते हैं। परन्तु वे सब नियम निर्बन्धों या कानूनों के रूप में नहीं होते। उनका आधार उस संघ का विश्वास और कार्य ही होता है। उनका पालन न करने पर दंड, प्रायश्चित्त अथवा बहिष्कार सहन करना पड़ता है। उनके कारण कुछ लोग अपनी इच्छा से अपना धर्म या व्यवसाय बदल लेते हैं। कुछ स्थानों में ऐसे संघों के नियमों को राजसत्ता का भी सहारा रहता है; अथवा ऐसी व्यवस्था होती है कि जो लोग उन्हें मान्य कर लेते हैं, उन्हें उन नियमों का पालन करना पड़ता है; और जो लोग उनका पालन नहीं करते, उन्हें दंड मिलता है।

राजसत्ता जो बन्धन प्रस्तुत करती है, वे कठोर होते हैं। वे व्यक्तियों की खुशी या इच्छा पर अवलम्बित नहीं होते। नैतिक और नैर्बन्धिक नियमों में यही मुख्य अन्तर है। प्रत्येक निर्बन्ध में कुछ न कुछ अंश न्याय-नीति का भी हुआ करता है; और यद्यपि उसे राजदंड का सहारा रहता है, तो भी उन्हें अन्त में लोकसम्मत ही होना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो लोग उसका विरोध करते हैं और राज्य में विप्लव उठ खड़ा होता है। प्रत्येक निर्बन्ध के ग्राह्य होने और समाज में उसका उपयोग होने के लिए यह आवश्यक है कि जनता उससे सहमत हो।

पहले यह निश्चित करना आवश्यक है कि प्रत्येक समाज में व्यक्ति का स्थान और मान क्या है। व्यक्तियों के गुण-दोष, स्वतन्त्रता, सामर्थ्य, रक्षण-पोषण, शिक्षा, शील, नीति-न्याय, कार-बार और कर्त्तव्य से समाज ठीक अवस्था में बना रहता है और उन्नति करता है। ऐसी अवस्था में यदि समाज के सार्वजनिक हित के लिए कुछ बन्धनों की आवश्यकता भले ही हो, पर फिर भी उसकी वृद्धि या उन्नति के लिए उसे बहुत कुछ स्वतन्त्रता होनी चाहिए और शिक्षा मिलनी चाहिए। इससे उसके गुण और सामर्थ्य में वृद्धि होती है और इससे समाज बलवान होता है। स्वतन्त्रता, सुस्थिति और प्रगति या उन्नति सभी अन्योन्यपोषक बातें हैं। व्यक्तियों का जीवन, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति चाहे स्वयं उन्हीं के उपयोग और उपभोग के लिए हों, पर फिर भी समाज की दृष्टि से वे उसके पास एक धरोहर के रूप में ही होती है और उनका उपयोग उन्हें बहुत ही जिम्मेदारी के साथ करना चाहिए। व्यक्तियों को उनका उपयोग और उपभोग करते समय यह भी समझ रखना चाहिए कि इसके लिए सामाजिक मर्यादाएँ क्या हैं और हमारे उपयोग या उपभोग का समाज पर क्या परिणाम होगा। उन्हें अपनी इन सब वस्तुओं का उपयोग मालिक के रूप में नहीं, बल्कि पालक के रूप में और समाज के हित की दृष्टि से करना चाहिए।

व्यवहार की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति के हित और स्वतन्त्रता का दूसरों के साथ सम्बन्ध होता है। इसी लिए निर्बन्ध या कानून सार्वजनिक हित की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की मनमानी स्वतन्त्रता के लिए मर्यादाएँ और बन्धन प्रस्तुत करते हैं और उन सबके सम्मिलित कल्याण के लिए उचित परिस्थितियों का निर्माण करते हैं। निर्बन्ध सदा मनुष्यों के बाह्य आचरण का नियमन करके यह दिखलाते हैं कि उचित व्यवहार या आचरण कौन सा है और त्याज्य आचरण या व्यवहार कौन सा है।

नैतिक बन्धन स्वयं अपनी आन्तरिक भावनाओं और सदसद् विवेक बुद्धि के बल पर अथवा अपने लिए आवश्यक बाह्य सुखों और सुभीतों

की आवश्यकता पर अवलम्बित रहते हैं। यदि उनका भंग किया जाय तो स्वयं अपनी सत्ता को छोड़कर और कोई दूसरी बाह्य तथा संघटित ऐसी संस्था या सत्ता नहीं होती जो दंड दे सके, प्रायश्चित्त करा सके अथवा पश्चात्ताप करा सके।

नैबंन्धिक नियम संघटित संस्थाओं और राज्यसत्ता के द्वारा बनाये हुए होते हैं। वे मनुष्यों के लिए कुछ अधिकार और कुछ कर्त्तव्य निश्चित कर देते हैं और कुछ स्वतन्त्रता देकर कुछ बन्धन भी बना देते हैं। नैबंन्धिक अधिकारों का मतलब यह है कि निबंन्ध द्वारा प्रस्थापित समाज-व्यवस्था में व्यक्ति के स्वतन्त्र व्यवहार या आचरण के लिए कुछ क्षेत्र निश्चित कर दिया जाता है। समाज की दृष्टि से व्यक्तियों की अनियन्त्रित स्वतन्त्रता न तो सम्भव ही है और न इष्ट ही; इसी लिए उसका क्षेत्र और दिशा निश्चित कर देने की आवश्यकता होती है। अधिकार मानों मनुष्य पर, वस्तुओं पर और मनुष्यों के व्यवहार पर होनेवाली सत्ता और नियन्त्रण है। मनुष्य को वह अधिकार स्वयं अपने जीवन की रक्षा के लिए और अपने वित्त तथा सम्पत्ति के अर्जन, रक्षण, वर्धन और भोग के लिए दिया जाता है। वह दूसरों के लिए प्रतिबन्धात्मक और कर्त्तव्यात्मक होता है। उन्हें यह मानना पड़ता है कि दूसरे लोगों को भी उनके जीवन, वित्त और व्यवहारों के सम्बन्ध में उसी प्रकार का और उतना ही अधिकार दिया रहता है; और वह भी उसी प्रकार दूसरों को मानना पड़ता है। इससे यह पता चलता है कि जो कुछ एक का अधिकार है, वही दूसरों का कर्त्तव्य होता है। स्वयं परस्पर व्यक्तियों में और व्यक्तियों तथा अधिकारियों में स्वतन्त्रता की मर्यादा और अधिकार-क्षेत्र निर्बन्धों के द्वारा ही निश्चित होता है।

नागरिकों के अधिकार रक्षणात्मक और पोषणात्मक होते हैं। रक्षणात्मक अधिकारों का सम्बन्ध व्यक्तियों के शरीर, प्राण, कुटुम्ब, सम्पत्ति, घर, मान और कीर्त्ति के साथ होता है। उनमें आत्म-रक्षा, विचार, संचार,

भाषण, आचार व्यवहार, लेखन, धर्म, सहवास, सहकार, सभा-सम्मेलन, सारे देश में इच्छानुसार घूमने-फिरने और रहने की स्वतन्त्रता, नियम-विरुद्ध धर-पकड़, वन्दी और कारागार-वास से छुटकारा, मतदान का अधिकार, राज्य-कार्यों में समान अंश, न्याय और निर्बन्ध की दृष्टि से समानता, व्यापार और इकरारनामे की स्वतन्त्रता, नियम-विरुद्ध कर और वलपूर्वक धन-हरण से छुटकारा या वचत, उपयुक्त न्यायालय में अपराधियों के अपराधों की ठीक समय पर जाँच आदि नागरिकों के अधिकार आते हैं।

पोषणात्मक अधिकारों में प्रत्येक मनुष्य के जीवन के लिए कम से कम बातों का समावेश होता है; और साथ ही समाज के हित की दृष्टि से इस बात का भी विचार किया जाता है कि मनुष्य कहाँ तक सत्ता, समता, सम्पत्ति, सुख आदि बातें प्राप्त और संगृहीत कर सकता है। उसमें निम्न-लिखित बातें आती हैं—प्रत्येक मनुष्य के लिए आगे बढ़ने की समान सन्धि या स्वतन्त्रता, व्यवसाय और काम करने का अवसर, काम न मिलने पर समाज की ओर से अथवा सरकार की ओर से सहायता मिलने की अपेक्षा, वृद्ध, रोगी, पंगु और अनाथ होने की दशा में वीमे के रूप में सहायता, उपजीविका के साधनों का उपयुक्त परिमाण, प्राणधारी वेतन, काम करने के घंटों का उचित परिमाण, आरोग्य की परिस्थिति, घर-बार और हवा-पानी, आरोग्य की रक्षा और औषधों के उपाय या साधन, बच्चों का उचित पालन-पोषण, स्त्रियों के प्रसव-काल की चिन्ता, प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक निश्चित सीमा तक सामान्य शिक्षा, रहने के लिए आरोग्य-पूर्ण और सुभीते के मकान, देश में सम्पत्ति का ठीक बँटवारा और सत्ता में उचित अंश।

पर इसका यह मतलब नहीं है कि इस प्रकार के अधिकार प्रत्येक राज्य में प्रत्येक नागरिक को मिलते हैं। इन सब बातों की प्राप्ति प्रत्येक देश की शासन प्रणाली और लोगों की सामर्थ्य पर अवलम्बित रहती है। सुधरे हुए देशों में सत्ताधिकारियों की नीति और सहायता से तथा दूसरी

और लोगों के आन्दोलन और राष्ट्र-संघ के प्रोत्साहन से लोगों को धीरे-धीरे इन सब बातों की जानकारी होने लग गई है; नागरिकों की पोषणात्मक बातों की ओर ध्यान दिया जा रहा है और इनके सम्बन्ध में निर्बन्धों और उपायों की योजना हो रही है। ये उपाय शिक्षा, आरोग्य, व्यवसाय, नीति और बीमे से सम्बन्ध रखनेवाले निर्बन्धों या कानूनों के रूप में काम में लाये गये हैं। इन सब अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की मर्यादा समाज के नैतिक ध्येयों और राज्य-संघटन के स्वरूप में बँधी हुई होती है। राज्यसत्ता इन नीतियों और संघटनों का उल्लंघन नहीं करने देती।

नागरिकों के लिए राज्यसत्ता की दृष्टि से भी अनेक कर्त्तव्य होते हैं। राज्यसत्ता का अधिकार और शासन मानने से ही नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रता बनी रह सकती है। सामान्यतः ये सब कर्त्तव्य इस प्रकार हैं—प्रत्येक नागरिक की अपने राज्य के प्रति पूर्ण निष्ठा, अपराधों और व्यवहार के सम्बन्ध में राज्यसत्ता के बनाये हुए निर्बन्धों की मान्यता और उनका पालन, नैर्बन्धिक कर और राज्य का प्राप्तव्य धन देना, उसका न्याय और निर्णय मानना, समाज के हित की दृष्टि से अपना मत देना, सार्वजनिक सुस्थिति, आरोग्य और स्वच्छता रखने में सहायता देना, अपने अधिकार प्राप्त करने और अपने हितों की रक्षा करने के लिए अथवा सरकारी नीति के विरुद्ध और सरकारी कार्यों के विरुद्ध राज्य के निर्बन्धों के अनुसार राज्य संस्थाओं में आन्दोलन करना, यदि देश में राज्यक्रान्ति हो अथवा अपने देश पर कोई बाहरी आक्रमण हो तो अपने देश की रक्षा के लिए देश की सेना में भरती होना, अपने राज्य से द्रोह न करना, उसकी शान्ति और सुव्यवस्था न बिगड़ने देना और उसकी आपत्ति के समय स्वार्थ-त्याग करना।

नागरिकों के लिए इन राजकीय कर्त्तव्यों के साथ-साथ कुछ सामाजिक और नैतिक कर्त्तव्य भी हुआ करते हैं। यथा—दरिद्रों, रोगियों, विपद्-

ग्रस्तों, अनाथों और पंगुओं की सब प्रकार से आर्थिक, नैतिक और शैक्षणिक सहायता करना और उनकी खबर लेते रहना। इसके अतिरिक्त उन्हें स्वयं अपने व्यवहारों में भी सहिष्णुता, सेवा-भाव, करुणा, मैत्री, स्वार्थ त्याग, परोपकार-बुद्धि, स्वतन्त्रता की इच्छा, देश-भक्ति और राज्यनिष्ठा का भी पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए।

आजकल कुछ राज्य-संघटनों में पहले से ही नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की घोषणा कर दी जाती है। इसका उद्देश्य विशेषतः यही रहता है कि राज्याधिकारी लोग सदा नागरिकों के अधिकारों का ध्यान रखें और उन पर आक्रमण न करें। बहुत से देशों में प्रायः राजा और राज्याधिकारी लोग नागरिकों के अधिकारों तथा स्वतन्त्रता को पैरों तले कुचलते हैं। इसी लिए उन्हें रोकने के उद्देश्य से राज्य-संघटन में ही कुछ निर्बन्ध या नियम रख दिये जाते हैं। यदि उन निर्बन्धों का कोई उल्लंघन करता है, तो वह अपराधी समझा जाता है और न्यायालय से उसे दंड मिलता है। नागरिकों के इस प्रकार के अधिकारों और स्वतन्त्रता की पोषक बातें इस प्रकार हैं—

(१) आजकल की लोक-निर्मित सत्ता की कल्पना और लोकतन्त्री राज्य-व्यवस्था तथा राज्य के कार्य; (२) यह विचार कि राज्य की नीति और सब कार्य निर्बन्धानुसार होने चाहिएँ; (३) निर्बन्ध और न्याय की दृष्टि से समस्त नागरिकों की समान स्थिति और अधिकार, उनमें उच्च-नीच और क्षम्याक्षम्य का भेद न करना, चाहे वे किसी वंश, धर्म या वर्ग के हों; (४) यह सिद्धान्त कि राज्यतन्त्र जनता के हित के लिए है, जनता राज्यतन्त्र के लिए नहीं है; अर्थात् राज्यतन्त्र का उदय, वृद्धि और उद्देश्य जनता के कल्याण के लिए है; (५) राज्याधिकारी भी अपने कृत्यों के सम्बन्ध में सामान्य नागरिकों की ही तरह निर्बन्ध तथा न्याय के सामने उत्तरदायी हैं। उन्हें नागरिकता का कोई विशेष अधिकार या सम्मान प्राप्त नहीं है; और यदि वे कोई अपराध करें तो उसके लिए

वे क्षमा नहीं किये जा सकते। नागरिकों के मूलभूत और समान अधिकारों तथा स्वतन्त्रता की घोषणा कर देने से जनता में आत्म-विश्वास, कार्य-क्षमता और सामर्थ्य की जानकारी होती है।

यदि ऊपर बतलाई हुई बातें हो जायँ तो नागरिक शास्त्र का उद्देश्य बहुत अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है। जिन तत्वों के अनुसार समाज में रहनेवाले व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार होने चाहिएँ, उन्हीं तत्वों को लोगों में प्रतिबिम्बित करना और सब लोगों का सामान्य कल्याण करनेवाली बातें करना ही इस शास्त्र का उद्देश्य है। जब मनुष्य अपने सब आचार और व्यवहार बिना दूसरों के आचारों और व्यवहारों में बाधा दिए करते हैं और दूसरों की उचित इच्छाओं तथा विचारों का आदर करते हैं और उनके क्षेत्रों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करते, तभी वे शान्ति और सुख से रह सकते हैं। प्रत्येक मनुष्य को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि समाज में मेरा क्या कार्य है और कौन सा स्थान है; और अपने सदाचार से दूसरों का शील बनाते हुए, स्वयं उनके लिए उपयोगी होते हुए और दूसरों के उत्तम उदाहरण से अपना आचरण और व्यवहार सुधारते हुए दूसरों के साथ मिलकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अनास्था दूर करनी चाहिए और अपने पार्थक्य या एकान्तता की वृत्ति नष्ट करनी चाहिए। तभी प्रत्येक व्यक्ति में उत्साह उत्पन्न होगा और वह अपने समाज का सच्चा और उत्कृष्ट नागरिक बन सकेगा; और तभी वह अपने आयुष्य-क्रम में दुर्बलों की सहायता करने और दुष्टों का नियमन करने का निरन्तर प्रयत्न करता रहेगा।

नागरिकों के कर्त्तव्य और अधिकार अन्योन्याश्रयी होते हैं। सच्ची नागरिकता मुख्यतः सामाजिक कार्यों और व्यवहारों में तत्परता तथा कर्तृत्वपूर्वक सम्मिलित होने में है; और इस काम के लिए अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की आवश्यकता होती है। जो नागरिक केवल अपने अधिकारों का भोग करके ही निश्चिन्त रहता है, वह स्वार्थी होता है; और जो ना-

गरिक केवल अपने कर्त्तव्यों का ज्ञान रखता है और उन्हीं का पालन करता है, वह निरुत्साही होता है। जब उसका जीवन सामुदायिक और सार्व-जनिक जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित होता है और समरस तथा सम-भागी होता है, तभी वह उदात्त और उत्साही होता है।

नागरिकों के और साथ साथ समाज के सुखकारक जीवन की दृष्टि से यह आवश्यक है कि दोनों ही के व्यवहार अच्छे हों और दोनों में ही उचित आकांक्षाएँ और आवश्यक अधिकार तथा स्वतन्त्रता हो; और उनकी सुस्थिति तथा वृद्धि की दृष्टि से उनके आस-पास की परिस्थिति ऐसी होनी चाहिए जो उनकी उमंगों के लिए प्रोत्साहक और वृद्धि के लिए पोषक हो। हमारे सारे न्याय-निर्बन्ध, नीति-धर्म, ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान का मुख्य उद्देश्य यही है कि नागरिकों और समाज का जीवन सुखी हो तथा ठीक अवस्था में बना रहे।

नागरिकों को वैयक्तिक रूप से अथवा किसी संघ को यह अधिकार नहीं है कि वह राज्यसत्ता और राज्य-शासन का विरोध कर सके; और इसका कारण यह है कि सत्ता और शासन मूलतः जनता के ही होते हैं। निर्बन्धों या कानूनों का, चाहे वे न्याययुक्त और नीतिपूर्ण हों और चाहे न हों, प्रजा को बिना किसी आपत्ति के पालन करना चाहिए। राज्यसत्ता के नियम अनियन्त्रित हुआ करते हैं। लोकसत्तात्मक राज्यतन्त्र में जनता की सम्मति से ही राज्य की नीति और सब कार्यों का परिचालन होता है और निर्बन्ध या कानून बनते हैं। इसी लिए प्रचलित सत्ता का विरोध करने का कोई नैतिक कारण या आधार नहीं उत्पन्न होता। लोगों की ही सत्ता चलती है। तो भी ऐसी राज्य-व्यवस्था में बहुमतवालों की ही प्रबल-ता होती है जिससे अल्प मतवालों की स्थिति कठिन हो जाती है। उन्हें उन निर्णयों को भी मान्य करना पड़ता है जो उनके मत के विरुद्ध होते हैं। यदि वे अपने सच्चे और नीति के विश्वासों के कारण बहुमत के प्रस्थापित किये हुए निर्णय का विरोध करते हैं तो यह निश्चित करना

पड़ेगा कि निर्बन्ध या कानून की दृष्टि से नहीं बल्कि नीति की दृष्टि से उनका वह विरोध कहाँ तक ठीक है। इतिहास में ऐसे अनेक समाजों का उल्लेख मिलता है जो अपने धर्म और संस्कृति के विचार से प्रचलित सत्ता का विरोध करते हैं। और केवल उनके अल्प-संख्यक होने के कारण ही हम यह नहीं कह सकते कि उनका धर्म, मत अथवा संस्कृति हीन और त्याज्य है। उनके विरोध के कारण बहुजन समाज पर कदाचित् कुछ आपत्ति भी आ सकती है; परन्तु केवल इसके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उनका पक्ष भ्रमपूर्ण है। यह ठीक है कि सुरक्षितता की दृष्टि से यह आवश्यक है कि देश में विप्लव न हो, और इस विचार से यह माना जा सकता है कि इस प्रकार का विरोध ठीक नहीं है; परन्तु नीति तत्व की दृष्टि से निश्चित रूप से कभी यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का विरोध ठीक नहीं है। और केवल इसी दृष्टि से आजकल के राज्य-संघटन में अल्प-मतवालों के लिए कुछ संरक्षणात्मक निर्बन्ध और नियम रहते हैं। इससे अल्प मतवालों के मत, रहन-सहन और संस्कृति की रक्षा होती है।

आजकल एक और प्रकार का मत भी उत्पन्न हो गया है। वह मत साम्यवादी पक्ष का है और राज्य की पार्लिमेण्टी प्रणाली तथा नियमानुमोदित आन्दोलनों पर उसका विश्वास नहीं है। इस मत के लोग कहते हैं कि पार्लिमेण्टी शासन-प्रणाली एक ऐसी कुटिल राज्य प्रणाली है जो सारी सत्ता और सम्पत्ति थोड़े से धनवानों के वर्ग और हाथ से काम न करनेवाले लोगों की मुट्ठी में रखती है; और इसी लिए वे ऐसी शासन-प्रणाली का विरोध और नाश करना अपना कर्त्तव्य तथा ध्येय समझते हैं। अपने इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वे लोग प्रतिनिधि मार्ग से लोक-सभा में जाकर व्यर्थ का हो हल्ला नहीं करते, बल्कि प्रत्यक्ष और स्वतन्त्र मार्ग से जनता में सार्वत्रिक हड़ताल, बहिष्कार और निरोधन आदि के द्वारा राज्यतन्त्र के सब कार-बार और व्यवहार रोक देना चाहते

हैं और उसके बल का विरोध करके राज्यक्रान्ति करना चाहते हैं। प्रचलित राज्य-प्रणाली का विरोध और अन्त करना ही उन लोगों का मुख्य सिद्धान्त है। उनका भावी कार्य क्रम यह है कि इस प्रकार प्रचलित राज्य-प्रणाली का अन्त करके हम अपने विचारों और विश्वासों के अनुसार नवीन समाज-सत्ता और उचित समाज-संघटन का निर्माण करें।

जिन देशों में अत्याचारपूर्ण और परकीय राजसत्ता होती है, उन देशों में भी नैतिक दृष्टि से जनता के सामने उस सत्ता के विरोध का प्रश्न सदा बना ही रहता है; क्योंकि इसी प्रश्न के निराकरण से समाज का हित, कल्याण और उन्नति होती है। अत्याचारपूर्ण राज्यसत्ता का विरोध करना और उसे हटाकर नवीन सत्ता स्थापित करना एक सर्वमान्य और नैतिक सिद्धान्त है। अत्याचारपूर्ण राज्यसत्ता के कारण राज्य और जनता का सच्चा संरक्षण तथा संबंध नहीं होता, बल्कि उनका नाश ही होता है और उन्नति में बाधा होती है।

इसके साथ एक नया नैतिक प्रश्न भी उत्पन्न हो गया है कि यह विरोध शान्तिपूर्ण उपायों से किया जाय अथवा इसमें बल प्रयोग भी किया जाय। नीति-तत्त्ववेत्ता, इतिहासकार और राज्यमन्त्री आदि अपनी अपनी समझ या विश्वास, परम्परा और परिस्थितियों के अनुसार इस बात का निर्णय करेंगे कि सत्ताधीश जनता पर जो आघात करते है और उन्हें जो दुःख पहुँचाते हैं, वे सब शान्तिपूर्वक सहन किये जाने चाहिएँ अथवा सत्ताधारियों को बलपूर्वक दबाकर उनका विरोध करना चाहिए। परन्तु दूसरों को न मारते हुए स्वयं अपना कार्य करते रहना और जितने दुःख, आघात और पीड़न हों, उन सब को सहन करते हुए अपना न्याययुक्त पक्ष न छोड़ना बहुत ही उच्च मानव नीति का लक्षण है। इससे अपना उद्दिष्ट कार्य चाहे जल्दी पूरा हो और चाहे न हो, परन्तु नैतिक दृष्टि से इस मार्ग में कोई दोष दिखलाना बहुत ही कठिन है। इस शान्तिमय परन्तु चढ़ाई के कार्यक्रम पर यह आक्षेप किया जाता है कि इसके कारण

देश की प्रचलित राजकीय व्यवस्था और शान्ति में बाधा होती है और प्रचलित राज्यतन्त्र तथा निर्बन्धों को धक्का लगता है जिससे लोगों में विप्लव और राजद्रोह की प्रवृत्ति बढ़ती है। इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है कि किस प्रकार की राज्यव्यवस्था, कैसे निर्बन्धों अथवा राज्य के किस प्रकार के कार्यों के विरुद्ध और कैसे अवसरों पर विरोध का यह अन्तिम और चरम सीमा का कठोर मार्ग ग्रहण करना चाहिए। पर यह कहना कभी युक्तिसंगत और न्यायपूर्ण नहीं है कि यह मार्ग बिलकुल त्याज्य ही है। आजकल जो देश बहुत प्रसिद्ध और आगे बढ़े हुए हैं, उनमें जिस समय अनियन्त्रित और लोकविरोधी राज्य-प्रणाली प्रचलित थी, उन दिनों वहाँ लोगों ने बड़े बड़े विद्रोह और क्रान्तियाँ की थीं। इसके लिए उन लोगों ने साम, दाम, दंड और भेद आदि सभी उपायों का और मुख्यतः बल तथा चातुर्य का उपयोग किया था। उनका मार्ग कठोर, रक्तपात का और कभी कभी अनीतिपूर्ण भी हुआ करता था। तो भी उनके वे कार्य और मार्ग मान्य हुए; और उनसे जो क्रान्तियाँ हुईं, वे आजकल बहुत महत्त्व की समझी जाती हैं और सम्मान की दृष्टि से देखी जाती हैं। और इसका कारण यही है कि उन्हीं क्रान्तियों से उन देशों में लोकसत्तात्मक राज्य-प्रणाली का निर्माण हुआ है और राजाओं तथा राज्याधिकारियों की मन-मानी का अन्त हुआ है। इसी लिए जो राज्य-व्यवस्था स्वार्थी हो, जनता के सामने उत्तरदायी न हो अथवा अत्याचार करती हो, उसे बदलना अत्यन्त आवश्यक है; और उसके बदलने के तीन मुख्य मार्ग हैं। एक तो साम का या नियमानुमोदित अथवा वैध; दूसरा दंड का, परन्तु द्रोह का; और तीसरा सत्याग्रह का, परन्तु शान्ति का। इनमें से अन्तिम दोनों उपाय राज्यक्रान्ति करनेवाले हैं। अत्याचारपूर्ण और स्वार्थी सत्ता का विरोध होना चाहिए और वह उलट दी जानी चाहिए। परन्तु इस बात का निर्णय धुरीणों की प्रवृत्ति के अनुसार और देश की परिस्थिति तथा परम्परा के अनुसार होगा कि इनमें से कौन सा मार्ग श्रेयस्कर और सफलता प्राप्त करानेवाला है।

जहाँ लोकसत्तात्मक राज्य-व्यवस्था हो, वहाँ साम का मार्ग ही श्रेयस्कर है; पर जहाँ की सत्ता स्वार्थी हो और राज्य के सब कार्य अनियन्त्रित रूप से होते हों, वहाँ इस प्रकार के सौम्य मार्ग का अवलम्बन करना पागलपन का और व्यर्थ है। क्रान्ति का मार्ग चाहे कठोर और द्रोहपूर्ण हो, तो भी वह देश को सुधारने और सामर्थ्यवान करने के लिए अन्तिम औषध है; और इसी लिए राज्यनीतिशास्त्रकारों ने इसे आवश्यक और न्यायपूर्ण माना है। उसका उपयोग प्रत्येक राष्ट्र ने अपने इतिहास में किया है। ज्योंही पुरानी अत्याचारपूर्ण राज्य व्यवस्था बदले और नई लोकसत्तात्मक राज्य-व्यवस्था प्रचलित हो, त्यों ही लोगों को व्यावहारिक, नियमानुमोदित या वैध आन्दोलन का साम मार्ग ग्रहण करना चाहिए। उन्हें अपने निर्बन्धों और शासन का पालन करना चाहिए; और यदि उनमें किसी प्रकार का परिवर्त्तन करने की आवश्यकता हो तो लोक सभा के द्वारा लोकमत को अपने अनुकूल कर के और अधिकृत मार्ग से करना चाहिए। छोटी छोटी बातों के लिए निर्बन्धों और शासन तोड़ने या उनका अन्त करने का प्रयत्न करने की आदत लोगों को नहीं लगनी चाहिए। यदि लोगों को ऐसी आदत लग गई तो फिर राज्य में किसी प्रकार की व्यवस्था न ठहर सकेगी और न कभी शान्ति ही स्थापित हो सकेगी। परन्तु कठिन अवस्था में अन्तिम मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिए। यह आवश्यक नहीं है कि सब प्रकार के नियमों का पालन करना सदा सात्विक ही हो। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं है कि किसी प्रकार के नियमों को तोड़ना सदा तामसिक ही हो। नियमों का महत्व समझकर ही आचरण और व्यवहार करना पड़ता है। जब शान्तिपूर्ण और समझाने-बुझाने के और विनती-प्रार्थना करने के सभी मार्ग विफल हो जायँ और आन्दोलन करनेवाले लोग थक जायँ, तब सामर्थ्य और विरोध के कठिन मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। प्रचलित शासन की दृष्टि से तो विरोध चाहे जब किया जाय, वह द्रोहात्मक ही होगा। परन्तु नीति और भावी सुख

की दृष्टि से वह ग्राह्य है। प्रचलित राज्य-शासन और निर्बन्ध कुछ नीति और सुख का पूर्ण स्वरूप नहीं हैं। उनका मूल्य या महत्त्व स्थल, काल और कार्य के अनुसार और अनुभव के आधार पर बदलता रहता है। उनसे भी बढ़ कर और श्रेष्ठ कोटि के शासन और निर्बन्ध होते हैं और हो सकते हैं।

यहाँ एक और प्रश्न का भी विचार कर लेना चाहिए। और वह प्रश्न यह है कि स्वराज्य की तुलना में पर-राज्य कैसा होता है और उसका कितना महत्व है।

पर-राज्य कुराज्य भी हो सकता है और सुराज्य भी। यदि वह कुराज्य हो तो उसका अन्त करना सभी दृष्टियों से न्यायपूर्ण और नीति-संगत है। यदि पर-राज्य स्ववश और स्वार्थवश हो तो उससे राज्य का सच्चा उद्देश्य और कार्य कभी पूरा नहीं हो सकता। उसमें लोगों का सच्चा हित, अधिकार और स्वतन्त्रता कभी बनी नहीं रह सकती। उससे सब प्रकार की दुर्दशा ही होती है। उसमें प्रजा का संरक्षण तो होता नहीं, उलटे उन पर जुल्म और जबरदस्ती होती है और उनके धर्म, अर्थ, काम और सुख का नाश या हानि होती है।

कुछ लोग यह प्रश्न भी उठाते हैं कि पर-राज्य यदि सुराज्य हो तो भी क्या वह स्वराज्य से बढ़कर और अच्छा है? परन्तु यह बात तो सभी लोग मानेंगे कि स्वराज्य यदि सुराज्य हो तो फिर वही श्रेयस्कर है। ऐसी अवस्था में दो ही प्रकारों या अवस्थाओं के सम्बन्ध में प्रश्न रह जाता है। एक तो पर-राज्य यदि सुराज्य हो; और दूसरे स्वराज्य यदि कुराज्य हो तो कैसा है?

आजकल लोगों की प्रवृत्ति लोकसत्तात्मक शासन-प्रणाली की ओर ही अधिक है; इसलिए पर-राज्य चाहे जैसा हो, वह मान्य नहीं समझा जाता। आजकल स्वराज्य ही मान्य होता है, फिर चाहे वह जैसा हो। और इसका कारण यही है कि आरम्भ में पर राज्य भले ही अमृत के समान जान पड़े,

पर अन्त में वह विष के ही समान होता है। पर-राज्य का परिचालन मुख्यतः राज्य करनेवालों के स्वार्थ के लिए ही होता है। उसमें देश की जनता को राज्यतन्त्र और राज्य के कार-बार में सम्मिलित होने का न तो पूरा अवसर ही मिलता है और न पूरी स्वतन्त्रता ही होती है। साथ ही उसमें जनता के गुणों का भी ह्रास और नाश होता है। राज्य-कर्त्ताओं के विचार और हित सदा जनता के विचारों और हितों के विरुद्ध हुआ करते हैं। पर-राज्य सदा बलपूर्वक लोगों पर लादा जाता है और वह जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसमें लोगों की स्वतन्त्रता और सामर्थ्य को प्रोत्साहन और सहायता नहीं मिलती। पर-राज्य के कारण लोगों का शील नष्ट होता है, उत्साह भंग होता है और देश में स्वार्थी तथा देशद्रोही लोगों की वृद्धि होती है। देश में उत्तरदायित्वहीन सैनिकों, रक्षकों, दंड-नायकों और नौकरशाही की प्रबलता तथा प्रभुत्व बढ़ता है और नवीन आर्थिक तथा राजकीय स्वार्थी वर्गों की सृष्टि होती है। विदेशी व्यापारियों, उद्योग-धन्धेवालों, देश में बाहर से आकर बस जानेवालों और धर्मोपदेशकों के विशेष हित तथा व्यवसाय देशी व्यवसायों और आकांक्षाओं का विरोध करते हैं। वे सब राज्य का सच्चा हेतु और सच्चा कल्याण भूलकर सारी राज्य-शक्ति का उपयोग स्वयं अपने लाभ और अपनी स्थिरता के लिए करते हैं और वहाँ के स्वराज्य, स्वदेशी और सुराज्य के विरोधी तथा आक्षेपक बनते हैं।

यह कहीं देखने में नहीं आता कि पर-राज्य केवल देश की जनता के हितों के लिए ही परिचालित होता हो। ऐसी अवस्था में इस प्रकार के काल्पनिक पर-राज्य का विचार करना वास्तविकता से दूर जाना है। और यदि इस प्रकार का विचार किया ही जाय तो उसका उदात्त हेतु यही होना चाहिए कि पर-राज्य जल्दी हटा दिया जाय और पूर्ण रूप से स्वराज्य की स्थापना की जाय। लोगों को राज्य के समस्त कार्यों का संचालन स्वयं करने देना चाहिए। राज्य के सब कार्य स्वयं करने से ही अनुभव

तथा योग्यता प्राप्त होती है। जब मनुष्य पर इस प्रकार के कार्यों का उत्तरदायित्व आ पड़ता है, तभी उसे ज्ञान और कौशल प्राप्त होता है। स्वार्थी और परकीय राज्यकर्त्ता यह नहीं समझ सकते कि लोगों को कब स्वराज्य देना चाहिए; और यदि उनकी समझ में यह बात आ भी जाय तो भी उनके लिए इस प्रकार स्वराज्य के अधिकार देना स्वाभाविक नहीं है। संसार का इतिहास हमें यही बतलाता है कि परकीय राज्यकर्त्ता मालिक बनकर तो कभी प्रजा का ठीक ठीक हित और कल्याण कर ही नहीं सकते, पर मालिक के नाते से भी वे कभी ऐसा नहीं कर सकते। उनमें और जनता में अपने अपने हित और मार्ग के विचार अलग अलग हुआ करते हैं।

स्वराज्य प्रत्येक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक राष्ट्र का जन्मसिद्ध अधिकार है; और वह स्वराज्य प्रत्येक उपाय से प्राप्त किया जाना चाहिए। नहीं तो उसकी संस्कृति और सुख का ह्रास होगा।

आजकल साम्राज्य की कल्पना और व्यवस्था त्याज्य समझी जाती है। सभी जगहों में और प्रत्येक राष्ट्र के निवासी स्वतन्त्र होना चाहते हैं और साम्राज्य की श्रृंखलाएँ तथा बन्धन तोड़ रहे हैं। आजकल उन लोगों का यही ध्येय और कार्य हो गया है कि अपने यहाँ की शासन-व्यवस्था और राजकीय कार्यों में विदेशियों का हाथ न रहने पावे। जो साम्राज्य अथवा राज्य बलपूर्वक स्थापित किया जाता है, उसके लिए राजनीति शास्त्र और उच्च राज्यनीति में कोई स्थान नहीं है, क्योंकि उसमें स्वतन्त्र और समान नागरिकता और नागरिकों की कोई गुंजाइश नहीं होती।

राज्यसत्ताधारी कहा करते हैं कि हमारी सत्ता कानून के अनुसार प्रस्थापित हुई है; और यदि उनकी उस सत्ता के विरुद्ध कोई व्यक्ति आन्दोलन करके उसके प्रति द्वेष, तिरस्कार अथवा अप्रीति उत्पन्न करता है अथवा करने का प्रयत्न करता है, तो वे उसे राजद्रोही ठहराते हैं। राज्यसत्ता चाहे जैसी हो, पर जो लोग उसमें राज्य का शासन करते हैं और सब

कार-वार चलाते हैं, उन अधिकारियों और प्रतिनिधियों के कृत्यों और नीति के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करना अन्याय नहीं है। यदि राज्य के सघटन मे परिवर्त्तन करने के लिए जनता आन्दोलन करे तो वह नीति और कानून के विरुद्ध नहीं है। जो राज्याधिकारी, राज्य-प्रतिनिधि और राज्य-सेवक अन्दर और वाहर से राज्य-संघटन के परिवर्त्तन के विरुद्ध प्रयत्न करते हों, उनकी नीति, कारंवाइयों और कृत्यों के सम्बन्ध में निषेध या विरोध करना और उनके कृत्यों को सारे संसार के सामने लाना जनता के नेताओं और सामान्य जनता का सच्चा काम और सच्ची राजनीति है। जो लोग इस प्रकार के आन्दोलनों को दवाने का प्रयत्न करते हों, वे राजद्रोही और जनताद्रोही समझे जाने चाहिएँ। यदि ऐसा न होगा तो फिर कोई राजकीय आन्दोलन या प्रयत्न सम्भव और सफल न हो सकेगा। प्रस्तुत शासक वर्ग के कृत्यों और राज्य-संघटन को राज्यसत्ता का अवाधित अधिपद दिलाने का प्रयत्न करना अन्याययुक्त और अत्याचारपूर्ण होगा।

शासन-व्यवस्था तभी धर्म्य (Constitutional कही जा सकती है, जब उसके शासक वर्ग अथवा अधिकारी वर्ग के कृत्यों की प्रणाली और नीति के लिए कुछ मर्यादा और नियन्त्रण हो। शासकवर्ग को अन्त में जनता के सामने ही उत्तरदायी होना चाहिए। यदि ऐसा न हो तो वह व्यवस्था कभी धर्म्य और न्याय-संगत नहीं हो सकती। इसी प्रकार यदि वह व्यवस्था विदेशियों के सामने उत्तरदायी हो अथवा स्वदेशियों में से ही केवल थोड़े से लोगों के सामने उत्तरदायी हो, अथवा उसके उद्देश्य का स्वरूप संकुचित हो तो उसे जारी रखना भी कभी धर्म्य नहीं है। उसे वदल डालना ही न्याय-संगत है। उसका उद्देश्य, नीति और रचना व्यापक स्वरूपवाली और वहुजन-सम्मत होनी चाहिए। तभी लोगों के मन में उसके प्रति आदर रहेगा और वह धर्म्य माना जायगा और राज्य का काम शान्ति, मेल-जोल और विचार-विनिमयपूर्वक होगा। यदि सामान्य जनता की आकांक्षाएँ प्रौढ़ होंगी और शासकवर्ग की नीति स्वार्थपूर्ण होगी तो राज्य में असन्तोष और विरोधक

आन्दोलनों की वृद्धि होगी। जब जनता यह समझने लगती है कि शासन-व्यवस्था का उद्देश्य और कार्य अन्याययुक्त और स्वार्थपूर्ण है, तब उसका वह सहारा और आधार नष्ट हो जाता है जिसका रहना सत्ताधारियों के लिए आवश्यक होता है; और तब उनका अस्तित्व तथा सब कार-बार केवल सैनिक सत्ता के भरोसे चलते हैं। उस अवस्था में उनके कार्यों का प्रकट और स्पष्ट स्वरूप नष्ट हो जाता है और उनकी सब कारंवाइयाँ गुप्त रूप से होने लगती हैं और उनकी कार्य प्रणाली गौण हो जाती है। जब तक लोकसत्ता का अधिष्ठान मान्य न हो और लोगों की सम्मति तथा स्वीकृति प्राप्त न हो, तब तक शासक वर्ग का कार-बार और राज्य-संघटन कभी धर्म्य और न्यायसंगत नहीं रह सकता। अधिकारी वर्ग अपना हठ बनाये रखने के लिए जो कड़े-कड़े कानून बनाते हैं और आज्ञाएँ प्रचलित करते हैं, वे कभी न्याय्य पद तक पहुँच ही नहीं सकतीं। उनके विरुद्ध जो आन्दोलन किया जाय, वह कभी अवैध या नियम-विरुद्ध माना ही नहीं जा सकता; क्योंकि जो शासन व्यवस्था और राज्य सम्बन्धी कार बार जनता पर अन्याय करके और बिना उसकी सम्मति या स्वीकृति के चलाया जाता है, वह कभी धर्म्य माना ही नहीं जा सकता।

शासन-व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य यही देखना है कि राज्य के सब कार्य किस प्रकार लोगों के द्वारा सुगमतापूर्वक और सुखकारक हो सकते हैं। उसका यह उद्देश्य कभी नहीं है कि लोगों को उन सब कामों से बिलकुल अलग और अलिप्त रखा जाय। इसके लिए लोगों में एकता, मेल जोल और सहकारिता के भावों और सार्वजनिक तथा राष्ट्रीय हित-बुद्धि की आवश्यकता होती है। यदि उन्हें अपनी जाति, धर्म अथवा स्थान का ध्यान होगा और देशहित सम्बन्धी पालक बुद्धि और उत्तरदायित्व की वृत्ति न होगी, तो स्वराज्य के मार्ग में बाधाएँ खड़ी होंगी और वे अपने कार्य तथा उद्देश्य सिद्ध न कर सकेंगे। यदि नागरिकों को अधिकार और स्वतन्त्रता दे दी जाय तो उनमें उत्तरदायित्व की वृत्ति उत्पन्न होती है,

और अनुभव प्राप्त होता है। इससे उनमें सामर्थ्य और कर्तृत्व की वृद्धि होती है। इसलिए जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रता की रक्षा करना राज्यतन्त्र का एक विशेष कार्य है। और यह कार्य उसका न्यायकारी अंग ही कर सकता है।

नागरिकों के अधिकार और स्वतन्त्रता तथा न्यायालयों, न्यायाधीशों और न्यायदान प्रणाली में बहुत ही निकट सम्बन्ध है। न्यायालय की सुलभता, न्यायाधीश की स्वतन्त्रता, न्यायदान-प्रणाली की निष्पक्षता और तत्परता तथा न्याय की निर्भीकता पर ही नागरिकों के अधिकार तथा स्वतन्त्रता बहुत कुछ अवलम्बित रहती है। नहीं तो अत्याचारी कर्मचारी, उद्दंड अधिकारी और शहरों के गुंडे तथा धनवान लोग अपनी कार्रवाइयों, सत्ता और आक्रमण से नागरिकों पर अत्याचार करके अपने दुष्कृत्यों को पचा या छिपा सकते हैं। उनके अपराधों पर न्यायालयों और उनमें होनेवाले उचित न्याय का ही नियन्त्रण हो सकता है। न्याय करनेवाली सत्ता सदा कार्यकारी सत्ता से स्वतन्त्र होनी चाहिए। न्यायालयों के न्यायाधीश स्वतन्त्र, प्रामाणिक और दबंग होने चाहिएँ। उनकी नियुक्ति और पद-च्युति पर कार्यकारी सत्ता का अनिष्ट अधिकार नहीं होना चाहिए। तभी वे लोगों के साथ उचित न्याय करके उनकी स्वतन्त्रता की ठीक तरह से रक्षा कर सकेंगे। न्यायालयों और न्यायाधीशों के अधिकारों और न्याय-प्रणाली का निर्णय लोक-सभा के निर्बन्धों या कानूनों से ही होना चाहिए। और सब लोगों के साथ उन कानूनों का सामान्य रूप से उपयोग होना चाहिए। विशिष्ट शासक वर्ग अथवा विशिष्ट अपराधियों की उससे बचत नहीं होनी चाहिए। कानून निश्चित स्वरूपवाले और सब के लिए समान होने चाहिएँ। विशेष न्यायाधीशों और विशेष न्यायालयों के काम अधिकारियों के लिए अथवा विशिष्ट अपराधों के लिए कार्यकारी मंडल के अधिकार से और सरसरी तौर पर नहीं होने चाहिएँ। कार्यकारियों के हाथ में न्याय का काम नहीं होना

चाहिए। उन्हें पुलिस अथवा न्यायाधीश का काम नहीं करना चाहिए। न्यायालय ही नागरिकों की स्वतन्त्रता का अन्तिम आधार है। हर दो आदमियों के झगड़े में वही सच्चा न्याय कर सकते हैं। जब उनकी न्याय-प्रणाली प्रकट, निश्चित, प्रामाणिक और निष्पक्ष होती है, तभी जनता समझती है कि हमारा अधिकार और स्वतन्त्रता रक्षित है; और तभी सामान्य नागरिकों का जीवन बिना किसी प्रकार के कष्ट या संकट के व्यतीत होता है।